मूरख हृदय न चेत

सीता निर्वासन एवं शम्बूक वध सही

चित्रकूटस्थ-तुलसीपीठाधीश्वर-स्वामिश्रीरामभद्राचार्य-पक्षधरखण्डन

लेखक

श्रीभागवतानंद गुरु

आर्यावर्त सनातन वाहिनी 'धर्मराज' के सौजन्य से प्रकाशित

NOTION PRESS

NOTION PRESS
India. Singapore. Malaysia.
ISBN xxx-x-xxxxx-xx-x

First Published – 2022

This book has been published with all reasonable efforts taken to make the material error-free after the consent of the author. No part of this book shall be used, reproduced in any manner whatsoever without written permission from the author, except in the case of brief quotations embodied in critical articles and reviews. The Author of this book is solely responsible and liable for its content including but not limited to the views, representations, descriptions, statements, information, opinions and references ["Content"]. The Content of this book shall not constitute or be construed or deemed to reflect the opinion or expression of the Publisher or Editor. Neither the Publisher nor Editor endorse or approve the Content of this book or guarantee the reliability, accuracy or completeness of the Content published herein and do not make any representations or warranties of any kind, express or implied, including but not limited to the implied warranties of merchantability, fitness for a particular purpose. The Publisher and Editor shall not be liable whatsoever for any errors, omissions, whether such errors or omissions result from negligence, accident, or any other cause or claims for loss or damages of any kind, including without limitation, indirect or consequential loss or damage arising out of use, inability to use, or about the reliability, accuracy or sufficiency of the information contained in this book.

All Rights Reserved – Author

मूरख हृदय न चेत

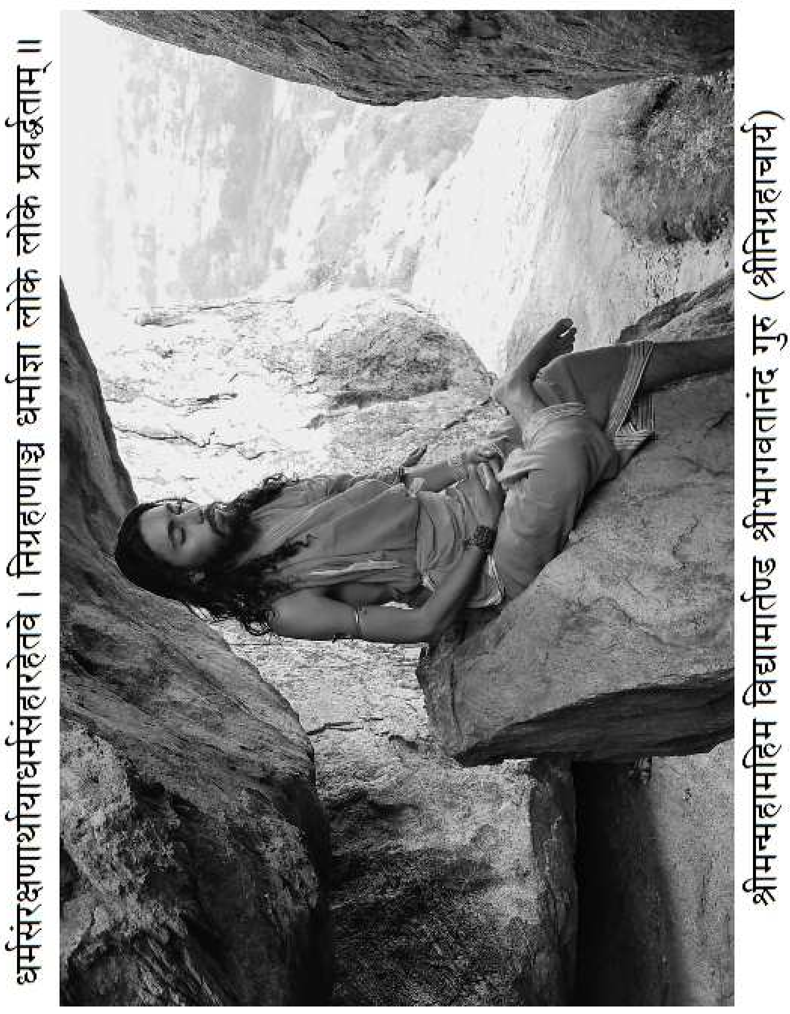
सीता निर्वासन एवं शम्बूक वध सही

चित्रकूटस्थ-तुलसीपीठाधीश्वर-स्वामिश्रीरामभद्राचार्य-पक्षधरखण्डन

लेखक
श्रीभागवतानंद गुरु

आर्यावर्त सनातन वाहिनी 'धर्मराज' के सौजन्य से प्रकाशित

NOTION PRESS


धर्मसंरक्षणार्थायाधर्मसंहारहेतवे । निग्रहणाख्य धर्माज्ञा लोके लोके प्रवर्द्धताम् ॥
श्रीमन्महामहिम विद्यामार्तण्ड श्रीभागवतानंद गुरु (श्रीनिग्रहाचार्य)

विषय सूची

*_*_*

शास्त्रज्ञ विद्वज्जनों के आशीर्वचन

(०१)

॥श्रीमते रामानुजाय नमः ॥ ॐ ॥श्रीवादिभीकरमहागुरवेनमः ॥

श्रीमद्भागवतानन्दो निग्रहाचार्यसन्मतिः ।
शास्त्रसंरक्षणे लग्नो नित्यं विजयतेतराम् ॥०१ ॥
शास्त्राणि सर्वाणि दिशन्तु तुभ्यं श्रुतिस्मृतीनामवनाय शक्तिम् ।
वाणी त्वदीया जयताज्जगत्यामित्येव याचे प्रभुकोसलेशम् ॥०२ ॥
शक्तेरुपासनपरं श्रुतिशास्त्रनिष्ठं शास्त्रावगाहनपरं यमिनं युवानम् ।
प्रक्षिप्तवादिकरिकुम्भमलं विभेत्तुं सन्मङ्गलैरतितरामभिवर्धयेऽहम् ॥०३ ॥
यद्युक्तिमानैरभिभूतचित्ता विपश्चितो वेदविदां वरिष्ठाः ।
परम्प्रशंसन्ति विचक्षणं यं स निग्रहाचार्यवरः प्रजीयात् ॥०४ ॥
धन्यास्ति साद्य जननी जनकोऽपि धन्यो याभ्याङ्गृहीतजनिरेष परस्तपस्वी ।
गर्जत्ययम्प्रतिपलम्प्रतिवादिसिंहो गोमायुतामुपगतोऽतथशास्त्रचक्षुः ॥०५ ॥
श्रीमद्भागवतानन्दो गुरुर्वेदविदांवरः ।
शास्त्रं सम्पोषयन्धीमाञ्जीयात् साग्रशतं समाः ॥०६ ॥

(प्रक्षिप्तवादिनां कृते)

मतं स्वच्छन्दोजङ्कुकविकुलकण्ठागतरुतं
कुतर्कोत्थम्भ्रष्टम्भ्रमजनितवाचापलपितम् ।
श्रुतीनाम्प्राज्ञानामनभिमतमेवास्त्यतितरां
स्वयुक्त्या शक्त्या वा परमुखपिधानन्नहि मतम् ॥०७ ॥

भावसारार्थ - अच्छी मति वाले निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद सदैव शास्त्र की रक्षा में लगे रहकर (अन्य विपक्षियों पर) विजयी होते हैं। तुम्हारे लिए सभी शास्त्र वेद-स्मृतियों के संरक्षण की शक्ति प्रदान करें। तुम्हारी वाणी विश्व में विजयिनी हो, ऐसी श्रीकोसलेशप्रभु से याचना है। शक्तितत्त्व की उपासना में रत, वेदशास्त्र में निष्ठा रखने वाले, शास्त्रों के

अवगाहन में तत्पर, संयमशील युवा, प्रक्षिप्तवादी गजों के मद का नाश करने हेतु (ग्रन्थकार का) उत्तम मङ्गल के साथ अभिवर्द्धन करता हूँ। जिनकी सद्युक्तियों से अभिभूत चित्त वाले वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्यजन भी जिन विवेकी विद्वान् की बहुत प्रशंसा करते हैं, वे निग्रहाचार्यवर्य प्रकृष्टता से विजयी हों। वह माता आज धन्य है, वह पिता भी धन्य हैं, जिनके माध्यम से ऐसे श्रेष्ठ तपस्वी का जन्म हुआ है। प्रतिवादियों के लिए यह सिंह के समान प्रतिपल गर्जना करते हैं, जिसे सुनकर तथाकथित शास्त्रचक्षु (शास्त्रज्ञ के रूप में प्रसिद्ध किन्तु शास्त्रज्ञान से हीन) जन शृगालत्व को प्राप्त कर जाते हैं (सिंहनाद को सुनकर सियारों के समान छिप जाते हैं)। श्रीभागवतानंद गुरु वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ हैं। शास्त्रों का सम्पोषण करते हुए ये बुद्धिमान् सौ वर्षों से भी अधिक आयु तक जीवित रहें।

(प्रक्षिप्तवादियों के निमित्त)

कुकवियों के कण्ठ से निकला हुआ, कुतर्क से उत्प्रेरित, भ्रष्ट, भ्रमयुक्त वाणी से प्रलाप किया गया, प्रबुद्ध श्रुतियों के सिद्धान्त से विरोध करने वाला मत स्वच्छन्द है। मात्र कल्पित युक्ति या शक्ति से दूसरे के मुख को बन्द कर देने को ही शास्त्रीय मत नहीं कहा जाता है।

श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीस्वामी वासुदेवाचार्य 'विद्याभास्कर' जी महाराज
श्रीकोसलेशसदन, श्रीअयोध्याधाम

(०२)
रामभद्र और विद्वज्जन

कुछ अरसे से सन्त रामभद्र और शास्त्रज्ञ वर्ग में वृथा विवाद जारी है। इसका अन्त शीघ्र होना चाहिये। दोनों तो तत्वनिष्ठ माने गये हैं। रामभद्रजी को मेरी शुभकामनाएँ प्रेषित हैं। सन्त वेष में होने से एवं रामप्रिय तुलसीपीठ के अधिष्ठाता होने से भी रामभद्रजी को तुलसी पीठ पर पण्डितों को सादर बुलाकर उन्हें यथोचित सम्मान देना चाहिये। विवाद धर्म और अधर्म के बीच नहीं है। वहीं विवाद है जहाँ सामञ्जस्य ही सन्तों को वाञ्छित है। उत्तरकाण्ड यदि प्रक्षिप्त हो तो प्रक्षेपक ने अपना नाम और परिचय क्यों नहीं दिया। अपनी प्रसिद्धि हर व्यक्ति चाहता है, प्रक्षेपक को अपना पूरा परिचय देने से प्रतिष्ठा बढ़ती, फिर

भी उसने नहीं दिया। यह तथ्य विशाल सन्दर्भ उत्तरकाण्ड की मौलिकता में बड़ा प्रमाण है। किसी भी प्रक्षेप में भाषागत, भाषाशैलीगत, विषयगत एवं कालगत विशेषतायें होती हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में ऐसा कुछ भी उपलब्ध नहीं है। श्रीभागवतानन्द की लिखी पुस्तक 'मूरख हृदय न चेत' सराहनीय है। यहाँ "विद्या विवादाय" उक्ति चरितार्थ हो रही है। "काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" इस सूक्ति को चरितार्थ करने में रामभद्रजी को पहल करके अपने साधुवेश का सम्मान बढ़ाना चाहिये। हर विरोध का समाधान ढूंढ़ना सन्तों का लक्षण है। रामभद्रजी अपने वेश की प्रतिष्ठा बढ़ायें।

डॉ० विन्ध्येश्वर पाण्डेय 'विष्वक्सेनाचार्य' जी महाराज
विद्यावारिधि, न्याय-व्याकरणाचार्य
भू०पू० प्राचार्य, सं०म०वि० – झलोखर, हमीरपुर

(०३)

! वादे वादे जायते तत्त्वबोधः !

सनातन धर्म के सिद्धांतों एवं ग्रंथों के अनुसार ही हम अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यदि इन ग्रंथों के किसी भी प्रसंग को प्रक्षिप्त कहकर उसे नकार दिया जाए तो उस प्रसंग के साथ-साथ ग्रंथ की भी सार्थकता समाप्त हो जाती है अर्थात् 'प्रक्षिप्त रूपी दंड सर्वत्र प्रहार नहीं कर सकता'। भगवदवतार वेदव्यास जी ब्रह्मसूत्र (उत्तर मीमांसा) में "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र के माध्यम से आज्ञा दे रहे हैं कि परमात्मा को शास्त्र से जानना चाहिए, तर्क से नहीं क्योंकि तर्क अस्थायी होता है *"तर्कोऽप्रतिष्ठानात्"।

जगद्गुरु रामानंदाचार्य श्रीरामभद्राचार्यजी कहते हैं, उन्हें ऋग्वेद से लेकर हनुमान चालीसा पर्यंत सब कुछ कंठस्थ है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि उनको रामचरितमानस के साथ साथ गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज के द्वारा रचित अन्य ग्रंथ भी कंठस्थ होंगे परंतु उनके द्वारा रचित भ्रामक ग्रंथ "सीता निर्वासन और शम्बूक वध नही" के द्वारा यह प्रतीत होता है कि तुलसी पीठाधीश्वर कहलाने वाले श्रीरामभद्राचार्यजी ने गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के ग्रंथों का भी अवलोकन नहीं किया है। कहा गया है-

"मानाधीना हि मेयसिद्धिः। यत्र प्रमाण नास्ति तद्वस्तु नास्ति।"

गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा रचित "गीतावली" ग्रंथ के उत्तरकांड प्रकरण में सीता जी का निर्वासन स्पष्ट रूप से वर्णित है। यथा-

संकट सुकृत को सोचत जानि जिय रघुराउ।
सहज द्वादश पंचशत में कछुक है अव आउ॥
भोग पुनि पितु आयु को सोउ किए बनै बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहि और अनघ उपाउ॥

एवं

राम विचारि के राखी ठीक दै मन माहिं। लोक बेद सनेह पालत पल कृपालहिं जाहिं॥

एवं

आइ लषन लै सौंपी सीय मुनिसहि आनि। नाइ सिर रहे पाइ आसिष जोरि पंकजपानि।

इत्यादि प्रमाणों से सीता निर्वासन सिद्ध है। मानस में गोस्वामी जी कह रहे हैं-

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भए रूप गुन सील घनेरे॥

अर्थात् भरत लक्ष्मण शत्रुघ्न के दो दो पुत्र हुए। गोस्वामी जी को इसी प्रसंग में लिखना चाहिए था की श्रीरामजी के भी दो पुत्र हुए परंतु गोस्वामी जी ने लिखा -

दुइ सुत सुंदर सीता जाए। लव कुस बेद पुरानन्ह गाए।

अर्थात् श्रीराम जी के द्वारा पुत्र पालन का कार्य ना होकर सीता जी के द्वारा ही पितृत्व कार्य संपादित हो रहा है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सीता निर्वासन प्रक्षिप्त विषय नहीं है। इस विषय को श्रीमन्महामहिम विद्यामार्तंड श्रीभागवतानंद गुरु (श्रीनिग्रहाचार्य) जी ने अपने ग्रंथ "मूरख हृदय न चेत" में प्रमाणिकता के साथ विस्तृत रूप से वर्णित किया है। जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। तुलसी पीठाधीश्वर जी से भी यही निवेदन है कि इस विषय पर हठधर्मिता का त्याग कर "तुलसी पीठ" की गरिमा को बढ़ाएं।

शुभेच्छु

आज्ञा से -
उ०पी०ज०गु०रा० स्वामी कृष्णाचार्य जी महाराज
ऋषिकेश

(०४)

वर्तमान परिस्थिति में शास्त्रज्ञ, शास्त्रनिष्ठ विद्वानों का अभाव सा हो गया है। किञ्चित् भी नहीं है, ऐसा मानना तो अज्ञता ही होगी। कुछ शास्त्रज्ञ तो हैं लेकिन शास्त्रनिष्ठ नहीं, कुछ शास्त्रों में निष्ठा, श्रद्धा तो रखते हैं परन्तु शास्त्रों का यथार्थ बोध नहीं है। कुछ शास्त्रज्ञ, शास्त्रनिष्ठ भी हैं तो मान, प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं होगी ऐसा मानकर मौनव्रत रखना उचित समझते हैं। और कुछ तो मान, प्रतिष्ठा के लिए अशास्त्रज्ञ होते हुए भी, शास्त्रज्ञ दिखने के लिए ही बोलते हैं। आश्चर्य तो तब होता है, जब व्यासपीठ से शास्त्रों का उपदेश देने वाले ही अपने को श्रेष्ठ प्रतिष्ठित करने के लिए, धन-जन-मान बढ़ाने हेतु, अधर्मज्ञ पदलोलुप नेताओं का धर्मप्रतिनिधि बनने हेतु या अशास्त्रीय भ्रमित हिन्दुत्व की रक्षा हेतु कुछ-कुछ सरकारी साधु, यथार्थ हिन्दुत्व से अनभिज्ञ संस्थान तथा पुराणविद्या से अनभिज्ञ कथावाचक जब लाईव चैनल पर, सोशल मीडिया में धर्म शास्त्रों को ही प्रक्षिप्त बताते हैं ! अतः ऐसी स्थिति में धार्मिक आस्तिक जनता किंकर्तव्यविमूढ हो जाती है, यथार्थ शास्त्रज्ञ शास्त्रनिष्ठ किसको मानें, किसको जानें ?

अंततोगत्वा धर्मनिष्ठ आचार्य विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह धर्मभ्रमित सनातनियों को मार्गदर्शन दे, ग्रंथों का शुद्ध वोध कराए। यथार्थ स्वधर्म स्पष्टीकरण देने वालों को विक्षिप्त प्रक्षिप्तवादी लोगों का विरोध तो सहन करना ही पड़ता है। जो भगवान् श्रीराम में, धर्म शास्त्रों में अत्यंत निष्ठावान् हैं, वे वोलते ही हैं, चाहे जन-धन-पद प्रतिष्ठा की हानि ही क्यों न हो जाए। उन किञ्चित् बोलने वालों में हमारे स्नेहभाजन "अनिग्रहों के लिए निग्रहाचार्य" शास्त्रज्ञ शास्त्रनिष्ठ श्रीभागवतानन्दजी वर्तमान परिस्थिति में अग्रसर हैं जो आलस्यप्रमाद से रहित अपनी अनवरत अभिव्यक्ति सभी धार्मिक, सामाजिक विषय, परिस्थिति, व्यक्ति-वस्तु आदि आदि में स्पष्ट निर्भीक निर्णायक के रूप में देते रहते हैं। अग्रगणी भी बोलें तो अतिशयोक्त नहीं है क्योंकि जिस तरह से विरोधियों की धमकी, गाली, अपमान, तिरस्कार सहते हुए भी ये पीछे नहीं हटते और पूर्ण निर्भयता एवं अपनापन से धर्मनिर्णय देते हैं, ये सबके बस की बात नहीं।

मैंने तो सोशल मीडिया में यह अनुभव किया है जितना ज्यादा विधर्मी बहस या परेशान करते हैं, ये उतना ही अधिक ऊर्जावान् हो जाते हैं और गहनतम खोज, रहस्यमयी बातें

बोलते जाते हैं। जैसे जैसे सुरसा मुख बढ़ाती, हनुमानजी भी वदन बढाते जाते। विप्रश्रेष्ठ योगी श्रीभागवतानंद जी यथार्थ में भगवान् के अनुग्रह से शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। सबसे उच्चस्तरीय विशेषता है कि तत्काल किसी भी विषय की गहनतम सतह पर पहुँच जाते हैं। हमें तो यही प्रतीत होता है कि शास्त्रों के सभी सिद्धान्तों के, विविध विषयों के ये विशेषज्ञ और मर्मज्ञ हैं, पहले से ही तैयार है व्याख्या, बस विषय तो आने दो। अद्भुत प्रतिभा, बुद्धिमत्ता, एकाग्रता और सत्यासत्य की नीरक्षीरविवेकशीलता है। इनके विषय में और भी बातें मन में हैं किन्तु समयाभाव है। 'मूरख हृदय न चेत' पढकर तो पाठक स्वयं ही समझ जायेंगे कि कितनी प्रगाढ़ता है इस नन्ही सी उम्र में, धर्म शास्त्रों के रक्षण के लिए। इत्यलम्।

दण्डिस्वामिश्री व्रजेश्वराश्रम जी महाराज
नर्मदा, उत्तरतट

(०५)

शास्त्रोपासनाभाविभाषितमानस निग्रहाचार्योपाध्यभिषिक्त श्रीभागवतानन्दजी द्वारा श्रुतिस्मृतिपुराणोपपुराणेतिहासागमादि प्रोक्त विविध आर्षवचनों से समलंकृत समाधानपरक 'मूरख हृदय न चेत' ग्रन्थ की लेख श्रृंखला को पढ़कर इनकी जन्मान्तरीय विद्या के साथ साथ इनके अविराम शब्दाराधनाजन्य परिश्रम को अनुभव कर हृदय अभिभूत हो जाता है। इनके शास्त्राग्रह से स्पष्ट होता है कि इन्हें समर्थन अथवा विरोध के लिए व्यक्तिवाद स्वीकार्य नहीं, अपितु शास्त्रीय सिद्धान्त का समर्थक इनके लिए आदरार्ह है तथा तद्विपरीत कोई भी क्यों न हो, इनके शास्त्रोल्लासविलासप्रवीण कलमकुठार की तीक्ष्ण धार की मार से घायल हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसे शास्त्रोपासक सहस्रों सहस्रों में कोई कोई भारत भूमि को धन्य बनाने के लिए जन्म लेते हैं। जहां तक बाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड का विषय है, हम सीतानिर्वासन, शम्बूकवध आदि के सहित समस्त प्रकरण को यथार्थ मानते हैं। ऋषिप्रोक्त स्वीकार करते हैं। जिन भी महानुभावों को यह स्वीकार्य नहीं उनके स्वमतिकल्पितमत को हम निरस्त करते हैं। हम निग्रहाचार्य श्रीभागवतानन्दजी महाभाग के सनातनशास्त्रीयसिद्धान्तोपस्थापनाभियानानुष्ठान का समर्थन करते हुए हर्षानुभव करते हैं।

समर्थश्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्य ब्रह्मचारी जी महाराज

(०६)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानन्द गुरु और श्रीरामभद्राचार्य (पं० गिरिधर मिश्र) के मध्य प्रक्षेपांशों को लेकर सामाजिक माध्यम (सोशल मीडिया) द्वारा अनेक विचार पढ़ने को मिले। श्रीरामभद्राचार्य एक विश्रुत एवं आत्मविमुग्ध विद्वान् हैं। अनेकविध उपाधियाँ भी उनके नामांकित हैं। व्याकरण शास्त्र के बल से या अन्य तर्कों से श्रीमद्वाल्मीकिरामायण के तथा श्रीमद्भागवतमहापुराण के कतिपय अंशों को प्रक्षिप्त मानते हुए अपने मतों की स्थापना श्रीआचार्यजी ने की है परन्तु परम्परा का अनुपालन, अन्यथा तर्कानुमोदन, स्वैच्छिक मतस्थापन से आचार्य परम्परा का परिपालन न होने से निग्रहाचार्य ने सभी दुराग्रहों का प्रमाणोपस्थापनपूर्वक खण्डन किया है। इस प्रकरण में स्तरहीन धमकियाँ, शास्त्रार्थाडम्बर आदि का प्रदर्शन एवं अपशब्द वाग्व्यवहार भी प्रदर्शित हुए हैं। श्रीनिग्रहाचार्य द्वारा प्रस्तुत तर्कों का खण्डन न करते हुए अन्यथा अरण्यरोदन वैदुष्य का उपक्रम नहीं है। मनगढन्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं पल्लवन, विकृत व्युत्पत्तिनिष्पादन आदि पर नियन्त्रण हेतु निग्रहाचार्य द्वारा इनका दृढ़तापूर्वक प्रतिकार करना और भारतीय मनीषा के अनुपालन, मूल उद्धरणों सहित खंडन करना सामयिक आवश्यकता है। 'सत्य' के पक्ष में श्रीभागवतानन्द गुरु के मत प्रशंसनीय एवं अभिनन्दनीय है। निष्ठापूर्वक अपेक्षित उदाहरणों द्वारा असत्य एवं आधारहीन स्थापनाओं को अस्वीकृत कर समाज को सत्य मार्ग प्रदर्शित करना ही साधु स्वभाव होना चाहिए।

महामहोपाध्याय पण्डितराज आचार्यश्री मिथिलाप्रसादत्रिपाठी जी
पूर्वकुलपति - महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय, उज्जैन

(०७)

श्रीमतामल्पवयस्कानामपि ज्ञानवृद्धानां निग्रहाचार्योपाह्वानां श्रीभागवतानन्दगुरूणां शेमुषीं विद्वदाह्लादकरीं दर्शं दर्शं को नामाक्षरज्ञो न भवति समाकृष्टचेताः। मान्यानां व्यासवाल्मीकिप्रभृतीनामुपजीव्यानां ग्रन्थेषु मलं क्षिपतां विवेकरहितानां शास्त्रदूषकानामुपरि सशास्त्रप्रमाणं साधु प्रहारः कृतः श्रीभागवतानन्दमहाभागै'मूरख हृदय न चेत' इत्यस्मिन् ग्रन्थे। न खलु शास्त्राणामर्थः कुतर्कैरन्यथाकरणीयः। तेन शास्त्रवधपातकमजानतां दयापात्राणां प्रक्षिप्तवादिनां वचनान्यश्रद्धेयान्येव। यत्तन्मतानुकूलं नास्ति तत्सर्वं प्रक्षिप्तमिति

कीदृशोऽयं कुतर्कः। अनेन दुष्कर्मणा सामान्यजनानां मतिभेदो न कर्तव्यः। शास्त्रकोपाद्भेतव्यम्। गुरुमतमेव साधीयः। मन्ये श्रीभागवतानन्दसदृक्षा महापुरुषाः शास्त्ररक्षणार्थमेव विधात्रा लोकमिमं प्रेषिताः। यदि नामैतादृशा विद्वांसो द्वित्रा एव भवेयुस्तदा कुतर्किणां प्रयासो विफल एव स्थास्यतीति नात्र सन्देहः। निग्रहाचार्याः शास्त्ररक्षणे बद्धपरिकरा इति तेषां श्रेयः कामयते।

भावसारार्थ - छोटी अवस्था वाले होकर भी ज्ञान की दृष्टि से वृद्ध श्रीमान्, निग्रहाचार्य की उपाधि वाले श्रीभागवतानंद गुरु की विद्वानों को प्रसन्न करने वाली उत्तम बुद्धि को बारम्बार देखकर उनके नाम से परिचित कौन व्यक्ति आकर्षित नहीं होगा ? मान्य श्रीवेदव्यास-वाल्मीकिप्रभृति महर्षियों के द्वारा विरचित ग्रन्थों में मलप्रक्षेप करने वाले विवेकहीन शास्त्रनिन्दकों के ऊपर श्रीभागवतानंद महाभाग ने इस 'मूरख हृदय न चेत' ग्रन्थ में उत्तम प्रहार किया है। शास्त्रों का अर्थ कुतर्कों के द्वारा विपरीत नहीं कर देना चाहिए। इस कारण से शास्त्रों के वधरूपी पातक को न जानने वाले, दया के पात्र प्रक्षिप्तवादियों के वचनों पर लोगों को श्रद्धा नहीं करनी चाहिए। जो अपने मत के अनुकूल न लगे, वह सब प्रक्षिप्त है, यह कैसा कुतर्क है ? इस दुष्कर्म के द्वारा सामान्यजनों में मतिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिए। शास्त्र के प्रकोप से डरना चाहिए, गुरुजनों के मत का ही साधन अपनाना चाहिए। मैं मानता हूँ कि श्रीभागवतानंद जैसे महापुरुष शास्त्र की रक्षा हेतु ही विधाता के द्वारा इस संसार में भेजे गए हैं। यदि ऐसे दो तीन विद्वान् भी हो जाएं तो कुतर्कियों के प्रयास विफल ही सिद्ध होंगे, इसमें सन्देह नहीं है। निग्रहाचार्य अपने परिकरों के साथ शास्त्ररक्षा में निरत रहें, इस प्रकार उनके कल्याण की कामना की जाती है।

डॉ० श्रीरामकृपाल त्रिपाठी जी

प्राचार्यचर – श्रीरंगलक्ष्मी आदर्श संस्कृतमहाविद्यालय - वृन्दावन

(०८)

"मूरख हृदय न चेत" एक शास्त्रनिधिरक्षण प्रयास

ऋषिभिः प्रोक्तं निर्वृतं वा आर्षम्। ऋषियों के द्वारा जो भी कथित या संरचित होता है, वह सब आर्ष कहा जाता है। ऐसा ब्राह्मण जिसमें सम्पूर्ण विद्याओं का, परम सत्य का, तपश्चर्या का, सम्पूर्ण साङ्ग वेदों का पूर्ण स्वरूप विद्यमान हो, वह ऋषि है –

ऋषि हिंसागतौ धातुर्विद्यासत्यतपः श्रुतिः।
एष सन्निचयो यस्मात् ब्राह्मणश्च ततः त्वृषिः॥

भृगुवंशी महर्षि वाल्मीकिजी ने देवर्षि नारदजी के द्वारा रामायण का जो उपदेश प्राप्त किया उसी को भगवान् ब्रह्मा जी की आज्ञा से अपनी आर्ष प्रज्ञा के द्वारा रामायण नामक आर्ष काव्य, जिसे आदिकाव्य भी कहा जाता है उसका प्रणयन किया जो सर्वथा प्रामाणिक है, सत्य है। ऐसी भी मान्यता है कि उसकी रचना राम के जन्म से पूर्व किया था। किन्तु स्वयं वाल्मीकि रामायण के अनुसार नारद जी से महर्षि ने यही प्रश्न किया था –

को न्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥

इस प्रश्न "को नु अस्मिन् सम्प्राप्तं लोके" में वर्त्तमान अवस्था में राम के विद्यमान से ही सम्बद्ध होने से राम के चरित्र आदि के प्रसिद्ध होने पर ही रामायण की रचना हुई है। जिसका श्रवण भगवान् राम ने लवकुश के द्वारा प्रथम बार किया था। वाल्मीकि रामायण की भूमिका भी लवकुश के द्वारा प्रारम्भ होती है। कुशश्च लवश्च इति कुशीलवौ में पृषोदरादित्वात् ईत्व का विधान हुआ है। जिसकी चर्चा वाचस्पत्यम् कोष में है। जितने भी रामायण ग्रन्थ रचे गए हैं उनका उपजीव्य वाल्मीकि रामायण है और उसमें भी वाल्मीकि रामायण का उपजीव्य नारदोपदिष्ट मूल रामायण है, जिसमें सम्पूर्ण रामचरित संक्षिप्त में कथित है। जिसका विस्तार –

तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्।
कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम्॥

महर्षि वाल्मीकि ने इस रूप में किया। जिससे यह स्वतः सिद्ध है कि रामकथा का विस्तार बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक हुआ है। इसीलिए अन्य रामायणों में, पुराणोक्त

रामकथाओं में सातों काण्डों की चर्चा आयी है। इसलिए उत्तरकाण्ड भी इसी का अंश है। कोई भी अंश इसमें प्रक्षिप्त नहीं है। सनातन धर्म के विरोधियों विशेषतया मार्क्सवादी तथा आर्य समाज के कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी एवं गायत्री परिवार अथवा इनके सिद्धान्तों का समर्थन करनेवाले लोग विभिन्न कुतर्कों का सहारा लेकर उत्तरकाण्ड आदि को प्रक्षिप्त मानते हैं जो पूर्णतया अप्रामाणिक है। यदि उसमें वर्णित विषय असंगत लगता है तो उसके तात्पर्य को सही ढंग से नहीं समझा गया है। उन्हें श्रद्धापूर्वक उसे समझना चाहिए। और उसमें सत्तर्कों का ज्ञान करना चाहिए।

"मूरख हृदय न चेत" इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य श्रीभागवतानन्द जी ने परमत का खण्डन करके शास्त्रसिद्ध सिद्धान्तों की स्थापना करके पारम्परिक शास्त्रीय सिद्धान्तों की रक्षा की है। तथा उसकी पुष्टि में सत्तर्कों का उल्लेख करके विविध ग्रन्थों के वाक्यों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। मैं आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ परम्परा सम्प्राप्त शास्त्रीय सिद्धान्तों को पूर्णतया स्थापित करेगा। एतदर्थ आचार्य श्रीभागवतानन्द जी को हृदय से साधुवाद ज्ञापित करता हूँ।

प्रो. भगवत् शरण शुक्ल जी
पूर्व व्याकरणविभागाध्यक्ष - संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

(०९)

यह ग्रन्थ प्रक्षिप्त का प्रक्षेप है। कुछ महापुरुष वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहते हैं। इस कथन के भी समर्थन में उनकी अनेक युक्तियाँ हैं। किन्तु चिरन्तन भारतीय चेतना उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त नहीं मानती, इस प्रसंग में प्रयुक्त प्रक्षिप्त शब्द से आहत होती है। वह सोचने लगती है कि क्या संस्कृति के मूल अन्य भी ग्रन्थ प्रक्षिप्त ही हैं, क्या मेरी संस्कृति ऐसे प्रक्षिप्त अप्रामाणिक ही ग्रन्थों पर आश्रित है। वस्तुतः प्रक्षेप के साधक हेतु अनैकान्तिक ही हैं। प्रक्षेप के साधन में प्रौढिवाद है। बुद्धि निर्दय होती है और हृदय सदय। प्रौढिवाद में हृदय का कोई स्थान नहीं। सनातनी चेतना कालिदास, भवभूति तथा आनन्दवर्धन आदि से पूछती है कि क्या आपने उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त ही मान कर मुझे ठगा, आज तक मैं समझती रही कि राम ने लोकाराधन के लिए सीता का निर्वासन

किया, सीता के निर्वासन तथा भूमि में प्रवेश के ही कारण रामायण में करुणरस की प्रधानता है तथा शम्बूक प्रकरण भी राम के चातुर्वर्ण्य की स्थापना का एक निदर्शन है।

कालिदास कहते हैं कि स्वकर्तव्य को त्याग कर तपोरत शम्बूक के उद्धार की हेतु उसकी तपस्या नहीं, अपितु राजा के द्वारा दण्ड है। दण्ड या निग्रह का अधिकारी राजा होता है, प्रशासन होता है, न कि अन्य। आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में कवियों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि रामायण आदि में रस सिद्ध है, कथा को उलट-पुलट कर उसमें रस का परिवर्तन नहीं किया जाए। सीता-निर्वासन के विना रामायण का प्रधान रस करुण नहीं रह सकेगा। अनेक पुराणों में भी अप्रामाणिकता की संभावना है। श्रीमद्भागवत महापुराण के भी नवम स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में सीतानिर्वासन की चर्चा है। क्या ये पुराण उत्तरकाण्ड के वाल्मीकिकृत होने में प्रमाण नहीं हैं, क्या परम्परा प्रमाण नहीं है, भगवान् गीता में योग को परम्परा-प्राप्त कह कर परम्परा को प्रमाण क्यों मानते हैं, क्या प्रक्षिप्त मानने में आधुनिक उत्प्रेक्षाएँ ही प्रमाण हैं ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न होते हैं। उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहने से भारतीय आस्था आहत होती है, संदेह में पड जाती है, धर्मविमुखता की संभावना है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ प्रक्षिप्त कथन का प्रक्षेप अनेक प्रमाणों से करता है।

पक्ष तथा विपक्ष का होना स्वाभाविक है। इन्हीं के आधार पर सारस्वत साम्राज्य का विस्तार होता है। जब बौद्ध प्रबल थे तब न्यायशास्त्र का विस्तर हो रहा था, जब विपक्ष बौद्ध निर्बल हो गए तब न्याय अपने-आप में उलझने लगा। जब कोई दूसरा प्रबल विपक्ष नहीं होता तब लडाई अपने-आप में होने लगती है। दोनों पक्षों का उपस्थापन दैवी वाणी में उचित है, आसुरी में नहीं। अहंकार तथा तिरस्कार से भरी वाणी आसुरी है। भवभूति के अनुसार लव ने राम के अश्वमेध के अश्व को इसलिए पकडा कि उसके मस्तक पर आसुरी वाणी लिखी थी कि यह सातों लोकों के वीर राम का अश्व है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस आसुरी वाणी का भी विरोध करता है। इस ग्रन्थ का सार यही है कि महापुराण, महाकवि, आलंकारिक तथा प्रमाणिक लोक उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मानने के पक्ष में नहीं है, यह प्रक्षिप्त नहीं है। ग्रन्थ के वचन सप्रमाण, सुबोध तथा लोकहितैषी हैं। जो वचन लोकहित में हो वही सत्य है।

प्रयुक्तमुत्तरे काण्डे प्रक्षिप्तमिति यत्तमः।
यत्र तत् क्षिप्यते तस्मै नमो दिव्याय तेजसे॥

प्रो० श्रीरामकुमारशर्मा जी
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय, जयपुर, (राजस्थान)

(१०)

शुभाशंसनम्

अखण्डं सहजं चैव सच्चिदाकारविग्रहम्।
सर्वशेषितया भान्तं तमानन्दमुपास्महे॥०१॥
स श्रीमान् निग्रहाचार्यो भाति शास्त्रनयश्रिया।
गुरुर्भागवतानन्दो रामभद्रेभकेसरी॥०२॥
सीतानिर्वासनं रामनिशितखड्गधारया।
शम्बूकस्य शिरश्छेदः प्रोक्तो वाल्मीकिना स्वयम्॥०३॥
तद्वृत्तान्तद्वयस्याऽत्र निराकर्ता भुवस्तले।
दृष्टिवैकल्यभाग् नूनं कुत्सितो न कथं भवेत्॥०४॥
तद्वृत्तान्तद्वयेनैव पुराणान्यपि साम्प्रतम्।
निराकरोति दुर्मेधाः फल्ग्वर्थलोलुपो नरः॥०५॥
शिष्टपरिग्रहादेव स्मृतिप्रामाण्यसाधनम्।
भवत्यत्र तथैवास्ति वृत्तान्तद्वयसत्यता॥०६॥
रघुवंशमहाकाव्यप्रबन्धादौ परिग्रहात्।
मिथ्याकर्तुं न शक्येत सीतानिर्वासनं खलैः॥०७॥
शासनं धर्मशास्त्रीयं रामस्योदारचेतसः।
तस्य परीक्षणायैव शम्बूकस्य कथोदयः॥०८॥
एक एव तदाऽधीमान् धर्माभासपरायणः।
आसीत्तस्य शिरश्छेदे भूलोको वैदिकोऽभवत्॥०९॥

स्वधर्मपालनं लोके तप इत्युच्यते बुधैः।
परिचर्याप्रधानाऽतः शबरी तापसी मता॥१०॥
शम्बूकोऽसौ सुदुर्मेधास्त्यक्त्वा स्वधर्मपालनम्।
क्षुद्रकामाय संजातो धर्मान्तरपरिग्रहः॥११॥
ततोऽत्र रामभद्रस्यच्छर्दितं सर्वमेव तत्।
दृष्टान्तविकलं जातं हासार्थं गर्दभोचितम्॥ १२॥
मान्यो भागवतानन्दो निग्रहाचार्यनामभाक्।
खण्डनं रामभद्रस्य कृतवान् न्यायतो दृढम्॥१३॥
स्वर्भानुना पुनर्ग्रस्तः श्रीमच्छास्त्रार्थभास्करः।
नूनं भागवतानन्दतेजसा प्रस्फुटोऽभवत्॥१४॥
श्रीनिग्रहाचार्यसदुक्तिमण्डितः खलाविवेकः प्रलयं गतस्ततः।
निःश्रेयसाय प्रभवन्ति सज्जनाः स्वकर्मभिस्तोषितचिज्जनार्दनाः॥ १५॥

भावसारार्थ - जो आनन्दस्वरूपी ब्रह्म अखण्ड है, सहज है, सच्चिदाकारस्वरूपी है, सबों के बाद शेष रहता हुआ प्रकाशित है, उसकी हम उपासना करते हैं। श्रीमान् निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु शास्त्रों के द्वारा प्राप्त ज्ञानवैभव के माध्यम से रामभद्ररूपी हाथी के ऊपर सिंह के समान शोभित हो रहे हैं। सीतानिर्वासन हो या श्रीरामजी के द्वारा तीक्ष्ण खड्ग से शम्बूक के मस्तक का छेदन करना हो, यह सब स्वयं वाल्मीकिजी के द्वारा कहा गया है। दृष्टिदोषरूपी विकलता के कारण उन दोनों वृत्तान्तों को नकारने वाला इस संसार में कैसे कुत्सित नहीं होगा ? उन दोनों वृतान्तों और अन्य पुराणों का भी जो अभी निराकरण करता है (उन्हें प्रामाणिक नहीं मानता), ऐसा व्यक्ति दुर्बुद्धि से युक्त है, सारहीन अर्थ की कामना करता है। शिष्टसम्मत होने से ही स्मृतियों का प्रामाण्य स्वीकार्य है, और यहाँ भी इन दोनों वृत्तान्तों की सत्यता में यही बात समझनी चाहिए। रघुवंशम् आदि महाकाव्यप्रबन्धादि में भी उक्त सीतानिर्वासन की घटना वर्णित होने से खलों के द्वारा उसे मिथ्या नहीं बताया जा सकता। उदारबुद्धि वाले श्रीराम जी का शासन धर्मशास्त्रों के अनुरूप है, इसकी परीक्षा हेतु ही शम्बूक की कथा उदित हुई है। धर्म का आभास कराने वाला (नकली धर्मनिष्ठ) एक दुर्बुद्धि था, जिसका मस्तक काटने से पृथ्वी में वैदिकधर्म प्रतिष्ठित हुआ। स्वधर्म का पालन

ही बुद्धिमानों के द्वारा संसार में 'तप' ऐसा कहा गया है। सेवाप्रधान तपस्या के कारण शबरी को तापसी कहा गया। दुर्बुद्धियुक्त यह शम्बूक स्वधर्मपालन को छोड़कर क्षुद्रकामना के कारण अन्यजन के लिए विहित धर्म का अनुसरण करने लगा था। अतः रामभद्राचार्य के द्वारा दृष्टान्त न समझने के कारण (प्रक्षिप्तवाद के व्याज से जो) उपहास किया गया है, वह गधों के लिए ही उचित है। इस प्रकरण में निग्रहाचार्य के नाम से प्रसिद्ध मान्य श्रीभागवतानंद के द्वारा रामभद्र का जो खण्डन किया गया, वह दृढ़ एवं न्यायसम्मत है। शास्त्रों का जो अर्थरूपी सूर्य प्रक्षिप्तवाद के राहु से ग्रस्त हो गया था, वह श्रीभागवतानंद के माध्यम से पुनः तेजस्वी होकर प्रकाशित हुआ है। श्रीनिग्रहाचार्य की अच्छी उक्तियों से मण्डित होकर खलों का अविवेक नष्ट हो गया। सज्जनपुरुष कल्याण के लिए ही होते हैं और वे स्वकर्मपालन से ही भगवान् को प्रसन्न करते हैं। (अथवा स्वकर्मपालन से ही चित्त और लोगों को कल्याण की प्राप्ति कराते हैं।)

प्रो० श्रीकमलाकान्त त्रिपाठी जी
पूर्वमीमांसाविभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

(११)

शास्त्र नारायण की वाङ्विभूति हैं। उनमें प्रक्षेप, रूपान्तरण, अन्य कथन कहना और देखना उस परमात्मा की वाङ्मयी मूर्ति का विरूपण करना है। अधुना कलिकौतुक के प्रभाव से अनेक धर्मज्ञजन भी विमूढबुद्धि होकर लोकरञ्जन हेतु तात्कालिक हितार्थ शास्त्र का अन्यार्थ-अनर्थ कर रहे हैं। सनातन ऋषिमनीषा श्रुतिविरुद्ध अवतारवाणी को भी गर्हित तथा निषिद्ध घोषित करती है। गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है -

अतुलित महिमा बेद की तुलसी कीन्ह बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

इतिहास और पुराण वेदार्थ-उपबृंहण के अनिवार्य उपभाग तो हैं ही, अर्थाधिगम हेतु वे अनिवार्य उपस्कर भी हैं। अतएव उनमें लोकरञ्जनहेतु प्रक्षेप का आरोप लगाना धर्मद्रोह

है। आधुनिक विश्व में पतनशील मनोवृत्ति वाली शासनपद्धति लोकतन्त्र में लोकरञ्जन प्रधान धर्म हो गया है। शाश्वत सनातन धर्म को उसका उपस्कर मानकर अनेक विद्वान् शास्त्रार्थ विकृत कर रहे हैं। सम्प्रति इसी क्रम में रामायण के शम्बूकवध तथा सीतानिर्वासन को प्रक्षेप बताने तथा सिद्ध करने का एक नवान्दोलन प्रचलित है जो इसे सनातनधर्म का शोधन कह रहा है, जबकि ऐसा उद्घोष करने वाले पाश्चात्य तथा वामपंथी मानस के अघोषित यन्त्र बन गए हैं। शम्बूकवध का प्रकरण पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड - ३३/८९, उत्तरखण्ड - २३०/४७, महाभारत, शान्तिपर्व - १४९/६२, रघुवंशम् - १५/५३ तथा आनन्दरामायणादि, इन सबमें स्पष्टतया उपलब्ध है। एक कथा को जोड़ने हेतु मूल से लेकर, अर्थात् रामायण से लेकर अद्यावधि कथा में ऐसा योजन करना कि वह मूल कथा का ही भाग लगे और तात्कालीन से लेकर आधुनिक जगत् के सभी मनीषी विद्वान्, धर्मप्राण जन उस प्रक्षेप को जान ही न पाएं, ऐसा सोचना उनकी मेधा को अपरिपक्व तथा अल्पज्ञ मानना ही होगा।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ गीता-१६/२४॥

अथवा "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै. सू. १-१-२) इत्यादि से स्पष्ट है कि वेदादिशास्त्रोक्त कर्म ही धर्म हैं। अतएव चातुर्वर्ण्यधर्मविपरीत आचरण अधर्म है। श्रीराम द्वारा जहाँ धर्मविरुद्ध शूद्र शम्बूक का वध हुआ, वहीं धर्मविरुद्ध आचरण करने वाले रावण का भी राम ने वध किया। अतएव उनकी निष्पक्षता स्पष्ट है। धर्माचरणशील किरात, कोल-भील, काक-गिद्ध-वानर-ऋक्ष, सबका राम द्वारा आदर किया गया है। समस्त धर्म, समस्त कर्म, अधिकारानुसार ही पुण्य अथवा विहित कर्म होते हैं। अतएव अनधिकारी का वेदाध्ययन, तप, यज्ञ भी गर्हित हो सकता है। स्वर्णदान, ताम्बूल, अभयदान आदि प्रशस्त अथवा पुण्यकृत्य होकर भी क्रमशः यति, ब्रह्मचारी और चोर को देने से पाप हो जाते हैं।

यतये काञ्चनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे। चौराय चाभयं दत्वा दातापि नरकं व्रजेत्॥

अतएव स्वकर्मनिष्ठा धर्म है, जबकि परकर्मनिष्ठा अधर्म।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥गीता-०३/३५॥

अतः यदि कोई वायुयानचालक अपना कार्य छोड़कर अन्य कार्य करने लगे तो उसमें स्वकार्यत्याग और अन्यकार्यसम्पादन से वह समस्त यान के विनष्ट होने का कारण बनेगा। जो व्यक्ति अपना कार्य छोड़कर अनधिकारपूर्वक अन्य का कार्य कर रहा है, वह स्वकार्यध्वंस होने से व्यवस्थाविप्लव का भी सर्जन कर रहा है क्योंकि वह एक अपवाद होकर भी कालान्तर में मानक बनकर सनातन व्यवस्था के विनष्ट होने का निमित्त बन रहा है। महाभारत में उल्लेख है कि श्रीराम के इस धर्माचरण से ही द्विजपुत्र जीवित हुआ था।

श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः।
जीवितो धर्ममासाद्य रामात्सत्यपराक्रमात्॥ महाभारत १२/१४९/६२॥

श्रीराम धर्म के प्रति इतना समर्पित हैं कि आनन्दरामायण में यहाँ तक कहा गया है कि यदि द्विजबालक पुनर्जीवित नहीं होगा तो उस ब्राह्मण को लव और कुश भी पुत्र के रूप में दिए जाएंगे। अर्थात् राम अपने पुत्र को भी धर्महेतु देने को प्रस्तुत हैं। तदनुसार अयोध्या में पांच लोगों की भी उस काल मे आकस्मिक मृत्यु हुई थी और पांच शव एकत्रित हुए थे, एक क्षत्रिय, एक वैश्य, एक तेली, एक लोहार की पुत्रवधू तथा एक चमार। श्रीराम ने जैसे ही शूद्र शम्बूक का वध किया, सभी जीवित हो गए। वहीं सर्वप्रथम श्रीराम ने शूद्र को वरदान दिया है। शम्बूक ने अपने सहित अपने जाति की भी सद्गति का वरदान मांगा है। राम द्वारा रामनाम जप और कीर्तन से शूद्रों की सद्गति का मार्ग दिया गया है। परस्पर मिलने पर अभिवादन में राम-राम कहने पर उन्हें सद्गति प्राप्त होगी। स्वयं स्वर्ग की आकांक्षा हेतु तपस् करने वाला शम्बूक श्रीराम द्वारा मृत्यु को प्राप्त होकर अक्षय वैकुण्ठलोक को गया, यह तो उसकी गर्हित तप करने पर भी राम द्वारा सद्गति देना, भगवान् श्रीराम के करुणावरुणालय होने का प्रतीक है। साथ ही श्रीराम का यह कर्म

उनके न्याय और धर्मपरायणता के रूप में 'रामो विग्रहवान् धर्मः' का साधक है और सिद्ध करता है।

अब आते हैं सीता त्याग के प्रसङ्ग पर। वास्तव में रामकथा का मूल (आद्य) ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण ही है। उत्तरकाण्ड के अनुसार गर्भिणी सीता तपोवन देखने की अभिलाषा श्रीराम से प्रकट करती हैं। श्रीराम उनको तपोवन भेजने का वचन देते हैं। इसी क्रम में श्रीराम - भद्र से पूछते हैं कि सीता, भरत और मेरे सम्बन्ध में लोककथन या लोकमत क्या है ? तब भद्र द्वारा सीता के निमित्त प्रसिद्ध लोकापवाद और उसका प्रजा पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव का वर्णन किया जाता है -

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति। यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तदनुवर्तते॥

अर्थात् हमें भी अब अपनी स्त्रियों का ऐसा ही आचरण सहन करना होगा क्योंकि जैसा राजा करता है, प्रजा भी तद्वत् अनुवर्तन करती है। ये भद्र नामक व्यक्ति रघुवंशम् के अनुसार गुप्तचर है, आनन्द रामायण में उसका नाम विजय है जबकि उत्तररामचरितम् में दुर्मुख नामधारी है। रामायण के अनन्तर पुराण ही रामकथा का आधार हैं क्योंकि वे आर्ष हैं जैमिनीयाश्वमेध, पद्मपुराण, आनन्द रामायण में भी सीता-निर्वासन का वृत्तान्त स्पष्टतया उल्लिखित है। जैमिनीयाश्वमेध, पद्मपुराण, आनन्द रामायण, तमिल रामायण आदि से उक्त लोकापवाद का वक्ता धोबी है - ऐसा उल्लेख मिलता है। अनन्तर गुणाढ्य की बृहत् कथा, सोमदेव का कथासरित्सागर, तिब्बतीय रामायण में तो इसका वर्णन मिलता ही है। जैन रामकथा साहित्य, जिसका स्रोत वाल्मीकि रामायण है - उसमें भी सीता-निर्वासन प्राप्त होता है। कुन्दमाला, पउमचइयम् में लोकापवाद से रामकथा द्वारा सीता परित्याग स्पष्टतया उल्लिखित है।

अतः रामचरितमानस आदि में उल्लेख न मिलना अथवा चरित्र की समाप्ति को प्रमाण मानकर सीता निर्वासन प्रक्षिप्त है - यह कहना मूढ़ता है। सीता निर्वासन के प्रक्षिप्त होने का प्रथम प्रलाप ईसाई रामकथा-दूषक फादर कामिल बुल्के से आरम्भ हुआ और वह

प्रवाद इतना व्यापक है कि अद्यावधि पर्यन्त शास्त्रज्ञजनों की बुद्धि में अजीर्ण उत्पन्न कर रहा है। आस्तिक-नास्तिक सभी परम्परा में उपलब्ध प्रभूत साहित्य सीता-निर्वासन को असन्दिग्ध सिद्ध करते हैं। इस सन्दर्भ में सनातन शास्त्रों के सुधी विद्वान् श्रीभागवतानन्द गुरु द्वारा उल्लिखित कृति "मूरख हृदय न चेत" में एतद्विषयक प्रमाण संकलन रामकथा दूषक विचारधारा का शमन करती है। साथ ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र पर जिन तथ्यों को दोष कहा जा रहा है, उसी विषय को रामचरित्र का उदात्त, निःस्पृह, निरपेक्ष स्वरूप प्रतिपादन इस कृति द्वारा किया गया है। एतदर्थ श्रीभागवतानन्द गुरु भूरिशः साधुवाद के पात्र हैं। आशा है कि उनकी शम्बूक-वध व सीता-निर्वासन आद्रित यह कृति शतकोटि प्रविस्तर रामचरित में स्वाभाविक अथवा उद्भावित भ्रम का शमन करते हुए "भ्रमभंजनी आख्या" प्राप्त करेगी।

विद्यावारिधि आचार्यश्री दीनदयालमणि त्रिपाठी जी
आदिशंकर वैदिकविद्या संस्थान, लखनउ

(१२)

शुभाकांक्षा

भारतीय संस्कृत - वाङ्मय अनेक रूपों में पुष्पित और फलित होकर महाकाव्य, काव्य गीतिकाव्य इत्यादि का रूप लेकर जहाँ जन - जन को आनंदित करता है वहीं रामायण, महाभारत आदि धर्म - ग्रंथ अपनी विशाल छाया में श्रान्त - क्लान्त मानव मन को शान्ति प्रदान करते हैं। धर्म का अवलम्बन कर मनुष्य शान्ति और श्रेय को प्राप्त करता है। किंतु अद्यतन धर्म-गुरु शास्त्रों की व्याख्या अपने स्व-मतानुसार करने लगे हैं। इसी श्रेणी में "सीताजी का निर्वासन व शम्बूक वध" भी विवादास्पद हो गया हैं। इस संदर्भ में इस मत का पुष्टिकरण "निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरुजी" द्वारा उनकी स्व-रचित खण्डनात्मक पुस्तक "मूरख हृदय न चेत" में बहुत ही सारगर्भित एवं सुस्पष्ट शास्त्रोक्त प्रमाणों द्वारा उद्धृत कर किया गया है। उनका यह सत्प्रयास प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। मेरी ओर से श्रीभागवतानंद गुरुजी को अनेकानेक शुभकामनाएँ।

श्रीस्वामी कृष्णानन्द जी महाराज
संरक्षक - राष्ट्रीय गौसेवा संघ
अध्यक्ष - माँ बगलामुखी शक्तिपीठ चैरिटेबल ट्रस्ट, खाचरोद, मध्य प्रदेश

(१३)

अभद्रान्धकुतर्काणां तीग्मरश्मिरविरिव।

श्रीमद्भागवतानन्दो विभातु धरणीतले॥

एतेषां पञ्चविंशतिमात्रवर्षीयाणां दैवकृतश्रीमन्निग्रहाचार्यपादानां रचनासमग्रं न केवलं पठनीयमपितु काले काले मननीयमेव। कुतर्कग्राहाणां कृतेऽतान्निग्रहनन्दकखड्गरूपाननुसरन्तु जिज्ञासवः।

भावसारार्थ - अभद्र एवं निरवलोकी कुतर्कियों के लिए प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के समान श्रीभागवतानंद पृथ्वी पर शोभित हों। इन मात्र पच्चीस वर्ष की अवस्था वाले ईश्वरोत्प्रेरित श्रीमन्निग्रहाचार्य की पूरी रचना न केवल पढ़ने योग्य है, अपितु समय समय पर मनन करने योग्य भी है। कुतर्करूपी ग्राह (अथवा कुतर्क से) ग्रस्त जनों से बचने के लिए इस निग्रहरूपी नन्दकखड्ग का जिज्ञासुजन अनुसरण करें।

स्वामिश्री सनत्कुमारदास जी महाराज

श्रीजगन्नाथपुरी, ओड़िशा

(१४)

कविकुलगुरु कालिदास जैसा विश्वप्रसिद्ध संस्कृत महाकवि भी जब अपने आपको मन्दकवि कह डाले तब निश्चित ही तीव्रप्रज्ञ या कुछ मन्दमति को इससे कुछ गुणकारी प्रेरणा तो मिलती ही होगी - मन्दः कवि यशः प्रार्थी इत्यादि पद्य को पढ़नेवाले साम्प्रतिक मनीषी अपने स्तर के उन्नयन में प्रयत्नरत होते ही होंगे। वर्तमान में मान लीजिये कोई ८–१० महाकाव्यों की रचना कर यह कहने लगे कि कालिदास ने तो दो महाकाव्यों की ही रचना की है तो क्या ऐसा कहनेवाले को अन्य विद्वान् कालिदास से श्रेष्ठ मानने लगेंगे ? ग्रन्थसंख्या की दृष्टि से या अधिक रचनाओं के बल पर कोई अपने आपको सर्वश्रेष्ठ कवि या मनीषी नहीं ठहरा सकता है। इसी तरह कोई कुछ विद्वत्ता या प्रतिष्ठा अर्जित कर प्राचीन आर्ष ग्रन्थों पर कुछ लेखनी चलाकर उसके मत-मतान्तर व प्रकरण का देश - निर्वासन नहीं कर सकता। यदि कलम चला भी दे तो वह काल के गाल में समा जाती है

तथा ऐसा लेखक भी अपयश का भागीदार बनता है। जिस कवि या विद्वान् के ग्रन्थ-वाङ्मय की प्रतिष्ठा हो चुकी है, उसे कोई भी तुच्छ व्यक्ति बाहर नहीं कर सकता, यह मेरा एक सर्वसाधारण मत है, किसी विशेष दृष्टि से इसे कहीं न ले जाया जाये।

कोई भी लेखक या विचारक अपना कुछ समस्यामूलक विचार रखते समय मनीषी चिन्तकों को भी उस पर विचार रखने का अवसर प्रदान करे। जब उनका मत विद्वत्समवाय की कसौटी पर खरा उतरे तब लेखनीबद्ध करे। अतिविश्वास, दम्भ या आवेश, कुछ छोटे तथ्यों के आधार पर हिमालय की चोटी पर चढ़ने का दुस्साहस न करे, अन्यथा शास्त्र परम्परा को बड़ा आघात पहुँचेगा। पाणिनि जैसे विद्वान् ने आर्षपरम्परा, निपात, आकृतिगण, "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" का सम्मान किया है। जिन पदों की व्युत्पत्ति सूत्रों से नहीं होती उन्हें निपातन से सिद्ध मान लिया जाता है। कोई भी मनीषी अपनी आर्ष परम्परा का अतिक्रमण न करे, उथल पुथल न मचाये अन्यथा उसका अपमान अवश्यंभावी है। शास्त्र तो अनन्त है, जबकि हम अन्तवान् हैं -

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
(पञ्चतन्त्रम्)

मैं जब प्राथमिक कक्षा में अध्ययनरत रहा तब मेरे पितामह स्व. स्वामीप्रसाद चौबे (ग्राम-पोस्ट– आरी, जि.– महोबा, उ.प्र.) प्रतिदिन सायं श्रीरामचरितमानस का पाठ करवाते थे। जहाँ कहीं अशुद्धि होती थी तब वे उसे शुद्ध कर पुन: उस अंश का वाचन करवाते थे। उस समय मैं बालकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक पाठ करता था। पाठ सम्पूर्ति होनेपर अठवाई पंजीरी चूर्ण बनवाकर प्रसाद लगवाते थे। पुनः एक सप्ताह विश्राम के बाद प्रारम्भ से पाठ आरम्भ हो जाता था। इसी तरह पाठ की परम्परा गाँव गाँव में चलती रही, आज भी चल रही है। उस दौरान कभी रामायण के किसी काण्ड पर प्रतिबन्ध नहीं सुना गया। किसी ने भी एक-दो काण्ड या उत्तरकाण्ड पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया। यदि प्रतिबन्ध लग जाता तो हमारा पाठ निष्फल हो जाता। हम पुण्य के भागीदार नहीं बन पाते। अब यदि उत्तरकाण्ड पर प्रतिबन्ध या प्रक्षिप्तता का आरोप सामने आ गया है तब तो बहुत बड़ी समस्या आ

खड़ी होती है। बेचारे गाँव वाले उच्च मनीषियों के विचारों को जान ही नहीं पाते हैं। बड़ी कठिन समस्या है कि उत्तरकाण्ड को कैसे किस विधि से निकाला जाय जिसकी बहुत गहरी जड़ें जम चुकी हैं। प्राचीन आर्ष काव्यों पर प्रश्नचिह्न कहाँ तक संगत है, मैं नहीं कह सकता। मैं तो आर्ष वाङ्मय का आदर मात्र जानता हूँ। साधारण जनों के बीच उत्तरकाण्ड की प्रक्षिप्तता पर ध्यानाकर्षण एक कठिन कार्य ही लगता है।

"उत्तरकाण्ड (प्रसङ्ग) एवं संन्यासाधिकार विमर्श" नामक ग्रन्थ की रचना से जब निग्रहाचार्य श्रीभागवतानन्द गुरु ने श्रीमद्भागवतपुराण के धुरन्धर मनीषी, संस्कृत व्याकरण व काव्यविलक्षण स्वामी श्रीरामभद्राचार्य जी के उत्तरकाण्ड की प्रक्षिप्तता का खण्डन किया, तब उसके खण्डन में शास्त्रतपस्वी जगद्गुरु कुलाधिपति परमपूज्य श्रीस्वामी जी ने "सीतानिर्वासन और शम्बूकवध नहीं" नामक ग्रन्थ की रचना कर डाली। इस ग्रन्थ के खण्डन में निग्रहाचार्य जी ने "मूरख हृदय न चेत – सीतानिर्वासन एवं शम्बूकवध सही" नामक प्रकृतग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया। मूलतः प्रकृतग्रन्थ ३५० पृष्ठों में निबद्ध है। जहाँ क्रमशः पूर्वपक्ष के तौर पर स्वामी जी का ग्रन्थांश, पुनः इस ग्रन्थ के सन्दर्भों से उसका खण्डन किया गया। इसमें शिखरिणी छन्द के पद्य 'कुकाण्डं वाल्मीकेर्न हि' में स्वामीजी ने उत्तरकाण्ड को कुकाण्ड तक कह डाला। "कु" का प्रयोग न कर नञ् समास से "अकाण्डं" भी कहा जा सकता था। वाल्मीकि तो संस्कृत के आदि काव्यमूर्ति महाकवि हैं, उनके काव्यांश पर "कु" को स्थान कैसे दिया जा सकता है। इससे वाल्मीकि की अवमानना प्रतीत होती है।

दूसरी ओर श्रीरामभद्राचार्य जगद्गुरु स्वामी जी अपने ग्रन्थ में कुछ वैयक्तिक मार्मिक वेदना भी प्रकट करते हैं, इससे मैं भी हतप्रभ सा हो गया। उनके अन्धेपन का उपहास, उनकी भर्त्सना में इसी ग्रन्थ की प्रारम्भिक अंश — "मेरे भौतिक दृष्टिबाधित्व के लिये वे अन्ध शब्द का प्रयोग करते हैं … मिथ्या अहंकार के कारण केवल मुझे गालियाँ देते जा रहे हैं और ऐसी शब्दावली का प्रयोग कर रहे हैं जिसको सुनने में मुझे पीड़ा हो रही है।" इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी महाराज व्यथित हैं। ऐसी स्थिति कहाँ से उत्पन्न हुई ? क्या स्वामीजी ने किसी का कुछ अपमान किया है ? जिसका प्रत्युत्तर उन्हें दिया गया हो। मैं तो वरिष्ठ व शास्त्रतपस्वी स्वामीजी का विशेष आदर करता हूँ। मैंने काशी में आनेपर उनके द्वारा

आयोजित कवि सम्मेलन में कवितापाठ किया है। मऊरानीपुर, जि. झाँसी में श्री कतोली महाराज द्वारा आयोजित श्रीमद्भागवतकथा प्रवचन में उनका सम्मानपत्रम् से अभिनन्दन किया था। स्वामी जी को निश्चित ही इसका स्मरण होगा। अभी काशी हिन्दू वि.वि. में आयोजित संस्कृत संगोष्ठी में उनका दार्शनिक प्रवचन बड़े-बड़े मनीषियों ने सुना था।

स्वामीजी का अपमान अनुचित है। चाहे वह कोई भी विद्वान् हो, शिष्ट पदावली का प्रयोग करे। स्वामीजी व्याकरण व काव्यविद्या के धुरन्धर महामनीषी हैं। यहाँ शास्त्रार्थ परम्परा सदियों से चली आ रही है परन्तु विद्वान् शिष्टता का अतिक्रमण नहीं करते हैं। स्वामीजी ने स्वयं कहा है — "मैंने किसी आचार्य जी के लिये कभी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है। मेरे आचार्यत्व पर सन्देह नहीं करना चाहिए।" निग्रहाचार्य जी ने इसके प्रत्युत्तर में पुराण आदि के वचनों को उद्धृत कर अन्ध, वृद्ध आदि के प्रयोग की विवेचना की है। निग्रहाचार्य के शब्दों में —"मैंने अन्ध शब्द का प्रयोग किया है वह उपहास या निन्दा के लिये नहीं किया गया, बल्कि वास्तविकता को वर्णित करने के लिये किया है। दृष्टिबाधित के लिये अन्ध शब्द का प्रयोग होता है।"

निग्रहाचार्य का कथन है कि स्वामीजी के अन्धे होने से उनके अशास्त्रीय मत को दयावश स्वीकारा गया है। मैं इस कथन से असहमत हूँ, ऐसा मत कहिये आप। शास्त्रमत के युक्तायुक्तत्व में दया का अवसर नहीं होता है। आप युक्ति, तर्क व उपाय कौशल से किसी के मत का खण्डन कीजिये चाहे वह कोई भी बड़े से बड़ा पदाधिकारी ही क्यों न हो। शास्त्र की कसौटी पद-प्रतिष्ठा, समृद्धि व वैभव निर्णय नहीं किया करते। कोई भी लेखक हो वह शिष्ट पदावली के बल पर ही किसी दूसरे के मत का खण्डन करने का अधिकार रखता है। स्वामीजी के मत का कोई भी खण्डन करे पर वह उत्तरकाण्ड के पन्नों की होली नहीं जला सकता है। शम्बूकवध व सीतानिर्वासन को भी समाप्त नहीं किया जा सकता है। उत्तरकाण्ड तो अटल रहेगा, वाल्मीकि का मत भी अमर रहेगा। शास्त्रमीमांसा भी चलती रहेगी। इसी खण्डन-मण्डन से शास्त्र विकसित होता है। उत्तरकाण्ड तो रामायण का हृदय है जहाँ कथानक अपने मनोरथ फल की प्राप्ति करता है। उत्तरकाण्ड तो पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत कर प्रभु श्रीराम का हृदयहार बन जाता है। निग्रहाचार्य जी के मत-मतान्तर की प्रस्तुति से प्रतीत होता है कि आपका अध्ययन व चिन्तन अत्यन्त उत्कृष्ट है,

तर्कसंगत है। वैसे आगम के बिना तर्क द्वारा भी धर्म की व्यवस्था शास्त्रसम्मत नहीं होती है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है —

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते। ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्॥
(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड)

अत एव आगम का अध्ययन अपरिहार्य है। निग्रहाचार्यजी भी स्वामीजी के कथन से सन्त्रस्त हैं जबकि वहीं स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज वचनबद्ध हैं किसी का अभिभव न करने के लिये। अभी कुछ महीने पूर्व स्वामीजी का एक वीडियो श्रीनिग्रहाचार्य जी के विषय में प्रसारित किया गया, जिससे मैं भी आहत हुआ, जिसमें माँ के दूध की शक्ति को चुनौती दी गई तथा शास्त्रार्थ के लिये ललकारा गया, वह भी शिष्यों के साथ। किसी की माँ को बीच में लाना कहाँ तक उचित है ? माँ का अपमान भला कौन पुत्र सह पायेगा भले ही स्वयं का सहन कर जाए। ऐसी आपत्तिजनक बातें विद्वानों के बीच अच्छी प्रतीत नहीं होती। जो भी हो, शिष्टव्यवहार से चिन्तक विद्वान् हमेशा नियन्त्रित होते हैं। जैसा कि दण्डी ने कहा है —

गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
(काव्यादर्श)

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति इस महाभाष्य के वचन से सम्यक् वचन कामधेनुतुल्य हो जाता है।

निग्रहाचार्य अपनी व्यथा से पीड़ित होकर कहते हैं— "आप हमें शास्त्र का "करिया अक्षर भैंस बराबर" समझकर कहते हैं कि मैं स्वयं को गुरु क्यों लिखता हूँ।" इसका उत्तर वे आगे देने की बात करते हैं और अपनी वंशावली प्रस्तुत करके देते भी हैं। ये वचन तो शास्त्रज्ञ चिन्तक का अपमान करते हैं। "मूरख हृदय न चेत" ग्रन्थ से शम्बूकवध, सीतानिर्वासन को सही ठहराने का प्रयास है। स्वामी जी अपने से कनिष्ठ विद्वानों को प्रोत्साहित करते हैं व करेंगे भी ऐसी आशा करता हूँ। स्वामीजी की प्रवचनधारा में करोड़ों भक्त निमज्जित रहते हैं, वहीं निग्रहाचार्य की शास्त्र-उपस्थिति भी बेजोड़ है। "बालादपि

सुभाषितं ग्राह्यम्" इस नीतिवचन के सापेक्ष नन्हें वचनों का श्रवण, मनन व चिन्तन आवश्यक है। स्वामीजी सभी नवीन चिन्तकों को शुभाशीष प्रदान करें। शास्त्रसमस्या का समाधान सहानुभूतिपूर्वक किया जाय। चिन्तन-मनन की गङ्गा बहती रहेगी साथ साथ। परीक्षा की कसौटी पर भी कसी जाती रहेगी। मेरी प्रबल आशा ह—

श्रीरामभद्रतुलसीपदपीठवर्यः शास्त्रार्थसागरनिमज्जिततत्त्वविज्ञः।
श्रीमत्पुराणनिपुणो विकलाङ्गविश्वविद्यालयाधीशवरः प्रणम्यः॥
श्रीनिग्रहाचार्यमतानि सम्यक् शृण्वन्तु कृत्स्नं सुविचारयेयुः।
न खण्डने कोऽपि विवाद आयात् स्नेहेन नैजोक्तविचारदृष्ट्या॥
कश्चित् सुविद्वान् प्रथते कुतश्चिद् मूर्खो न वाच्योऽत्र परोक्षवाचा।
सम्मानभाषैव सदा प्रयोज्या नोल्लंघनीया गुरुशिष्टवाणी॥
श्रीनिग्रहाचार्यवरः सुविद्वान् शास्त्रार्थदक्षो गुणिनां वरेण्यः।
प्रणम्यते वाङ्मयतत्त्ववेत्ता भूयोऽभिनन्द्यो मतदर्शनाय॥
ओजस्विनीयं सरसा श्रुता वाक् शास्त्रे पटिष्ठा विदुषां गरिष्ठा।
विद्वद्वरिष्ठा महतां प्रतिष्ठा समर्च्यते चन्दनगन्धपुष्पैः॥
मतद्वयं न्यस्तमिदं परीक्ष्यं विद्वद्वरिष्ठैः सकलं सुयुक्त्या।
विवादशान्तेरयमभ्युपायो नान्योऽस्ति पन्था रुचिरोद्य दृश्यः॥
शम्बूकहिंसोत्तरकाण्डवृत्ते सन्दर्भयुद्धं गहनं विशिष्टम्।
प्राज्ञैश्चतुर्दिक्षु परीक्षणीयं निष्पक्षदृष्ट्योभयदत्ततर्कैः॥

इस विलक्षण अनुपम कृति को शास्त्रमतों से सुसज्जित करने के लिये शास्त्रमार्तण्ड श्रीनिग्रहाचार्य जी को हार्दिक बधाई प्रदान करता हूँ।

॥इति शम्॥

प्रो० धर्मदत्त चतुर्वेदी जी
संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं शब्दविद्यासंकायप्रमुख
केन्द्रीय उच्चतिब्बतीशिक्षासंस्थान (मानितविश्वविद्यालय), सारनाथ

(१५)

नारायण स्मरण। भगवान् नारायण की असीम कृपा से सनातन धर्म संस्कृति एवं वैदिक परंपरा सहित वैदिक साहित्य में प्रामाणिक गति रखते हुए श्रीनृसिंहभगवान् की कृपा को आत्मसात् करते हुए निग्रहाचार्य श्रीभागवतानन्द 'गुरु' महोदय के द्वारा सनातन धर्म पर अशास्त्रीय अथवा अहंकार के वशीभूत होकर अपव्याख्या की धज्जी उड़ाकर प्रामाणिकता के सुस्वरूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत करना एक बहुत बड़े साहस का सराहनीय उपक्रम है। आदरणीय निग्रहाचार्यजी द्वारा अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है, वे सभी साहित्य अपने में प्रौढ़ हैं। 'मूरख हृदय न चेत' नामक ग्रन्थ रत्न को मैंने अनेकों बार चिन्तन पूर्वक पढ़ा। इसकी प्रस्तुति में स्वपक्षस्थापन, परपक्ष निराकरण सप्रमाण स्थापित किया गया है। विद्वान् लेखक के लेख का अभिनन्दन करते हुए ये भविष्य में सदैव सनातन संस्कृति के हितार्थ समर्पित रहें यह कामना करते हैं। सभी विद्वत्समाज के धर्माचार्यों मठाधिपतियों को चिन्तन पूर्वक निग्रहाचार्य श्रीभागवतानन्द गुरु का अभिनन्दन एवं समर्थन करना चाहिए।

जय श्रीमन्नारायण !

श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीस्वामी मधुसूदनाचार्य जी महाराज

(१६)

श्रीमद्भागवतानन्दगुरुणा शास्त्रशालिना।
निग्रहाचार्यवर्येण ध्वस्यतेऽशास्त्रजं मतम्॥
युक्तिप्रमाणलसितं तद्वचश्शास्त्रसम्मतम्।
आशिषा वर्धनीयोऽसौ जगद्गुरुवरैस्सदा॥

भावसारार्थ - शास्त्रसम्पन्न निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा अशास्त्रीय मत ध्वस्त किया जाता है। युक्ति और प्रमाण से सज्जित उनकी वाणी शास्त्रसम्मत है। जगद्गुरुओं के आशीर्वचनों से वे अभिवर्द्धनीय हैं।

आचार्य सनन्दनकुमार त्रिपाठी जी
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय, भोपाल, मध्यप्रदेश

(१७)

अखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूप-अखिलब्रह्माण्डाधिनायक श्रीमन्नारायण भगवान् की करुणामयी कृपा का ही परिणाम यह मानव शरीर है। इस प्रकार अनेकों वर्णसम्प्रदायादि के रूप में विभक्त समस्त प्राणियों का परम धर्म अथवा कर्तव्य है - जड़चेतनात्मक रूप में स्थित प्राणियों का कल्याण करना।

धर्मो नामप्राणिरक्षणोपायिकतया क्रियमाणा वृत्तिविशेषा।

कर्तव्याकर्तव्य का विचार करते हुए वेद भगवान् जिन कर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करते हैं वास्तव में वही धर्म है, ठीक इसके विपरीत अधर्म जानना चाहिए।

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय:।

इस प्रकार जनमानस के हितार्थ भगवान् ने सर्वप्रथम नि:श्वासात्मक वेदों को प्रकट किया इसलिए वेद साक्षात् नारायणस्वरूप हैं। "वेदो नारायण: साक्षात्" सर्वप्रथम वेद भगवान् ही कृपा करने के लिए महर्षि वाल्मीकि जी को निमित्त बनाकर श्रीमद्रामायण के रूप में प्रकट हुए। मैं तो कहा करता हूँ कि जिस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में राघवेन्द्र श्रीरामजी का अवतरण हुआ, उसी प्रकार से साक्षात् वेद भगवान् ही श्रीमद्रामायण के रूप में अवतीर्ण हुए।

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेद: प्राचेतसादासीत्साक्षात् रामायणात्मना॥

बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड पर्यन्त सप्तकाण्डों में श्रीरामायण के रूप में वेद भगवान् का अवतरण हुआ इसलिए श्रीरामायणान्तर्गतागत सभी चरित्र परम पवित्र एवं सत्य हैं। जब हमारे कर्म सन्तशास्त्रानुमोदित होंगे तभी श्रीरामायण जी के सभी चरित्र सत्य प्रतीत होंगे। केवल वाक्प्रतिभा का प्रयोग करके अर्थ को बदल देना विद्वत्ता नहीं है। विद्वत्ता का परिचय

तब जाना जाता है जब श्रुतिसिद्धान्तानुसार हो। विविध व्याकरण, साहित्य इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन केवल अनर्गल प्रलाप करने एवं मनमाना अर्थ करने के लिए नहीं है। श्रीरामभद्राचार्य की व्याकरण वाक्यरचनाशैली नि:सन्देह सराहनीय है, परंतु वे व्याकरण सिद्धान्त के अनुसार शब्दों का, व्युत्पत्ति शैली से मनमाना और अनुचित अर्थ करने के लिये बाध्य हैं जो समाज को भ्रमित करने वाला है, साथ ही साथ स्वयं की पतनशीलता का कारण भी बन सकता है।

इस प्रकार श्रीरामभद्राचार्य की व्याख्या एवं कथन मूल ग्रन्थ से हटकर है जो सिद्धान्तपरक न होकर केवल प्रतिभा का प्रदर्शनमात्र है। श्रीरामभद्राचार्य जी श्रीसीताजी का पुनर्वनवास नहीं मानते। यह उनका असफल प्रयास है। निष्कर्ष तो यह है कि यदि श्रीसीताजी का पुनर्वनवास नहीं होता तो इस संसार में श्रीरामकथा का प्राकट्य नहीं होता और राम कथा के अभाव में उत्तम चरित्र एवं सभ्यता का सर्वथा अभाव हो जाता। सभी रावण और कुम्भकर्ण बन जाते। इसी कारण से घर घर में रामराज्य की स्थापना हो, सभी का जीवन राममय बन जाए और असन्दिग्ध रूप से रामत्व की स्थापना एवं रावणत्व का सर्वथा विनाश हो, इस हेतु श्रीसीताजी का पुनर्वनवास हुआ। निम्नलिखित तथ्यों का अवलोकन करें -

१) श्रीनारदजी श्रीरामजी के मन हैं तभी तो श्रीरामजी की प्रेरणा से ही श्रीनारदजी ने महर्षि वाल्मीकि जी को सम्पूर्ण राम कथा सुनायी।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।

२) श्रीब्रह्माजी श्रीरामजी के कर्म हैं, अतः श्रीब्रह्माजी ने कर्म के रूप में आकर श्रीरामकथा लिखने का आदेश दिया।

वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्।

अथवा

तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।

३) भगवान् श्रीराम की वाणी ही देवी सरस्वती हैं जो "मा निषाद" के रूप में महर्षि वाल्मीकिजी के मुख से प्रकट हुई।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शास्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

४) श्रीरामजी की करुणा ही श्रीसीताजी हैं जिन्होंने महर्षि वाल्मीकिजी के हृदयस्थल पर विराजमान होकर करुणामयी दृष्टि से करुणा की वर्षा करते हुए करुणामयी श्रीरामकथा निर्माण करने का सामर्थ्य प्रदान की।

इस प्रकार मन के रूप में श्रीनारदजी का, कर्म के रूप में श्रीब्रह्माजी का, देवी सरस्वती के रूप में 'मा निषाद' की प्रवृत्ति एवं करुणा के रूप में श्रीसीताजी का आना, यह काल्पनिक नहीं, ध्रुव सत्य है। आचार्यस्वरूपा करुणामयी श्रीसीताजी ही श्रीरामकथा की आचार्या हैं जो महर्षि वाल्मीकि को माध्यम बनाकर श्रीरामकथा का निर्माण करती हैं। अतः निःसन्देह श्रीसीताजी का पुनर्वनवास लोकहितकारी है। किसी प्रक्षिप्तवादी के द्वारा यह कह देना कि श्रीसीताजी का वनवास नहीं हुआ था, यह केवल जड़ता का बोधक है। प्रक्षिप्तवादी बुद्धि का प्रयोग करने वाले तथा लौकिक प्रतिष्ठा जैसी तुच्छ विचारधारा से सङ्क्रमित विचारों का मैं आदर नहीं करता हूँ।

साकेताधीश श्रीमद्राघवेन्द्र सरकार से मेरी यही प्रार्थना है कि प्रक्षिप्तवादियों की बुद्धि शुद्ध हो और हमारे परम शुभेच्छु एवं सुहृत् सन्तशिरोमणि विद्वद्वरेण्य सत्सम्प्रदायनिष्ठ भगवद्भागवताचार्यकैङ्कर्यनिष्ठ एवं तपःस्वाध्यायनिरत स्वनामधन्य स्वामी श्रीभागवतानंद गुरु (श्रीनिग्रहाचार्य) जी द्वारा भ्रमभञ्जनार्थ उत्कृष्ट साधन-साध्य के रूप में प्रस्तुत यह अद्वितीय ग्रन्थ "मूरख हृदय न चेत" विधर्मियों के भ्रम एवं कुतर्कों का भञ्जन करता हुआ जनमानस में विराजमान हो तथा श्रीलक्ष्मीनारायण से पुनः प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु की कृपा से

स्वामिश्री निग्रहाचार्य की अजस्रवाहिनी भगवती गङ्गा की अमलधवलधारा के समान पवित्र लेखनी कुतर्कियों के कुतर्कों का सदा-सर्वदा-सर्वकाल-आकल्पान्त खण्डन करती रहे।

स्वामी श्रीवासुदेवाचार्य (श्रीनिवास-श्रीरामानुजदास) जी महाराज
प्रयागराज, उत्तरप्रदेश

(१८)

बलं विष्णोः प्रवर्द्धताम्

शास्त्रार्थ की शैली में प्रणीत निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद की यह पुस्तक 'मूरख हृदय न चेत' प्रतिपक्षियों के लिए बहुत कड़वी महौषधि है। वाल्मीकिरामायण की मौलिकता को लेकर निग्रहाचार्य पक्षधर हैं और रामभद्राचार्य प्रतिपक्षी, क्योंकि पक्ष सकारात्मक होता है और प्रतिपक्ष नकारात्मक। प्रतिपक्ष के क्रमिक खण्डन और स्वपक्ष के शास्त्रीय मण्डन में प्रतिफलित यह कृति अपने आप में विजयपताका ही है। कटूक्तियाँ निग्रहपरक हैं। निग्रह यथायोग्य होता है। लेखक का निग्रहाचार्य के रूप में सामने आना समयोचित है। निग्रह की क्षमता श्रीभागवतानन्द में पर्याप्त है। निग्रह-सम्प्रदाय का पुनरुन्मेष राष्ट्रहित में है। मनुस्मृति का वचन है -

निग्रहं प्रकृतीनाञ्च कुर्याद्योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा॥७.१७५॥

वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहने के पीछे जो षड्यन्त्र है, उसकी जड़ें बड़ी गहरी हैं। दुरभिसन्धि ऐसी कि एक छोर पर बौद्धानुप्राणित वैदेशिक विधर्मी सक्रिय हैं तो दूसरी छोर पर समन्वयवादी सिरफिरे सनातनी। 'अपने अपने राम' का नारा लगाने वाले अपने ही लोग जब अपनी शास्त्रीय मर्यादा को भूलकर वाल्मीकि के राम पर अपने अहं का प्रक्षेप करते हैं, तो बहुत कष्ट होता है। निग्रहाचार्य को मैं आशा की एक किरण के रूप में देखता हूँ।

प्रो० रामलखन पाण्डेय जी
(सेवानिवृत्त) साहित्यविभागाध्यक्ष
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, लखनऊ परिसर, उत्तर प्रदेश

(१९)

सीतानिर्वासन तथा शम्बूकवध-वाल्मीकिरामायण के अपरिहार्य अंश हैं। इस सन्दर्भ में मेरा लघुलेख तुलसीमानसभारती में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में आपका प्रत्युत्तर प्रशंसनीय है। सनातनसत्य के संरक्षण तथा संवर्धन में आप नितराम् अभिनन्दन के सत्पात्र हैं।

डॉ० रूपनारायण पाण्डेय जी
मनीका पूरा (चाँदपुर), प्रयागराज

(२०)

प्राप्तराज्यस्य रामस्य राक्षसानां वधे कृते।
आजग्मुर्मुनयः सर्वे राघवं प्रतिनन्दितुम्॥

आदरणीय श्रीभागवतानंद गुरुजी !
लंबे समयसे विद्वानोंका अनुभव रहा है कि सनातनधर्मकी क्षति जितना नास्तिकोंसे नहीं हुई उससे कहीं ज्यादा धर्मके नाम पर अधर्मको धारण किये हुए कालनेमियोंसे हुई है। अनेक शास्त्रोंके प्रमाणोंको दर्शाते हुए लिखा प्रस्तुत ग्रन्थ "मूरख हृदय न चेत- सीता निर्वासन एवं शम्बूक वध सही" पढ़नेके पश्चात् यह स्पष्ट सिद्ध है कि माता सीताका निर्वासन और शम्बूकका वध हुआ था जो कि धर्मशास्त्र सम्मत ही है परंतु यह बात मूर्खोंको कहाँ समझमें आने वाली है ? वस्तुतः कई वर्षोंसे सनातन धर्मको नष्ट करनेके लिए कुछ अन्ताराष्ट्रीय शक्तियाँ खुलकर सामनेसे प्रयास कर रही थीं पर सफल न हो पानेके कारण उन्होंने एक नए षड्यन्त्रकी रूपरेखा तैयार करते हुए सनातन धर्मियोंके ही हजारों वर्षोंसे चली आ रही मान्य आचार्य परम्पराओंमें हस्तक्षेप करके सनातन धर्मको नष्ट करनेकी योजना तैयार की। पिछले लगभग सौ वर्षोंमें विधर्मी अंताराष्ट्रीय शक्तियोंने सनातन धर्मके मूल स्वरूपको विकृत करनेके लिए वेद, योग, ध्यान, भक्ति, संस्कृति, धर्मादिके नाम पर अनेक छद्मधार्मिक संगठन बनाये जिनका उद्देश्य धार्मिक जनताको अपनेसे जोड़कर समाज सुधार आदिके बहाने सनातन वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्थाको विकृत कर और वैदिक शास्त्रोंकी अवैदिक पद्धतिसे मनमानी व्याख्या करके धार्मिक जनताके मनमें शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा

उत्पन्न करने की रही है। भारतमें हजारों वर्ष प्राचीन मान्य आचार्य परम्पराके रहते हुए जब बार बार प्रयास करने पर भी विधर्मी शक्तियाँ अपने लक्ष्यमें सफल नहीं हो पा रही थीं तब उन्होंने भारतकी इन मान्य आचार्य परम्परामें ही घुसपैठ करने की सोची तथा अनेक नकली शंकराचार्य और वैष्णवाचार्य बनाने लगीं जिससे जनसामान्यके मध्य सुगमतासे अपने विचार स्थापित कर उन्हें सनातनधर्मसे विमुख किया जा सके।

इन्हीमें से एक हैं आजकलके प्रसिद्ध तुलसीपीठके आचार्य रामभद्राचार्यजी, जो अपनेको जगद्गुरु रामानंदाचार्य कहते हैं पर इनके पीठकी परम्परा इनके पूर्व कबसे चली आ रही है किसी को नहीं पता। सबकुछ जानते हुए भी, सारा प्रमाण होते हुए भी शास्त्रोंको प्रक्षिप्त कहना और मान्य पूर्वके शङ्कराचार्य, वैष्णवाचार्यादि पूज्य आचार्योंकी निंदा करना तुलसीपीठके स्वयम्भू रामानंदाचार्य श्रीरामभद्राचार्यजीका नित्यका कार्य हो गया है। जब ऐसे लोग धर्मका चोला ओढ़कर शास्त्रोंको प्रक्षिप्त बोलकर उसकी मनमानी व्याख्या करके लोगोंमें भ्रम उत्पन्न करेंगे तो निश्चित ही आम जनताकी शास्त्रोंसे श्रद्धा समाप्त हो जाएगी और शास्त्रोंकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाएगा। ऐसा करनेसे धर्मका स्वरूप शास्त्रविरुद्ध मनमाना हो जाएगा और सनातनधर्मियोंकी बहुत बड़ी क्षति हो जाएगी।

जब जनसामान्यके मनमें शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाएगी तो वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था भी नष्ट हो जाएगी जिसका परिणाम होगा कि हिन्दू समाज एक अब्राह्मिक समाजकी भांति हो जाएगा और सदैवके लिए अपने लौकिक और पारलौकिक कल्याणसे वंचित हो जाएगा। यही तो सनातनधर्म विरोधी अंताराष्ट्रीय शक्तियां चाहती हैं। जब अंग्रेज मिशनरी फादर कामिल बुल्केने भारतमें आकर अपनेको रामभक्त कहते हुए रामायणकी मनमानी व्याख्याकी और उसमें श्रीमद्वाल्मिकीय रामायणके उत्तरकाण्डको काल्पनिक कहते हुए उसे प्रक्षिप्त कहा तब उन दिनों धर्मके सूर्य माने जाने वाले महामनीषी धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज उठ खड़े हुए और बुल्केकी मनमानी व्याख्याका शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ रामायणमीमांसा ग्रन्थमें खण्डन किया उसका उत्तर आजतक किसी विधर्मीने नहीं दिया। इस बातको दशकों बीत गए पर आज फिर अंग्रेज मिशनरीके पदचिह्नों पर कुछ लोग चलते हुए अपने सभी पूर्वाचार्योंकी निंदा करते हुए रामायणके महत्वपूर्ण और अद्भुत सर्वशास्त्र समर्थित उत्तरकाण्डको प्रक्षिप्त एवं गलत सिद्ध

करनेका असफल प्रयास कर रहे हैं। रामभद्राचार्यजी जिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी राजनैतिक विचारधाराके निकट दिखलाई देते हैं, वो विचारधारा स्वयं भगवान् राम और कृष्ण आदिको भगवान् न मानकर अंबेडकर और विवेकानन्दके समान ही एक महापुरुष (?) मनुष्य मानती है। इसके अतिरिक्त ये न तो जन्मना वर्णाश्रमको मानते हैं, न शास्त्रोंको स्वीकार करते हैं। ये शास्त्रोंकी मनमानी व्याख्या करते हैं और उसे बदल देनेकी बात करते हैं। इन्हीके सिद्धांतों पर स्पष्ट रूपसे चलते हुए रामभद्राचार्यजी दिखलाई पड़ते हैं। शास्त्रोंमें लिखा है कि अयोग्य, अधर्मी गुरु का परित्याग कर देना चाहिए अतः हम सभी सनातनियोंसे अनुरोध करते हैं कि ऐसे कालनेमियों का बहिष्कार कर इन्हें सत्यकी राहपर चलनेके लिए विवश कर देना चाहिए।

इतिहासमें देखा गया है कि धार्मिक क्षेत्रमें उपजे ऐसे विषैले पौधोंको उखाड़ फेंकनेके लिए धराधाम पर कोई न कोई महापुरुष आते ही रहते हैं। श्रीभागवतानंद गुरुजीको देखकर ऐसा लगता है कि अब समय निकट है जब सनातनधर्ममें घुसपैठ किये कालनेमियोंका कल्मष पूर्णतः स्वच्छ हो जायेगा। हमसे देशके अनेक कोनों के साधु संतों (जिसमें श्रीरामानंद सम्प्रदायके भी साधु संत हैं) ने भी वार्ताके समय आपकी प्रशंसाकी और आपके कार्यके प्रति प्रसन्नता व्यक्त की जिससे यह सिद्ध होता है कि आपके कार्यसे सभी आस्तिक सनातनीजन सुप्रसन्न हैं। हम श्रीभागवतानंद गुरुजीको शुभकामनाएं देते हैं कि आप इसी प्रकार जगद्गुरु शंकराचार्यजी और धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके पदचिह्नों पर चलते हुए अधर्मी शास्त्रविरोधियोंको उखाड़ फेंकनेका प्रयास करते रहिए। हम आपको अपने पूज्य गुरुदेव धर्मसंघ वाले बड़ेगुरुजीके नामसे विख्यात सर्वशास्त्रनिष्णात पूज्यपाद आचार्य पंडित श्रीराजवंशी द्विवेदीजी और पूज्य धर्मशास्त्रज्ञ आचार्य पं. श्रीनर्मदेश्वर द्विवेदीजीका आशीर्वाद प्रेषित करते हुए आपको धर्मसंघ परिवार वृंदावनकी ओरसे हर प्रकारसे इस धर्मयुद्धमें साथ खड़े होनेका वचन देतें हैं। एक बार फिर शुभकामनाएं देते हुए - नारायण ! नमः पार्वतीपतये हर हर महादेव!

आचार्य पं. राजेश राजौरिया वैदिक
अध्यक्ष - जगद्गुरु शंकराचार्य अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान
वृन्दावन, मथुरा

(२१)

॥श्रीमते रामानुजाय नमः ॥श्रीजानकीकान्तपरब्रह्मणे नमः ॥श्रीमते रङ्गदेशिकाय नमः ॥

अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने।
निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नमः ॥

मनु महाराज का वचन है —

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सुना ॥

भारतीय आस्तिक दर्शन में तीन प्रमाणों को मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है। उसमें भी शास्त्रप्रमाण को हम सर्वोपरि मानते हैं। हमारे यहाँ वेद जो कहे उसे ही धर्म कहा जाता है और उस वेद के अर्थ का निर्णय करते हुये आचार्य कहते हैं —

वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः ॥ श्री व.भू. १ ॥

वेदार्थ का निश्चय तदनुकूल स्मृति, इतिहास एवं पुराण से करना चाहिये। सूत्र में केवल पुराण शब्द को कहने का तात्पर्य है कि उपपुराण एवं महापुराण भी अविरुद्धांश में प्रमाणकोटि में जानने चाहिये। सबसे प्रबल स्मृति, फिर इतिहास, तब पुराण का प्रामाण्य है। स्मृतियों के सन्दर्भ में ब्रह्मसूत्र के द्वितीयाध्याय के "स्मृत्यधिकरण" में स्पष्ट कहा गया है कि वेदानुकूल स्मृतियों का ही प्रामाण्य है। यदि वह वेदानुकूल नहीं है तो भले ही किसी के द्वारा कही गई हो वह अप्रामाणिक ही मानी जायेगी अत एव कहा गया है—

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ताः निष्फला ज्ञेया तमो निष्ठा हि ताः स्मृताः ॥

जब स्मृतियों के सन्दर्भ में यह बात है तो किसी के मनमाने या कहिए, लोगों को प्रसन्न करने के लिये कहे गये असाम्प्रदायिक वक्तव्य को कैसे हम स्वीकार करेंगे? श्रुति एवं स्मृति ज्ञानी के नेत्र हैं एवं पुराण तो हृदय कहा गया है। नेत्रों एवं हृदय को चोटिल करनेवाले को क्या हम स्वीकार करेंगे ? कदापि नहीं। जब बुद्ध भगवान् होकर वेदबाह्य आचरण के कारण अपूजित हो गये तो किसी व्यक्ति विशेष की बात ही क्या की जाए। जिस उत्तरकाण्ड को सन्तजन श्रीप्रभु का मस्तक कहते हैं– "मस्तक उत्तरकाण्ड शुचि" उस उत्तरकाण्ड को यानी प्रभु के मस्तक का ही भञ्जन करनेवाले, प्रक्षिप्तवाद के रोगी को हम क्या कहेंगे ? श्रीवाल्मीकि महर्षि की प्रतिज्ञा है — "काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।" यदि उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मान लिया जाये तो सीताजी का महच्चरित क्या समझ आयेगा ? श्रीयामुनाचार्य जी माताजी की स्तुति करते हुये कहते हैं–

"आकारत्रयसम्पन्नामरविन्दनिवासिनीम्।"

जो आकारत्रयसम्पन्न हैं। यह आकारत्रय क्या हैं? यह आकारत्रय ही तीन विश्लेषों के द्वारा श्रीरामायण में श्रीअम्माजी अपने चरित्र के द्वारा दर्शाती हैं। श्रीलोकाचार्य स्वामीजी तीन सूत्रों में इन तीन विश्लेषों को दर्शाते हैं–

लक्ष्म्याः प्रथमविश्लेषः स्वकृपाप्रकाशनार्थम्॥ श्री व.भू. ९ ॥
मध्यमविश्लेषः पारतंत्र्यप्रकाशनार्थम्॥ १० ॥
अनन्तरविश्लेषोऽनन्यार्हत्वप्रकाशनार्थम्॥ ११ ॥

यह सब रहस्य की बातें हैं जो कि केवल व्याकरणज्ञान के द्वारा नहीं समझी जा सकती हैं। इसके लिये सम्प्रदायनिष्ठ आचार्य के श्रीचरणों का आश्रय लेना पड़ता है। हमारे अत्यन्त आत्मीय प्रिय सखा श्रीनिग्रहाचार्य श्रीभागवतानन्द गुरुजी ने बड़े ही स्पष्ट रूप से अपनी पूर्व पुस्तक "उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श" में उत्तरकाण्ड के अप्रक्षिप्तवाद के सम्बन्ध में बड़े ही मार्मिक प्रमाण प्रस्तुत किये थे। लेकिन उनकी भी उपेक्षा पूर्वपक्ष के द्वारा बिना किसी सटीक प्रमाण को प्रस्तुत किये ही की गई। इसलिये श्रीभागवतानन्द जी को पुनः "मूरख हृदय न चेत" नामक पुस्तक लिखनी पड़ी जिसमें थोड़ी भाषा की कठोरता का अनुभव कई लोगों ने किया। लेकिन मेरे अनुसार वह भाषा बिल्कुल अनुचित नहीं है,

क्योंकि कहा गया है —"पिशाचानां पिशाचभाषयैवोत्तरं देयम् ।"

हमारे प्राणभूत श्रीरामायण के उत्तरकाण्ड को ही प्रक्षिप्त कहनेवाले जो महर्षि वाल्मीकि की कालजयी रचना के सबसे अद्भुत काण्ड को ही ग्रसने में लगे हैं, उनके प्रति क्या समादर भाव रखा जाये ? श्रीभागवतानन्द जी के महान् परिश्रम को प्रणाम करते हुये उनके सर्वविध अभ्युदय के लिये प्रभु श्रीगोदारंगमन्नार के श्रीचरणों में प्रार्थना करता हूँ। पूर्वपक्ष का भी मैं विशेष रूप से सम्मान करता हूँ लेकिन उनके इस भीषण अशास्त्रीय वचन "उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त" का घोर विरोध करता हूँ। अन्त में बस एक बात और कहते हुए अपनी लेखनी को विश्राम देता हूँ।

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ।
शास्त्रं यत्रावगच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥

श्रीवैष्णवों का चरणचञ्चरीक
पुण्डरीकाक्षाचार्य वेदान्ती
श्रीराधाकृष्णरघुनाथ – श्रीवैष्णवाश्रम, श्रीधाम वृन्दावन

(२२)

॥श्रीमते नारायणाय नमः॥ यतो धर्मस्ततो जयः ॥श्रीमते रामानुजाय नमः॥

श्रीरामभद्राचार्य जी और निग्रहाचार्य श्रीभागवतानन्द गुरुजी के बीच उत्तरकाण्ड प्रसंग को लेकर सन् 2020 से जो विवाद चल रहा है, तब से ही यह विषय मेरे संज्ञान में है। रामभद्राचार्य जी ने खुले मंच से कई बार उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहा है, लेकिन खेद की बात है कि किसी भी संत या धर्माधिकारी ने रामभद्राचार्य जी के कुतर्क और धर्मविरोधी बातों का मुखर विरोध नहीं किया। श्रीभागवतानन्द गुरुजी द्वारा रचित "उत्तरकाण्ड प्रसंग एवं संन्यासाधिकार विमर्श" को पढ़कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और मन में सन्तोष हुआ कि अब धर्महानि करने वाले लोगों का पुरजोर विरोध करने के लिए ईश्वर ने निग्रहाचार्य जी को अपना हेतु बना लिया है, श्रीमद्भगवद्गीता में किया गया श्रीमन्नारायण भगवान् का संकल्प "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत..." प्रत्यक्ष चरितार्थ हो रहा है। जिस

प्रकार एक झूठ को छिपाने के लिए सौ झूठ बोलने पड़ते हैं उसी प्रकार उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त सिद्ध करने हेतु रामभद्राचार्य जी ने अनेकों झूठ भी बोले हैं। उन्हीं में से एक है - रघुवंशमहाकाव्य में महाकवि कालिदास द्वारा वर्णित ज्योतिषीय तथ्यों को अशास्त्रीय कहना। केवल परमेश्वर की ही कुण्डली में पांच ग्रह उच्च के होते हैं, रघु जैसे व्यक्ति के नहीं अथवा सूर्य के अलावा पाँच ग्रह उच्च हो ही नहीं सकते, इस प्रकार रामभद्राचार्य जी द्वारा बिना प्रमाण के यह बात कहना सर्वथा सिद्धान्तविरुद्ध है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि सभी पूर्वाचार्यों का विरोध करना, उनको भला-बुरा कहना, समाज के बीच परमसम्माननीय पूर्वाचार्यों के प्रति दुराग्रहपूर्वक द्वेष का विस्तार करने का कुत्सित प्रयास करना मानो रामभद्राचार्यजी का विशेष धर्म ही बन गया हो।

पूर्वाचार्यों के प्रति अगाध श्रद्धा होने से तथा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय से दीक्षित होने के कारण भी रामभद्राचार्य जी के मुख से परमादरणीय श्रीरामानुजाचार्य जी की निन्दा सुनकर मुझे अत्यंत ही क्षोभ हुआ। केवल इतना ही नहीं बल्कि ये धर्मोद्धारक आदिशंकराचार्य जी की भी खुले मंच से निन्दा कर चुके हैं। रामभद्राचार्य जी स्वयं रामानन्द सम्प्रदाय से दीक्षित हैं लेकिन वे अपने रामानन्दी सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों और आनन्दभाष्य आदि के सिद्धान्त के भी घोर विरोधी हैं। रामभद्राचार्य जी ने स्वयं ही कहा है कि उन्हें बृहस्पति भी शास्त्रार्थ में नहीं हरा सकते और इसी अहंवश उन्होंने निग्रहाचार्य जी को अपनी ओर से ही माँ के दूध की चुनौती देते हुए शास्त्रार्थ के लिए ललकारा लेकिन न तो कभी स्वयं ही शास्त्रार्थ के लिए आगे आए और न ही उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए अपने किसी शिष्य का ही नाम प्रस्तावित किया। जगद्गुरु की उपाधि धारण करने वाले तथा धर्मरक्षक होने का दंभ भरने वाले रामभद्राचार्य जी बताएँ कि क्या इसी प्रकार धर्मरक्षा होगी ? यदि आपका सिद्धांत इतना ही पुष्ट है तो शास्त्रार्थ में विजयी होकर इसे समाज में स्थापित करें। कोई भी सिद्धांत सिर्फ आपके कहने मात्र से कदापि स्वीकार्य नहीं होगा। हम किसी भी व्यक्ति के समर्थक या विरोधी नहीं हैं, हमारा समर्थन मात्र शास्त्र को है, धर्म को है।

।धर्म की जय हो।। अधर्म का नाश हो।

ब्रजेश पाठक 'ज्यौतिषाचार्य'
(लब्धस्वर्णपदक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
शोधार्थी (सिद्धान्तज्योतिष) श्री ला.ब.शा.रा.सं.वि. नई दिल्ली।

पाठकों की प्रतिक्रिया

(०१)

सीतात्याग, शम्बूकवध एवं वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड की प्रामाणिकता को लेकर विगत तीन वर्षों से रामानंदाचार्य श्रीरामभद्राचार्य एवं निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु जी के मध्य चल रहे लिखित शास्त्रार्थ में श्रीभागवतानंद गुरुजी का पक्ष शास्त्रीय सिद्धांत से ओतप्रोत है। उन्होंने अभी तक उत्तरकांड की प्रामाणिकता एवं मां जानकी के त्याग व शम्बूकवध से सम्बन्धित जितने भी शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किए, वे सब अकाट्य सिद्ध हुए हैं। रामभद्राचार्य जी निश्चित रूप से ज्ञानसंपन्न, साधनासंपन्न हैं किंतु उन्होंने अपनी ढहती लोकप्रियता एवं पूर्व में दिए गए अशास्त्रीय वक्तव्यों को सही ठहराने के लिए मदांध होकर व्याकरणिक ज्ञान का दुरुपयोग करते हुए जिस तरह से कुतर्कों की झड़ी लगाई है और शास्त्र प्रमाणों की अवहेलना की है, वह निश्चित रूप से ग्राह्य नहीं है, अपितु घोर निंदनीय है। रामभद्राचार्य जी को एक बार यहां अवश्य सोचना चाहिए कि जिन शास्त्रों का प्रवचन करके उन्होंने ये प्रसिद्धि प्राप्त की, उन्हीं शास्त्रों के प्रमाण वाक्यों की अवहेलना क्या उन्हें नरक में नहीं ले जाएगी ? पूर्व में भी रामभद्राचार्य जी कभी तुलसीदासजी पर तो कभी भगवत्पाद आदिशंकराचार्य जी के सिद्धांतों पर आक्षेप लगा चुके हैं ! इतना दंभ, इतना दुस्साहस तो इनके पूर्वाचार्यों ने भी नहीं किया जितना इन्होंने बीस वर्षों में किया है। निष्कर्ष यही है कि अब दूध का दूध और पानी का पानी होगा और होना भी चाहिए क्योंकि व्यक्तित्व की अपेक्षा शास्त्र सिद्धांत सर्वोपरि है। श्रीभागवतानंद जी की शास्त्रनिष्ठा को प्रणाम निवेदित करते हुए शुभकामनाएं।

आचार्य अभिषेक पाण्डेय
गोमतीनगर, लखनऊ

(०२)

श्रीरामभद्राचार्य के आत्मप्रशंसापरक तथा अप्रामाणिक वक्तव्यों पर काव्यकटाक्ष .....

बशर्त 'श्रौत-प्रमाणों' को ही मानता हूँ,
गोपी-पाणि को मैं कन्धे से नापता हूँ।
अयोध्या राम की या उत्तरकाण्ड हो प्रक्षिप्त,
ये बात मैं जैमिनी संहिता से जानता हूँ॥

ऋग्वेद से चालीसा तक कण्ठ पे लाया हूँ,
'राजपुत्र' को ही मैं 'ब्राह्मण-पुत्र' बनाया हूँ।
मैं असाधारण गुरु हूँ इस जगत् का,
दशसहस्र संख्या को तीस हज़ार पहुँचाया हूँ॥
दिन में दो लाख जप राम का करता हूँ,
शिव से सौ कोटि शास्त्रार्थ करता हूँ।
एक बार चुनौती सबको देकर देखो,
यही वो प्रतिभा है जिससे मैं चमकता हूँ॥
राम जी महाविष्णु हैं, विष्णु जी अलग हैं,
शेषनारायण से तो लक्ष्मण जी अलग हैं।
बालि को रामजी ने छिप कर नहीं मारा लोगों,
मेरी प्रतिभा की तरह ये कहानी अलग है॥
भीतर-बाहर के बन्धनों को तोड़ देता हूँ,
जो मन को भाए नहीं, उन ग्रन्थों को छोड़ देता हूँ।
मेरी प्रतिभा मुझे धोखा नहीं देती लोगों,
स्यमन्तकमणि को कोहिनूर से जोड़ देता हूँ॥
विवस्त्रा को विशिष्टवस्त्रा बताता हूँ,
योनि का अर्थ हृदय लगाता हूँ।
आनन्दभाष्य को भी प्रक्षिप्त मानता मैं,
'अशिक्षित गधों' की भूल को मिटाता हूँ॥
पुराणों को प्रमाण नहीं मानता,
पर हितोपदेश के श्लोक बताता हूँ।
शास्त्रों की शवयात्रा निकाल कर भी
उसे शिवयात्रा के रूप में दिखाता हूँ॥

*_*_*

सम्पादकीय

द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद्बुद्धस्तु पाखण्डगणप्रमादात्।
कल्किः कलेः कालमलात्प्रपातु धर्मावनायोरुकृतावतारः॥

भगवान् महासर्गादि में ब्रह्माजी के हृदय में शास्त्र को प्रकाशित करते हैं। जगत् की स्थिति के कारण और प्राणियों के साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयस के साधन धर्म की प्रकाशक शब्दराशि को शास्त्र कहते हैं। शास्त्रश्रद्धालु धार्मिकों में काम के उद्भव से विवेक और ज्ञान का ह्रास होने से धर्म को दबाकर अधर्म वृद्धि को प्राप्त होता है। आचार्य में अनिष्ठा और वेदादि शास्त्रों में अश्रद्धा इसका प्रथम चरण होता है। जगत् की स्थिति की रक्षार्थ धर्मरक्षण आवश्यक है। धर्मरक्षा के लिए शास्त्ररक्षण आवश्यक है। लोगों में शास्त्र में श्रद्धा की रक्षा ही शास्त्ररक्षा है, अन्यथा नित्य शास्त्रों को रक्षा की आवश्यकता ही नहीं। शास्त्र में अश्रद्धा नास्तिकता है। जो शास्त्रनिन्दा करे, तर्कों से शास्त्रप्रामाण्य पर प्रहार करे, शिष्टजन उसका बहिष्कार करें, ऐसा मनुस्मृति में कहा गया है, योऽवमन्येत इत्यादि। परन्तु जब नास्तिक ही स्वयं को छलबलादि से शिष्ट के रूप में ख्यापित कर लेते हैं, तो वे साम्प्रदायिक शास्त्रों सहित सम्प्रदायवित् शास्त्रज्ञों और शास्त्ररक्षकों को ही बहिष्कृत कर देते हैं और उन्हें बहुधा पीड़ित करते हैं, अतः उनका निग्रह अत्यावश्यक है।

भगवान् भी बहुशः एतदर्थ अवतार लेते हैं। भगवदवतार के प्रयोजनों के अनुकूल कर्म भगवदर्चनस्वरूप होने से महान् धर्म ही है, अतः नास्तिकों के निग्रहार्थ किये गए कर्मों के धर्ममार्गनिष्कण्टकत्व आदि दृष्टफलों के साथ साथ स्वर्गादि अदृष्टफल भी होते हैं। अतः समस्त राग, द्वेष, भय, लोभ, अविवेक आदि को त्यागकर अपने अभ्युदयनिःश्रेयसार्थ शास्त्ररक्षण का अनुष्ठान अवश्य करें। न करने पर दृष्टादृष्ट प्रत्यवाय भी शास्त्र से सिद्ध है। नव्यलौकायतिक आजकल आचार्य, संन्यासी, जगद्गुरु आदि का छद्मनामरूप धरकर शास्त्रों को प्रक्षिप्त कहते हैं। प्राचीन चार्वाक एक-एक वेदवाक्य का खण्डनात्मक भाष्य करके वेद का अप्रामाण्य नहीं बताते थे, अपितु जर्भरी, तुर्फरी जैसे कुछ ही शब्द दिखाकर ही और

दो-चार वाक्यों का मिथ्यार्थ करके ही वेदनिन्दा करते थे। फिर पूरे पूरे अध्याय, सर्ग, खण्ड, काण्ड, ग्रन्थ को प्रच्छन्न लौकायतिकों द्वारा प्रक्षिप्त कहने का दुष्परिणाम तो महाभयंकर ही सिद्ध होता है। परम्पराप्राप्त शास्त्र का एक शब्द भी यदि प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाएगा, तो सर्वशास्त्रों में अप्रामाण्य की कल्पना करके उसकी उपपत्ति अतिसरल हो जायेगी, ऐसी कुत्सित कूटनीति है। किसी मनुष्य पर कुपित होकर यदि उसके हाथ-पैर काट दिए जाएँ, तो वह अधिक समय जीवित नहीं रहता। शास्त्रद्वेषी प्रक्षिप्तवादियों का उद्देश्य यही है कि शास्त्र नष्ट हो जाएँ —

क्रुद्धो यो नाम यं हन्ति स तस्याङ्गानि कृन्तति।
कृत्ताङ्गस्य ततस्तस्य विनाशः कियता भवेत्॥ इति तन्त्रवार्त्तिके॥

नास्तिकों द्वारा शास्त्रप्रामाण्य के विरोध में उपस्थापित हेतुओं और उनसे भी निकृष्ट हेतुओं का ही प्रक्षिप्तवादिजन प्रयोग करते हैं। नास्तिकों के उन सभी आक्षेपों और अन्य भी कई दुरूह आक्षेपों का खण्डन पहले से ही पूर्वोत्तरमीमांसा के ग्रन्थों में उपलब्ध है। प्रक्षिप्तवादियों के सभी प्रलाप हमारे शास्त्रों, विशेषकर न्याय, मीमांसा, वेदान्त दर्शनों में आये पूर्वपक्ष, आक्षेपपक्ष से ही होते हैं, जिनका खण्डन सर्वश्री जैमिनि, व्यास, गौतम आदि ने सूत्ररूप में और सर्वश्री कुमारिलभट्ट, शंकराचार्य, उदयनाचार्य आदि ने विस्तृत रूप में किया। प्रक्षिप्तवादी आपस में ही शास्त्रपरिमाण और शास्त्रार्थ के विषय में एकमत नहीं हैं और उनमें निश्चयात्मक ज्ञानवान् कोई नहीं है।

कभी-कभी कोई १ श्लोक, कोई १० श्लोक, कोई पूरा अध्याय, कोई पूरा खण्ड, कोई पूरा ग्रन्थ ही प्रक्षिप्त मानता है। फिर एक एक व्यक्ति द्वारा कालान्तर में और भी कई वचनों को प्रक्षिप्त घोषित किया जाता है, कोई परिमाण नियत नहीं है। स्पष्टतः कोई नहीं कहता है कि अमुक सम्प्रदाय परम्परा से प्रमाण से अमुक शास्त्रों के ये ये वाक्य ही शिष्टपरिग्राह्य विद्यास्थानों के अंश हैं, अन्य सभी प्रक्षिप्त हैं। सभी ने अपने अपने लौकिक क्षुद्र प्रयोजनों के लिए प्रमाणभूत शास्त्रवचनों में हानोपादानोपेक्षाबुद्धियाँ रखते हैं। "जो कामनानुरूप ज्ञान कराये, वही प्रमाण है", ऐसा प्रमाणलक्षण और "कामनाबाधक ज्ञान का ज्ञापक अप्रमाण

है” ऐसा अप्रमाणलक्षण ही हृदय से ये सब प्रक्षिप्तवादी मानते हैं, वस्त्र, आहार आदि में प्रिय-अप्रिय की तरह। जबकि प्रमाणविज्ञान पश्चात् ही वस्तु की सप्रयोजनता-निष्प्रयोजनता का ज्ञान होता है। प्रयोजनवत्ता को या निष्प्रयोजनवत्ता को देखकर प्रमाणविज्ञान नहीं होता। जो वस्तु जिस स्वरूप में प्रमाणों से ज्ञात होती है, उसी स्वरूप में वह प्रयोजनवान् या अप्रयोजनवान होती है। अमीमांसकों को शास्त्रार्थसम्बन्ध और उनके स्वरूपों का ज्ञान नहीं होता, तो इसमें शास्त्र का क्या दोष? कोई अन्ध पुरुष ठूँठ से टकराकर गिर जाए, तो ठूँठ का अपराध नहीं है, वह तो पुरुष का ही दोष है —

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति।
॥ इति निरुक्तशास्त्रे ॥

यहाँ अन्धगजन्याय भी है। कई जन्मान्धों ने गजविषयक ज्ञान के लिए गज का स्पर्श किया। जिसने जिस अंग का स्पर्श किया, उसने उस अंगमात्र को ही हाथी का स्वरूप समझ लिया। कर्णस्पर्शी ने शूर्पसदृश, शुण्डस्पर्शी ने महासर्पसदृश, जंघास्पर्शी ने स्तम्भसदृश, पुच्छस्पर्शी ने रज्जुसदृश, इस प्रकार उतना उतना ही गज का स्वरूप बताया। फिर वे आपस में और गजरूपज्ञ स्वस्थचक्षु पुरुष से भी कलह करने लगे। तथैव वेदादि के शास्त्रार्थसम्बन्ध से अनभिज्ञ लोग भले ही स्वयं को शास्त्रज्ञ कहें, फिर भी वे शास्त्रों में अपने अपने अभीष्ट की सिद्धि करने वाले वाक्यों को ही देखते हैं, अन्य वाक्यों को वे देखकर भी नहीं देखते। वे आपस में कलह करते हैं और जो शास्त्रार्थसम्बन्ध के समग्र स्वरूप आदि को जानता है, उससे भी कलह करते हैं। इस न्याय के अनुसार एकमात्र समाधान तो यही है कि सभी जन्मान्धों को स्वस्थचक्षु की बात माननी पड़ेगी। तथैव असाम्प्रदायिकों को साम्प्रदायिकों की बात माननी ही पड़ेगी। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं है। इसी सिद्धान्त के सुखावबोधनार्थ श्रीनिग्रहाचार्य जी ने यह 'मूरख हृदय न चेत' ग्रन्थ लिखा है।

ग्रन्थनाम से प्रयोजन का ज्ञान हो जाता है। मूर्खों के लिए यह ग्रन्थ नहीं है। ऐसे मूर्खों के विषय में तो पहले ही श्रीशंकराचार्य ने गीताभाष्य में कहा है कि शास्त्र और उसके अर्थ की

सम्प्रदायपरम्परा से रहित होने के कारण शास्त्र में जिस अर्थ में जो बात कही है, उसे नकारता है और जो अर्थ कहीं है ही नहीं, उस अर्थ की कल्पना करता है, ऐसा आत्महत्यारा स्वयं तो मूढ़ है ही और अन्यों को भी मोहित करता है, अतः जो शास्त्र और उसके अर्थ के सम्प्रदाय को नहीं जानता है, वह समस्त शास्त्रों का ज्ञाता भी हो, तो भी मूर्खों के समान ही उपेक्षणीय है — आत्महा स्वयं मूढः अन्यांश्च व्यामोहयति शास्त्रार्थसम्प्रदायरहितत्वात् श्रुतहानिमश्रुतकल्पनां च कुर्वन्। तस्मादसम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेव उपेक्षणीयः। यही बात साधारण हिन्दुओं को सरलता से सोदाहरण समझाना ही प्रयोजन है। इसे समझ लेने पर कोई भी मनुष्य कभी भी ऐसे किसी प्रवञ्चक के जाल में स्वप्न में भी नहीं फँसेगा, न ही कभी स्वयं उस मार्ग पर जाएगा और न ही किसी अन्य की वैसी प्रवृत्ति को लेशमात्र भी सहन करेगा।

किसी शास्त्रप्रामाण्य की सिद्धि ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं है। शास्त्रप्रामाण्य तो पहले से सिद्ध और लोकप्रसिद्ध ही है। सिद्ध वस्तु को सिद्ध नहीं किया जाता, केवल अज्ञान दूर किया जाता है। किसी शास्त्रवाक्य का अन्य शास्त्रवाक्य से समर्थन दिखाने का प्रयोजन है गुणोपसंहार न्याय से उस विषय में सम्पूर्ण जानकारी बताकर अन्धगजन्याय से अल्पज्ञानजन्य भ्रान्ति का निवारण, ना कि प्रामाण्यसिद्धि। किसी प्रमाण के प्रामाण्य की सिद्धि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती है, अन्यथा उस दूसरे प्रमाण के प्रामाण्य की सिद्धि हेतु भी किसी तीसरे प्रमाण की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अन्तहीन श्रृंखला चल पड़ेगी। इसे अनवस्था दोष कहते हैं। प्रमाणों पर हुए आक्षेपों का खण्डन प्रमा, अप्रमा, प्रमाण, अप्रमाण, प्रामाण्यवाद आदि के दार्शनिक ज्ञान से होता है। परन्तु वह साधारण जनों के लिए दुर्विज्ञेय होने से आचार्यवर ने सरल मार्ग अपनाया है। मैं इस सम्पादकीय लेख में संक्षेप में दर्शनशास्त्र आधारित साधनोपालम्भ का यथामति प्रयत्न कर रहा हूँ। अधिकांश श्लोक भट्टपादकृतवार्त्तिक से हैं, अतः उनके नीचे पृथक् उल्लेख नहीं किया है।

न परीक्षितव्यं निमित्तं प्रत्यक्षादीनि हि प्रसिद्धानि प्रमाणानि तदन्तर्गतं च शास्त्रम्
अतस्तदपि न परीक्षितव्यम्। इति भगवानुपवर्षः॥

प्रमाणों की परीक्षा करणीय नहीं है। प्रत्यक्ष आदि ही प्रसिद्ध प्रमाण हैं और उनके ही अन्तर्गत शास्त्र है, अतः उसकी भी परीक्षा करणीय नहीं है। प्रमाण, अप्रमाण, प्रामाण्य, अप्रामाण्य सिद्ध वस्तुएँ हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के स्वरूप, शास्त्रों का स्वरूप, परिमाण, अर्थ सिद्ध वस्तुएँ हैं। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। इति महाभाष्ये॥ शब्द, शब्दों का अर्थ और शब्द और अर्थ में सम्बन्ध सिद्ध वस्तुएँ हैं। सिद्ध वस्तुओं में विकल्प, उत्सर्ग, अपवाद नहीं हो सकते। पुरुष की बुद्धि के अनुसार प्रमाण आदि की व्यवस्था नहीं होती है, उन प्रमाण आदि के अधीन ही उनकी व्यवस्था है। प्रमाण मानना, न मानना, अन्यथा मानना, शब्दों का अर्थ विकल्प से बता देना, किसी शास्त्र को किस अंश में प्रमाण मानना, किसी अंश में प्रमाण न मानना आदि व्यवहार सर्वथा अनुचित हैं। सिद्ध वस्तु के विषय में ऐसा व्यवहार मिथ्याज्ञान का द्योतक है। कर्तव्य पुरुषाधीन है, अतः लौकिक और वैदिक कर्म करना, न करना और अन्यथा करना कर्ता के अधीन है।

काशी जाना, काशी न जाना, पैदल जाना, घोड़े से जाना, रथ से जाना, इस प्रकार लौकिक कर्मों में और यज्ञ करना, सुरा न पीना, व्रीही से होम करना अथवा यव से होम करना, अतिरात्र में षोडशी ग्रहण करना, अतिरात्र में षोडशीग्रहण न करना, सूर्य उदय होने पर होम करना, सूर्योदय से पूर्व होम करना, इस प्रकार वैदिक कर्मों में विधि, निषेध, विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद का अवकाश है। परन्तु कोई भी सिद्ध वस्तु इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, है अथवा नहीं है, ऐसे विकल्पों का विषय वह वस्तु नहीं है। विकल्प पुरुषबुद्धि की अपेक्षा करते हैं। सिद्ध वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुषबुद्धि की अपेक्षा नहीं करता। वह तो उस वस्तु के ही अधीन है। काशी जाने और न जाने में पुरुषबुद्धि की अपेक्षा होती है, परन्तु काशी है या नहीं है या अन्यत्र है, इसमें पुरुषबुद्धि का क्या काम? काशी तो सिद्ध वस्तु है।

एक स्थाणु देखकर 'यह स्थाणु है या पुरुष है या कुछ अन्य है' – ऐसा ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं होता। 'यह पुरुष है' या 'यह अन्य है' यह मिथ्याज्ञान है। 'यह स्थाणु ही है', यह यथार्थज्ञान है, क्योंकि यह उस वस्तु के अधीन है। सभी सिद्ध वस्तुओं का ज्ञान वस्तु के अधीन है। उसी प्रकार प्रमाण आदि भी सिद्ध वस्तुएँ होने से उनमें किसी प्रकार का

विकल्प आदि सम्भव नहीं, उसमें पुरुषबुद्धि की अपेक्षा ही नहीं है। किसी प्रमाण को जानकर 'यह प्रमाण है या अप्रमाण है' ऐसा ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं। 'यह अप्रमाण है' यह मिथ्याज्ञान है। 'यह प्रमाण है' यह यथार्थज्ञान है। उसी प्रकार अप्रमाण आदि में भी समझें। प्रमाण की विशेषता यह है कि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः होने से उन्हें ज्ञान के साधारण कारणों से भिन्न अन्य किसी कारण, हेतु या प्रमाण से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान का स्वभाव है प्रामाण्य। परन्तु प्रमाण आदि सिद्धवस्तुओं के विषय में पुरुषबुद्धि और विकल्प आदि की अपेक्षा न होनेपर भी विकृतबुद्धि लोग स्वयं को रोकने में असमर्थ होते हैं और विभिन्न मतवादों को प्रकट करके प्रमाणों की परीक्षा आदि का ढोंग रचते हैं। वस्तुतः उनका उद्देश्य तो कामवश आसुर सम्पद का विस्तार ही है।

प्रक्षिप्तवादी कहते हैं, प्रमाणों की परीक्षा करनी ही होगी, क्योंकि व्यभिचार देखने को मिलता है। समय समय पर दुष्टों ने शास्त्रों में मिलावट की है और अधिकांश लोग अज्ञानवश उन प्रक्षिप्तशब्दराशियों को शास्त्र का अंश ही मानते हैं। परन्तु ऐसी प्रक्षिप्तशब्दराशियों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इसपर हम कहते हैं कि आप आत्ममुग्ध लोग प्रमाणों की परीक्षा करने से पहले अपने संशय की ही परीक्षा क्यों नहीं कर लेते? आप प्रमाणों से अधिक बलवान् अपने संशय को क्यों मानते हैं? आपके कथित संशय की निवृत्ति के लिए हम पहले प्रामाण्यसिद्धि क्यों करें? आपको पहले कोई ज्ञान हुआ। फिर आपने उस ज्ञान के साधन के प्रामाण्य पर संशय कल्पित कर दिया। फिर आप कहते हैं कि उस ज्ञान के साधन के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए न्याय प्रवृत्त हो, क्योंकि संशय उठ गया है। यह अन्याय है। आप ज्ञान के साधन में दोष न ज्ञात होने पर भी प्रामाण्य का ग्रहण तो करते नहीं हैं और संशय की कल्पना करके उस संशय को स्वतः ही ग्रहण कर रहे हैं। इससे तो आपका मत स्वतः-अप्रामाण्यवाद और परतःप्रामाण्यवाद ही सिद्ध होता है, जो कि स्पष्टतः बौद्धों का मत है।

जब आप सभी ज्ञानों के प्रामाण्य की परीक्षा करना चाहते हैं, तो आप पहले अपने संशय के संशयत्व पर संशय क्यों नहीं करते? जबतक संशय की परीक्षा आप नहीं कर लेते, तबतक संशय होना कैसे मान सकते हैं ? जबतक संशय ही सर्वसंशयविपर्ययरहित होकर

सुदृढ़ रूप से खड़ा नहीं हो जाता, तबतक आप ज्ञान के प्रामाण्य को बाधित कैसे कह रहे हैं ? पहले आपके संशय की प्रामाणिकता तो सर्वतः सिद्ध कीजिये, उसके बाद कहिये कि इस संशय के कारण अमुक ज्ञान के अमुक साधन की परीक्षा होनी चाहिए। आपका यह प्रमाणपरीक्षक स्वभाव तो आपके ही मत को गर्त में ले जाता है। आप यदि एक भी प्रमाण को परीक्षणीय मानते हैं, तो आपको स्वमत में सभी प्रमाणों को परीक्षणीय मानना ही पड़ेगा। सभी प्रमाणों को परीक्षणीय माननेवाले को प्रथम ज्ञान पर संशय कल्पित करने के बाद संशय के ज्ञापक प्रमाण की परीक्षा करनी होगी और फिर जिस प्रमाण से संशय के ज्ञापक प्रमाण की परीक्षा होगी, उस प्रमाण की भी परीक्षा करनी होगी और आगे भी इसी प्रकार परीक्षा चलती रहेगी। इस प्रकार आप अनवस्था दोष से अपने बनाये भँवर में डूब जाएँगे। परन्तु चूँकि अनवस्था दोष के कारण अनन्त काल तक प्रथमज्ञान के विरुद्ध कल्पित संशय का ही प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, तो वह ज्ञान अनन्त काल तक अबाधित ही रहेगा। आपके मत में वह बाधित भी रहे, इससे निर्णय नहीं होगा।

प्रमाणपरीक्षा की प्रवृत्ति का हेतु क्या बताया है आपने ? संशय। ऐसे में जब आपका हेतुभूत संशय ही आपके बताए अनुसार ही अपसिद्धान्त आदि दोषों से रहित कथा द्वारा सिद्ध नहीं होता है, तो आपके दुराग्रह से किसी भी ज्ञान को अन्यथा क्यों माना जाये ? जिस हेतु से आपने पूर्वपक्ष खड़ा किया है, उसकी अपसिद्धान्तादि दोषों से रहित सिद्धि न हो पाने की दशा में हमारा पूर्वोक्त सिद्धान्त बाधित नहीं हो सकता। वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि संशय भी किसी प्रमाण से ही उत्पन्न होना चाहिए, तभी न्याय प्रवृत्त किया जा सकता है। यदि वह कथित संशय वस्तुतः संशयाभास हो, तो न्याय की आवश्यकता ही नहीं है। मन ही मन कल्पना करके कुछ भी कह देने से संशय सिद्ध नहीं हो जाता। आपका यह संशयात्मवाद तो आपको प्रच्छन्नबौद्ध सिद्ध करता है। बौद्धों के मत में ज्ञान का स्वभाव है अप्रामाण्य और अपवाद है प्रामाण्य। तद्विपरीत वैदिक सिद्धान्त में ज्ञान का स्वभाव है प्रामाण्य और अपवाद है अप्रामाण्य। प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व के कारण प्रमाणों की परीक्षा नहीं हो सकती, परन्तु अप्रामाण्य परतः है, अतः अप्रामाण्य की किसी अन्य प्रमाण से सिद्धि करनी ही होगी। उत्तरकाल में जिसका बाध ही न हो, जो संशय विपर्यय रहित हो, ऐसा ज्ञान प्रमा ही है। जिसका बाध हो जाये, उसे कोई प्रमा नहीं कहता।

जिसका बाध न हो, उसे अप्रमा कह देना असत्यवादित्व है। श्लोकवार्त्तिक में कहा है कि सभी प्रमाणों का, केवल वेद का ही नहीं, सबका प्रामाण्य स्वतः ही है। वह स्वतः उत्पन्न और गृहीत होता है। यदि ज्ञान में उसके उत्पादक कारणों के द्वारा विषय के अवधारण में समर्थ प्रामाण्य रूपा शक्ति उत्पन्न नहीं होगी, तो वह किसी भी अन्य कारण के द्वारा ज्ञान में उत्पन्न नहीं की जा सकती और इस प्रकार समस्त जगत् अन्धकार में चला जाएगा —

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते॥
प्रत्ययोत्पत्तिहेतुत्वात् प्रामाण्यं नापनीयते।

ज्ञान के साधारण कारणों के रहते हुए प्रामाण्य का कोई निराकरण नहीं कर सकता। प्रामाण्य ही ज्ञानों का स्वाभाविक धर्म है, अप्रामाण्य अपवाद है। ज्ञानों में यह अपवाद दोषों से उत्पन्न होता है। जब तक उस ज्ञान के कारण में किसी प्रमाण से किसी दोष का एकदम निश्चयात्मक और संशयविपर्ययरहित ज्ञान न हो, तब तक उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। दोष के आक्षेप के अनन्तर जहाँ किसी हेतु से यह दोष निराकृत हो जाता है, उन सभी स्थलों में ज्ञान के साधारण कारणों के रहने से उनका प्रामाण्य दृढ़ हो जाता है। दोषों को छोड़कर अन्य कोई उसे हटा नहीं सकता। अतः गुण से जहाँ दोष का खण्डन हो जाता है अथवा दोष की सत्ता ही नहीं रहती, उन सभी स्थलों में प्रामाण्य निर्बाध है। लौकिक शब्दों में भी प्रामाण्य स्वतः ही है। वक्ता में रहनेवाले गुणों से दोषों का अपनयन मात्र होता है, प्रामाण्य की सिद्धि नहीं होती। प्रामाण्य तो पहले से सिद्ध ही है। यहाँ तक कि प्रमाणान्तरमूलता को प्रामाण्य का हेतु नहीं, दोषाभाव का हेतु ही मानते हैं। प्रामाण्य तो किसी भी ज्ञान के साधारण कारणों से ही उत्पन्न हो जाता है, प्रमाणान्तर से उसकी उत्पत्ति नहीं होती। फिर प्रमाण की परीक्षा कैसे सम्भव है ?

अन्यस्यापि प्रमाणत्वे सङ्गतिर्नैव कारणम्।
तुल्यार्थानां विकल्प्यत्वादेकं तत्र हि बोधकम्॥
सङ्गत्या यदि चेष्येत पूर्वपूर्वप्रमाणता। प्रमाणान्तरमिच्छन्तो न व्यवस्थां लभेमहि॥

एक प्रमाण से प्रमित अर्थ की दूसरे प्रमाण से पुष्टि प्रमाणों का सम्वाद है। किसी भी प्रमाण का प्रामाण्य ऐसे किसी सम्वाद के अधीन नहीं है। वस्तुतः एक प्रमाण में दूसरे प्रमाण का सम्वाद उसके प्रामाण्य का नाशक ही है सहायक नहीं, क्योंकि यदि अनेक प्रमाणों से किसी एक विषय का ज्ञान हो, तो वे सभी प्रमाण परस्पर निरपेक्ष होकर उस ज्ञान के करण होने से ही प्रमाण हैं, उन सभी प्रमाणों में से प्रत्येक में निरपेक्ष पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र प्रामाण्य ही है। यदि प्रमाण की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता होगी, तो फिर इस बाद वाले प्रमाण की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण चाहिए और फिर उसके लिए भी प्रमाण। इस प्रकार प्रमाण, प्रमाण का प्रमाण, प्रमाण के प्रमाण का प्रमाण, इस श्रृंखला का कहीं अन्त नहीं होगा, अनवस्था हो जाएगी। यह तो भारी दोष है। अतः एक प्रमाण का प्रामाण्य दूसरे प्रमाण के अधीन या सापेक्ष नहीं हो सकता।

जिसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है, उसे आप प्रमाण कैसे कह रहे हैं? वह तो स्वयं साध्य होने से प्रमाण से सिद्ध होने योग्य विषय है, ना कि प्रमाण है। प्रमाण तो स्वयं में प्रमाण ही रहता है, चाहे प्रत्यक्ष हो, अनुमान हो, शब्द हो या उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि हो। जिसे पहले ही प्रमाण के रूप में ग्रहण कर लिया, उसे पुनः किसी अन्य प्रमाण सिद्ध क्यों करना है? वह तो प्रमाण होने से पहले ही सिद्ध ही है, उसे अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। प्रामाण्य को परतः मानने वाले वास्तविक नैयायिक आदि का भी अभिप्राय यह कथमपि नहीं कि किसी प्रमाण के प्रामाण्य की पुष्टि के लिए उसी बात को किसी अन्य प्रमाण से भी जाना जाए। यह परतःप्रामाण्यवादियों का अभिप्राय कथमपि नहीं है। अपितु वे तो ज्ञान के साधारण कारणों से भिन्न कुछ विशेष गुणों से उस ज्ञान के साधन में प्रामाण्य की उत्पत्ति मानते हैं। वे जिन कथित गुणों से प्रामाण्य की पुष्टि करते हैं, वे भी तो न्यायदर्शन में स्पष्ट ही हैं। उनका प्रक्षिप्तवादियों के प्रलाप से दूर दूर तो कोई सम्बन्ध तो नहीं, विरोध अवश्य है। प्रक्षिप्तवादियों को अभिमत परीक्षा में तो स्वयं नैयायिक भी दोष मानेंगे।

कुछ असाम्प्रदायिक कहते हैं, वेद स्वतःप्रमाण हैं और स्मृति अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, शिक्षादि वेदाङ्ग, आर्युवेदादि उपवेद परतः प्रमाण हैं। स्मृति की परतःप्रामाण्यसिद्धि तो वे करने से रहे, परन्तु उनका कथन उन्हें असाम्प्रदायिक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। किसी एक मत में प्रामाण्य स्वतः और परतः दोनों ही प्रकार के नहीं हो सकते, अन्यथा संशय का प्रसङ्ग होगा। एक ही व्यक्ति एक ही पक्ष में दो विरुद्ध बात करे, यह अन्याय है। जिसके मत में किसी एक भी प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः हो, तो वह सबको स्वतः मानता है। जिसके मत में परतः है, वह सबको परतः मानता है। आस्तिकों में नैयायिक-वैशेषिक ही प्रामाण्य को परतः मानते हैं। ऐसे में वे वेद को भी परतःप्रमाण ही कहते हैं। स्वतःप्रमाण उनके यहाँ कुछ होता ही नहीं। पूर्वोत्तरमीमांसक केवल वेद को ही नहीं, अपितु वेद सहित प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव और स्मृति, पुराण आदि सभी प्रमाणों के प्रामाण्य को स्वतः ही मानते हैं। जैसे, गलकम्बलमत्त्व गौसामान्य का धर्म है। काली गौ हो या श्वेत, सभी गौओं में प्राप्त गलकम्बल तो उसमें भी रहेगा ही, उसमें कोई भेद नहीं रहेगा। तद्वत् प्रमाणसामान्य के इस धर्म में कोई भी भेद किसी एक मत में नहीं हो सकता। इससे तो यही सिद्ध होता है कि वेदों को स्वतःप्रमाण और स्मृतियों को परतःप्रमाण कहने वाले किसी भी दर्शन की परम्परा के अनुयायी नहीं हैं।

मीमांसाशास्त्र वेद के शुद्धतम सिद्धान्त को कहता है, अतः सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः ही है। जब सभी प्रमाणों की बात है, तो स्मृति कोटि के शास्त्र भी प्रमाण होने से उनका प्रामाण्य भी स्वतः ही है।

अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन्॥ पूर्वमीमांसा ६.२.२२॥ वेदतुल्या हि स्मृतिः। इति शाबरभाष्ये॥ स्मृतीनां वेदमूलत्वाद्वेदतुल्यता। इति टुप्टीकायाम्॥

मीमांसाशास्त्र प्रमाण रूप में परिगृहीत स्मृतियों को भी वेदतुल्य ही कहता है। दोनों के प्रामाण्य में भेद नहीं है, दोनों का प्रामाण्य स्वतः है। प्रथम तो लौकिक शब्दों के प्रामाण्य को और अन्य प्रत्यक्ष और तन्मूलक प्रमाणों के प्रामाण्य को भी स्वतः ही कहेंगे। उसके बाद ही तो वेद को स्वतःप्रमाण कहेंगे। अन्यथा बौद्धादि नास्तिक वेदों का स्वतःप्रामाण्य

कैसे मान लेंगे? जिस नित्य (अपौरुषेय वेद) अथवा कृतक (स्मृति आदि पौरुषेय) शब्दराशि से पुरुष की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का निर्देश किया जाय उसे 'शास्त्र' कहते हैं। शास्त्रप्रमाण के रूप में स्मृतियों का परिग्रह लोकप्रसिद्ध है—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥

प्रक्षिप्तवादी पुनः एक आक्षेप करेंगे कि प्रामाण्य तो स्वतः है, परन्तु जहाँ दोष दिखे, वहाँ अप्रामाण्य परतः ग्रहण करके मानना होगा। प्रक्षिप्तशब्दराशि के प्रामाण्य का बाध दोष के कारण ही कर रहे हैं। प्रक्षिप्त होना ही दोष है और इससे परतःअप्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। इसीलिए प्रक्षिप्त रूपी दोष की आशंका की निवृत्ति के लिए उन ग्रन्थों की परीक्षा करनी चाहिए। जिनमें दोष न दिखे, उनका प्रामाण्य निर्बाध रहेगा, परन्तु प्रक्षिप्तवचनों का प्रामाण्य निरस्त होकर उनमें अप्रामाण्य सिद्ध हो जाएगा।

परन्तु दोष की आशंका कहना वाचारम्भण मात्र है। संशय की मिथ्या कल्पना के अतिरिक्त यह आशंका कुछ भी नहीं है। इसका निराकरण पूर्ण में कर ही दिया है। किसी भी कथित वस्तु के नाम के कथन से कुछ नहीं होता। उसका लक्षण बताना पड़ता है और प्रमाणों से परीक्षा करनी पड़ती है। हम प्रक्षिप्तवादियों से पूछते हैं कि प्रक्षिप्तशब्दराशि का लक्षण क्या है और प्रक्षिप्तशब्दराशि में क्या प्रमाण है? आजतक किसी भी प्रक्षिप्तवादी ने कभी स्पष्ट रूप से प्रक्षिप्तशब्दराशि का लक्षण और प्रमाण नहीं बताया। दर्शन में शब्दप्रमाण का लक्षण कहा गया है। उसके विपरीत जो आप प्रक्षिप्तशब्दराशि बताते हैं, उसका लक्षण और प्रमाण आपको अवश्य ही कहना होगा। यदि कहो कि हम साम्प्रदायिकों ने शब्दप्रमाण का लक्षण बताया, परन्तु शब्दप्रमाण में क्या प्रमाण है, इसका कथन नहीं किया, अतः आप प्रक्षिप्तवादियों को भी हम प्रक्षिप्तशब्दराशि में प्रमाण का कथन करने के लिए हम बाध्य नहीं कर सकते। इसपर हम कहते हैं कि आपका प्रक्षिप्तवाद प्रामाण्यविचार नहीं, अप्रामाण्यविचार है। प्रमाण का प्रमाण नहीं होता, परन्तु अप्रामाण्यसिद्धि हेतु प्रमाण आवश्यक है। शब्दप्रमाण का प्रामाण्य तो स्वतः ही है, परन्तु

अप्रामाण्य परतः है। आप ग्रन्थ में प्राप्त शब्दराशि की मूलग्रन्थकार द्वारा रचना की प्रसिद्धि के अप्रामाण्य की कल्पना करते हैं, जिसे आपको सिद्ध करना होगा। अन्यविरचित होनेपर भी वह सर्वथा अप्रमाण ही है, अर्थात् शब्दराशिजन्य ज्ञान किसी अन्य ज्ञान से बाधित है, उसमें संशय या विपर्यय की प्रसक्ति है, यह भी आपको सिद्ध करना होगा।

जो शब्दराशि मूल ग्रन्थकार ने मूल ग्रन्थ में नहीं लिखी, जिसे बाद में किसी ने लिखकर मूल ग्रन्थ में जोड़ दिया और वह मूल ग्रन्थकार के नाम से प्रचारित हो गई और सम्प्रदाय के लोगों ने भी अज्ञानवश उसे मूल ग्रन्थ का भाग ही मान रखा हो, प्रक्षिप्तशब्दराशि का ऐसा लक्षण यदि आप कहते हैं, तो हम पूछते हैं कि ऐसी शब्दराशियाँ प्रसिद्ध हैं या अप्रसिद्ध? यदि प्रसिद्ध ही हैं, तो आपका कथन नहीं बन सकेगा कि अज्ञानवश साम्प्रदायिकों ने भी ग्रन्थांश मान लिया, क्योंकि उन शब्दराशियों के प्रसिद्ध होने से उनके निर्मूलत्व का ज्ञान तो सम्पूर्ण भारतवर्ष के साम्प्रदायिकों को उसी प्रकार होना चाहिए, जैसे बौद्धादि नास्तिकों के ग्रन्थों की वेदमत में अग्राह्यता का ज्ञान सभी को है। जो बात साम्प्रदायिकों में प्रसिद्ध ही है, उसके विरुद्ध कोई बात प्रसिद्ध हो नहीं सकती, तो विवाद क्यों होगा? यदि अप्रसिद्ध हैं, तो फिर ऐसे अज्ञात अर्थों पर चर्चा ही सम्भव नहीं। यदि कहो कि प्रसिद्ध होनेपर भी अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि की तरह इसमें आपसी मतभेद हैं, तो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। दार्शनिक मतभेद तो अनादिकाल से सर्व सम्प्रदायों में स्पष्टतः सप्रमाण ही प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सभी शास्त्रमूलक ही हैं। जबकि प्रक्षिप्तवाद के मूल में किसी एक व्यक्ति की कल्पना होती है। सब प्रकार के प्रक्षिप्तवाद किसी एक व्यक्ति द्वारा ही प्रचारित किये गए हैं। आपने स्वयं को भी अज्ञात अर्थ की ही मनमानी कल्पना की है। ये सब असत्य कल्पनाएँ हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि वे बड़े प्रतिभावान् हैं और प्रतिभा से ही वे शास्त्रों में प्रक्षिप्तशब्दराशि ढूंढ लेते हैं। प्रतिभा से शास्त्रवाक्यों के नए नए अर्थ निकालने की बात करते हैं। इसपर हम कहते हैं कि प्रतिभा कोई प्रमाण नहीं है। अपितु प्रतिभा तो प्रामाण्य की विघातक ही है। लोक में किसी भी व्यवहार में प्रतिभा का प्रामाण्य नहीं माना जाता। मनोरञ्जन के लिए काल्पनिक काव्य आदि में ही इसकी एक सहायक के रूप में उपयोगिता

है, परन्तु प्रमाण तो वहाँ भी नहीं माना गया है। प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। नये नये विचारों को स्फुरित करने वाली प्रज्ञा को, जो पहले न हो ऐसी वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। प्रमाण सिद्ध वस्तुएँ हैं, जबकि प्रतिभा नये का निर्माण करती हैं, यानी साध्य कोटि की वस्तु का यह निर्माण करती है। जिसका निर्माण किसी मनुष्य की बुद्धि ने स्फुरण करके किया हो, वह किसी भी प्रकार नित्य नहीं है। प्रतिभाप्रामाण्यवादी यदि शास्त्रसम्मत बात भी करे, तो भी ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वे वेद की नित्यता पर ही प्रहार करते हैं। म्लेच्छों ने तो वेदों को कुछ शताब्दी प्राचीन कहा है, परन्तु प्रतिभावादियों के यहाँ तो नित्य नवोन्मेष हो जाते हैं, जिससे उनके मत में शास्त्रप्रमाण की अतिशय अर्वाचीनता ही सिद्ध होती है। ऐसे में मैक्स मूलर आदि म्लेच्छ षड्यन्त्रकारियों से भी अधिक घातक ये प्रतिभावादी सिद्ध होते हैं।

प्रतिभाप्रामाण्यवादियों की स्थिति शाखामृग जैसी है। प्रतिभा संस्कार के अधीन है, ऐसा काव्यशास्त्र के आचार्य कहते हैं। पूर्वजन्म में किये गए कर्मों के अनुरूप इस जन्म में प्रारब्ध से जैसा संस्कार अन्तःकरण का रहता है, वैसी ही प्रतिभा होती है। पुण्यों और पापों के संस्कार के तारतम्य से सभी लोगों में सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों की तारतम्यता से बुद्धि के भेद होते हैं, अतः प्रतिभा के भी भेद हो जाते हैं। प्रतिभा में भेद होने से लोगों के प्रातिभज्ञान में भेद रहता है। एक ही व्यक्ति में, एक ही विषय में भिन्न भिन्न समय में उत्पन्न प्रतिभा में भेद होने से प्रमा का भेद हो जाएगा, वाक्यविषयक प्रतिभा में अर्थभेद और वाक्यभेद हो जाएगा। जबकि प्रमा का अर्थ है यथार्थ अनुभव, जो कि आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त प्रमाताओं में एक समान ही होती है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वाक्य से अग्निहोत्र के स्वर्गसाधन होने की प्रमा ब्रह्माजी से लेकर एक महानास्तिक तक सबको समान रूप से होती है, चाहे ज्ञाता इसे प्रमा रूपेण स्वीकार करे या द्वेषवश स्वीकार न करे, यही तो प्रमाणों की प्रमाणता है। जबकि प्रतिभा तो किसी एक व्यक्ति में भी स्थिर नहीं रहती। ये सब महान् दोष किसी सच्चे प्रवचनकर्त्ता में भी प्रवञ्चकत्व की केवल आशंका ही नहीं, अपितु सिद्धि भी कर सकते हैं। इस प्रकार भी प्रतिभा प्रमाण की विघातक ही सिद्ध है।

जो धर्म और ब्रह्म किसी मनुष्य की बुद्धिवृत्तिविशेष की उपज हों, ऐसे धर्म और ब्रह्म के बल पर पत्ता भी नहीं हिल सकता। जिनके मत में नित्य नये नये उन्मेष करके नये नये धर्म और ब्रह्म प्रकट होते रहते हैं, नये नये सत्य प्रकट होते रहते हैं, उनका मत फिल्म, सीरियल और कार्टून आदि के निर्माताओं को ही अच्छा लग सकता है, वास्तविक जीवन में उसकी अर्थवत्ता शून्य है और अनर्थजनकता बहुत अधिक है।

हम साम्प्रदायिक तो शास्त्रप्रामाण्यरक्षार्थ भी प्रतिभाप्रामाण्यवाद को कथमपि सहन नहीं कर सकते, फिर शास्त्रनिन्दार्थ प्रयुक्त प्रतिभा को तो परिहास में भी सहन नहीं किया जा सकता। प्रातिभज्ञान के प्रामाण्य का खण्डन पूर्वमीमांसा के श्लोकवार्त्तिक में भी किया गया है और केवल किसी मनुष्य की प्रतिभा के प्रामाण्य का खण्डन नहीं किया, अपितु भगवान् हिरण्यगर्भ की भी वेदविषयक प्रतिभा हो, तो भी वह नास्तिकों से वेदप्रामाण्य की रक्षार्थ भी कथमपि प्रमाण नहीं है, यह डिंडिमघोष किया है। सर्वात्मा परमपिता श्रीमन्नारायण की बात भी उनकी प्रतिभा के आधार पर नहीं मानी जा सकती, केवल शब्दप्रमाण के हेतु से मानी जा सकती है। फिर वेददेवगुरुद्रोही असाम्प्रदायिक मन्दमतियों की प्रतिभा का क्या ही कहना। जब शास्त्रों की व्याख्या के लिए प्रवृत्त हुए मीमांसाशास्त्र ने वेदप्रामाण्यरक्षार्थ भी भगवान् हिरण्यगर्भ आदि की भी प्रतिभा को प्रमाण मानने का खण्डन कर दिया, तो फिर प्रतिभा के आधार पर शास्त्र की अनर्गलप्रलापवद् व्याख्या स्वयं में ब्रह्महत्यातुल्य पातक ही सिद्ध है। बुद्धि को प्रमाणों की अनुगामिनी बनाया जाता है, ना कि प्रमाणों को बुद्धि के अनुगामी बनाया जाता है। प्रतिभावादियों के कथित प्रमाण बुद्धि के अनुगामी होने से अप्रमाण ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि बुद्धि में तो व्यभिचार स्पष्ट ही है और पूर्वपक्षी भी उसे मानते हैं। यदि बुद्धि व्यभिचरित न हो, तो दो पक्षों में वाद, जल्प, वितण्डा कथाएँ क्यों हों और उनमें साधनोपालम्भ, जय-पराजय ही क्यों हो?

कुछ लोग स्वयं को अथवा अपने आचार्य को अतिशय प्रतिभावान्, प्रज्ञावान्, विद्वान्, सर्वशास्त्रज्ञ अथवा सर्वज्ञ मानने के भ्रम में हैं। इसी आधार पर वे प्रक्षिप्तवाद का ढिंढोरा पीटते हैं। बौद्ध-जैन अपने आचार्यों के सर्वज्ञत्व की सिद्धि उनके ही बताए आगम से करते हैं और आगम का प्रामाण्य सर्वज्ञत्व के आधार पर मानते हैं। यहाँ अन्योन्याश्रय दोष है।

तद्वत् तथाकथित प्रतिभावान् लोग भी अपने मत के प्रामाण्य में प्रतिभा को हेतु बनाते हैं और अपनी प्रतिभा के प्रामाण्य में अपने ही उस विषवमन को आधार बनाते हैं, "देखो ! मैं अद्वितीय आचार्य हूँ। मैंने अमुक शास्त्र को प्रक्षिप्त कहकर अथवा अमुक पारम्परिक व्याख्या का खण्डन करके सनातन धर्म पर उपकार किया है और मैं प्रतिभावान् हूँ, अतः व्याख्या कर सकता हूँ और मैं अमुक रीति से विशिष्ट व्याख्या अथवा सुधार कर रहा हूँ, इसीलिए मुझे प्रतिभावान् जानो।" उनके अनुयायी भी कहते हैं, "हमारे आचार्य सर्वज्ञकल्प हैं, अतः उनका मत प्रमाण है।" फिर पूछा जाए कि आपके आचार्य सर्वज्ञकल्प हैं, यह ज्ञान आपको कैसे हुआ? तब वे कहते हैं, "उनका मत अमुक प्रकार का है, अतः वे सर्वज्ञकल्प ही सिद्ध होते हैं।" यह तो अन्योन्याश्रय दोष है। बौद्धों-जैनों जैसे प्रलाप करके शास्त्रप्रामाण्य पर आघात करनेवाले प्रच्छन्नबौद्धजैन ही सिद्ध हैं। बौद्धों ने बुद्ध के सर्वज्ञत्व को हेतु बनाकर बौद्धग्रन्थों को प्रमाण सिद्ध करना चाहा। तब हमारे आस्तिक आचार्यों ने कहा, बुद्ध यदि सर्वज्ञ है, तो "आस्तिकों के आचार्य कपिल सर्वज्ञ नहीं" इसमें क्या प्रमाण है? यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं, तो उनमें मतभेद कैसे है? अतः बुद्ध का सर्वज्ञत्व असिद्ध ही है और बौद्धग्रन्थ प्रमाण नहीं हैं, अप्रमाण हैं। वह उक्ति इस प्रकार है —

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥

जिन लोगों ने स्वयं को और अपने आचार्य को अतिशय प्रतिभावान्, प्रज्ञावान्, विद्वान्, सर्वशास्त्रज्ञ अथवा सर्वज्ञ मान रखा है, वे इसपर विचार करके अपना भ्रम दूर कर लें। यदि आपको अथवा आपके आचार्य को प्रक्षिप्तांश का ज्ञान हो गया है, आपकी या आपके आचार्य की ही यह अपूर्व खोज है, तो वर्तमान के अन्य साम्प्रदायिकों को, पूर्वाचार्यों को और प्रक्षिप्तवादियों के मत में जब वह कथित प्रक्षिप्तांश रचकर जोड़ा गया, तत्कालीन साम्प्रदायिकों, आचार्यों और शिष्टों को उनका ज्ञान नहीं हुआ, इसका क्या प्रमाण है? यदि दोनों ही पक्षों को ज्ञान है, तो फिर वह ग्रन्थ प्रक्षिप्त हुआ ही कैसे, उसे सबने माना ही कैसे, आप उसके खोजकर्त्ता कैसे, और इस विषय में यह विवाद ही कैसे? प्रक्षिप्तवादियों ने कभी इन प्रश्नों पर विचार ही नहीं किया है, अतः उनके पास उत्तर होना असम्भव है।

प्रक्षिप्तवाद पर हमारे इस आक्षेपों का अतिदेश नई नई व्याख्याएँ, असाम्प्रदायिक व्याख्याएँ करनेवाले भी अपने मत पर कर लें और उनसे स्वमत का खण्डन मान लें। आप प्रक्षिप्तवादी "तर्क" की बात करते हैं। आप कहते हैं कि अमुक बात तर्कसंगत नहीं है, आदि। तर्कलक्षण से अनभिज्ञजन ही ऐसी बातें कर सकते हैं। वैसे भी आपके कथित तर्कों में तर्कलक्षण ही घटित नहीं होता। पर्वत में धूमदर्शन होनेपर पर्वत के वह्निमान् होने के समर्थन में तर्क किया जाता है, “यह पर्वत अग्निरहित होता, तो धूमरहित भी होता।“ यह वाक्य साधु अनुमान का समर्थक और दुष्ट अनुमान का प्रतिषेधक है, अतः साधु अनुमान का अनुग्राहक है। व्याप्य के आरोप से जो व्यापक का आरोप होता है, उसे नैयायिकों ने तर्क कहा है। परन्तु प्रक्षिप्तवादियों ने कभी तर्कवाक्य, न्यायवाक्य, अनुमानवाक्य का प्रयोग नहीं किया। यदि वे किसी प्रमाण की परीक्षा के लिए ऐसा करेंगे भी, तो भी वह सर्वथा अनुचित होगा, क्योंकि प्रमाणों की परीक्षा होती ही नहीं है, ऐसा पूर्व में भगवान् उपवर्ष के वचन से कह चुके हैं। तर्कपरायण होकर तद्विरुद्ध वाग्व्यवहार नास्तिकों का लक्षण है। तर्क तो स्वयं में अयथार्थ ज्ञान होता है, अतः वह प्रमाण का विरोध नहीं कर सकता और ना ही तर्क से किसी प्रमाण के प्रामाण्य की परीक्षा हो सकती है। दुर्बलतम प्रमाण भी प्रबलतम तर्क को उसी प्रकार पीछे छोड़ देता है, जैसे स्वस्थ पुरुष यदि अतिमन्दगति से भी चले, तो भी मूर्च्छित पड़े श्रेष्ठतम धावक को पीछे छोड़ देता है। आपके लिए ही भट्टपाद ने तन्त्रवार्त्तिक में लिखा है कि जो प्रसिद्ध शास्त्र के शास्त्रत्व का तर्क से खण्डन करना चाहता है, वह तो उसी प्रकार वेद की नित्यता का भी इस तर्क से खण्डन करने लगेगा कि वेद अप्रमाण हैं, नित्य होने से, आकाशवत्। जैसे आकाश नित्य है, वैसे ही वेद को नित्य कहा जा रहा है, तो जैसे आकाश कोई प्रमाण नहीं है, वैसे ही वेद भी प्रमाण नहीं हैं–

प्रसिद्धमपि शास्त्रत्वं यस्तु तर्केण वारयेत्।
वेदस्यापि स नित्यत्वाद्व्योमवद्वारयिष्यति॥

प्रत्यक्ष से प्रक्षिप्तवाद सिद्ध नहीं हो सकता। इन्द्रियसन्निकर्ष से विद्यमान वस्तु का ही ज्ञान होता है। ग्रन्थकार द्वारा ग्रन्थोक्त अर्थों का वेदादि प्रमाणों से दर्शन और फिर लेखन भूतकाल की घटना है। आपने जिन वाक्यों को प्रक्षिप्त कहा है, उनकी रचना भी भूतकाल

में हुई और आपके अनुसार शास्त्रों में उन्हें घुसाया गया, वह भी भूतकाल की घटना है। फिर आप प्रत्यक्ष से उन्हें कैसे जान सकते हैं? लिखित हो या मौखिक, शब्दराशि तो प्रत्यक्षगम्य ही है। जब स्पष्टतः प्रत्यक्ष प्रमाण से यह जानने में आ रहा है कि अनेकपुरुषस्थ सम्प्रदाय परम्परा में उन शब्दराशियों को भी शास्त्रसंज्ञक विद्यास्थानों का भाग मानते हुए व्यवहार हो रहा है, ऐसे में इस प्रत्यक्ष के विरुद्ध कौनसा अन्य प्रत्यक्ष काम करेगा और अन्य कौनसा तर्क, अनुमान आदि इसका बाध करेगा? प्रत्यक्षप्रमाण प्रक्षिप्तवाद का साधक नहीं, अपितु प्रबल और शीघ्रगामी होकर प्रक्षिप्तवाद का बाधक अवश्य सिद्ध होता है। तथैव अनुमानादि प्रत्यक्षमूलकों की भी गति है।

अपने मत के अल्पांश की भी सिद्धि के लिए एक भी अनुमानवाक्य आजतक कोई भी प्रक्षिप्तवादी नहीं बता सका है। स्वमत में सन्दिग्ध माने हुए शास्त्र के एकदेश से उसी शास्त्र के अन्य एकदेश की प्रक्षिप्तसिद्धि कैसे होगी? कौनसा व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध करेंगे? हेतु और उदाहरण क्या और कहाँ से देंगे? ग्रन्थ में प्रत्यक्ष ही प्राप्त कई वचन ग्रन्थकार ने लिखे हैं और कई वचन ग्रन्थकार ने नहीं लिखे हैं, इस साध्य के साधर्म्य या वैधर्म्य के लिए कौनसा दृष्टान्त है? प्रक्षिप्तवादसिद्धि हेतु कोई भी निर्दुष्ट-अनुमान बन ही नहीं सकता। दुष्ट-अनुमान तो चार्वाक, बौद्ध, जैन भी दे ही देते हैं। यदि आप स्वयं को उस श्रेणी का मानते हैं, तो प्रक्षिप्तवादकथा का त्याग करके नास्तिकवादकथा आरम्भ करें। शास्त्र के प्रत्यक्षगम्य वर्णात्मक स्वरूप का बाध अनुमानादि से नहीं किया जा सकता।

परीक्षित अनुमान और परीक्षित शब्द से ही अपरीक्षित प्रत्यक्ष का बाध सम्भव है, जैसे अपरीक्षित प्रत्यक्ष से चन्द्र छोटा दिखता है, परन्तु वस्तुतः चन्द्र अतिदीर्घ है, अतः इस अपरीक्षित प्रत्यक्ष का बाध हो जाएगा। परन्तु शास्त्रों के वर्णात्मक स्वरूप के एकदेश का बाध हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष ज्ञान तो अतिशय परीक्षित है और केवल एक व्यक्ति द्वारा नहीं, वर्तमान के ही सहस्रों, लाखों, करोड़ों लोगों द्वारा परीक्षित है। भूतकाल में अनुमान की गति होनेपर भी उससे प्रक्षिप्तसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसका अवधारक कोई हेतु ही नहीं है। कोई घटना भूतकाल में नहीं हुई यह ज्ञान दुराग्रह करके केवल ज्ञातसम्बन्ध वाले विषयों में ही दिखाने का प्रयास किया जा सकता है।

जैसे, “पूर्वकाल में अग्नि शीतल नहीं थी”, ऐसा ज्ञान ही अनुमान से कोई दुराग्रही कह सकता है, क्योंकि अग्नि में उष्णता के सद्भाव और शीतलता के अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध ज्ञात है। परन्तु ग्रन्थकार द्वारा लेखन, अलेखन, अन्यथालेखन, प्रक्षिप्तशब्दराशि के लेखक द्वारा लेखन, अलेखन, अन्यथालेखन, प्रक्षिप्तशब्दराशि के लेखक के अधिकारानधिकार, ग्रन्थकार को और प्रक्षिप्तशब्दराशि के लेखक को ग्रन्थोक्त अर्थों के ज्ञान, अज्ञान, अन्यथाज्ञान आदि विषयों का कैसा सम्बन्धज्ञान आपको हो गया है, वह भी बिना उन सबके दर्शन के? मूलग्रन्थांशत्व और मूलग्रन्थांशत्वाभाव आदि अनेक द्वन्द्वों में अन्वय व्यतिरेक कैसे करेंगे? जिसे आप मूलग्रन्थ का अंश मानते हैं, उसके मूलग्रन्थांश होने में किसका अन्वय मानते हैं और उसके अभाव के लिए किसका व्यतिरेक मानते हैं और उनमें किस प्रकार का सम्बन्ध है, जो एक को मूलग्रन्थांश मानते हैं और अन्य को प्रक्षिप्त? जिसके अन्वय से किसी शब्दराशि का मूलग्रन्थांशत्व सिद्ध होता है, उसका व्यक्तिरेक आपने प्रक्षिप्त कहे गए शब्दराशि में दिखाया ही नहीं, जिससे कोई अनुमानाभास भी दिख सके। ऐसे ही अन्य सभी द्वन्द्वों में क्या कहेंगे?

जिन्हें आप प्रक्षिप्त कहते हैं, उनके विषय में तो सीधा-सीधा अनुमान बनता है कि वे सब वाक्य मूल ग्रन्थ के भाग अथवा शास्त्र ही हैं, शिष्टपरिगृहीत अथवा साम्प्रदायिक होने से, अन्य भागों अथवा विद्यास्थानों की तरह। जैसे उन्हीं ग्रन्थों के अन्य भागों और अन्य विद्यास्थानों को आप और हम सम्प्रदाय से ग्रहण करके मान रहे हैं, वैसे ही उसी सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त उन शिष्टपरिगृहीत वाक्यों को भी आपको मानना ही पड़ेगा, जिन्हें आप प्रक्षिप्त कहते हैं। तुल्यं च साम्प्रदायिकं (पूर्वमीमांसा १.२.८) इस न्याय का अतिदेश करके आपके ही विरुद्ध एक शास्त्रीय हेतुवाद हमने उपस्थापित कर दिया है।

अध्यायाऽनध्यायते गुरुमुखात्प्रतिपत्तिः शिष्योपाध्यायता च सर्वस्मिन्नेवज्ञातीयके
अविद्याऽर्थे तुल्यमाद्रियन्ते। स्मरणं च दृढम्। अतो न प्रमादपाठ इति।
इति तद्भाष्ये श्रीशबरस्वामिन्॥

अनर्थप्रेरक होनेपर भी शास्त्रवाक्य प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इस धर्मलक्षणसूत्र में अर्थः पद से अर्थतः सिद्ध होता है कि शास्त्र में अनर्थप्रेरक वाक्य भी हैं, जिन्हें धर्मज्ञापक नहीं मानना है। उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्चेति। इति तद्भाष्ये श्रीशबरस्वामिन्। वेद में अर्थ और अनर्थ दोनों के प्रेरकवाक्य हैं। ज्योतिष्टोम आदि स्वर्गादि सुखद फलवाले यज्ञ ही अर्थकारी होने से धर्म हैं। श्येन, व्रज, इषु आदि अभिचार कर्म हिंसा के उद्देश्य से किये जाते हैं और साध्यत्वेन की गई हिंसा का नरकादि दुःखद फल होने से वे श्येन आदि अन्ततोगत्वा अधर्म हैं। यदि अनर्थप्रेरक होने से ही शास्त्र प्रक्षिप्त सिद्ध होता हो, तो वेदों में श्येन, वज्र, इषु आदि यज्ञों के विधि, निषेध, मन्त्र, अर्थवाद को क्या कहेंगे? उन अनर्थप्रेरक वाक्यों को भी स्वाध्याय में पढ़ने पर ब्रह्मयज्ञ का अपूर्व फल मिलता ही है। वही पौरुषेयों की भी गति है।

अनर्थ से आप प्रक्षिप्तवादी यह समझते हैं कि भावना के तीन अंशों– साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता में से किसी एक अंश में भी आपके मन से प्रतिकूल कोई बात हो अथवा हिंसादि हों, तो अनर्थ हो गया। परन्तु अर्थ-अनर्थ अज्ञानमूलक नहीं, प्रमाणमूलक होना आवश्यक है। अन्यथा अज्ञानियों को तो शिवलिंग के दुग्धाभिषेक में भी अपव्यय रूपी अनर्थ दिखाई देता है। अर्थ-अनर्थ का ज्ञापक केवल शास्त्र ही है और शास्त्र यदि किसी दोषपूर्ण लगने वाले कृत्य का भी सुखद फल कहे, तो वह धर्म ही है। साध्य के आधार पर ही अर्थ-अनर्थ का निर्णय होता है। किसी कर्म का स्वरूप स्वयं में अर्थ-अनर्थ का हेतु नहीं है, अपितु उसका परिणाम अर्थ-अनर्थ का हेतु है। बलवदनिष्टसाधनत्वविशिष्ट तात्कालिक इष्टसाधन होने पर ही कोई द्रव्य, गुण, कर्म अनर्थ का हेतु कहा जा सकता है और यह ज्ञान भी निषेधवाक्यों से ही होता है। परन्तु सामान्यतः निषिद्ध द्रव्य, गुण, कर्म यदि किसी विशेष विधिवाक्य के अनुसार विशेषतः साधन और इतिकर्त्तव्यता अंशों में प्रयुक्त होकर सुखद साध्य का हेतु बने, तो वह धर्म ही है।

सामान्यतः निषिद्ध पशुवध में जो अनर्थहेतुता है, वह स्वर्ग रूपी साध्य के लिए पशुबलि के विधिवाक्य के कारण दूर हो जाती है और उससे कोई पाप नहीं लगता। जिनका स्वभाव ही तमोगुण के कारण अधर्मं धर्ममिति या मन्यते वाला हो गया है, वे तो सभी कर्मों में

दोष देखकर सबको अधर्म घोषित कर देंगे, क्योंकि समस्त कर्म चाहे वे स्वधर्म हो या अधर्म, त्रिगुणात्मक होने से उसी प्रकार दोषों से आवृत हैं, जैसे अग्नि धूम से आवृत रहती है — सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः। और सात्त्विक सुख प्रारम्भ में विष जैसा लगता है - यत्तदग्रे विषमिव। इस आधार पर तो सात्त्विक कर्म का त्याग तामसी लोग करेंगे ही, क्योंकि प्रारम्भ में विष जैसा लगेगा। परन्तु आस्तिकों के लिए तो भगवान् की यह आज्ञा शिरोधार्य है कि स्वधर्म में दोष होने पर भी उनका त्याग नहीं करना है, क्योंकि उन दोषों के कारण पाप नहीं लगता — सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। कुछ लोग दूसरों के उपकार-अपकार से धर्म-अधर्म का निश्चय करते हैं। परन्तु चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः में अर्थः पद का तात्पर्य परार्थ या स्वपरोभयार्थ नहीं, अपितु केवल स्वार्थ ही है। पुरुष की स्वयं की प्रीति के जनक वेदोक्त द्रव्य, गुण, कर्म में ही धर्मता है। परप्रीति, परोपकार, परानुग्रह धर्मलक्षण नहीं। न केवल मीमांसासूत्र, अपितु आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। "स्व" की स्थिति के अनुरूप अर्थ-अनर्थ का निर्णय होता है और तदनुसार स्वधर्म का निर्णय होता है। अर्थ और अनर्थ तो पुरुष के अभिप्राय के ही अधीन हैं, कारण कि मरण आदि की इच्छा से भी यज्ञों का विधान वेद में देखा जाता है—

पुरुषाभिप्रायतन्त्रौ ह्यर्थानर्थौ मरणादिकाम्येष्टिदर्शनात्।
इति बृहदारण्यकोपनिषच्छांकरभाष्ये॥

सुख अर्थ है, दुःख अनर्थ है। कई मनुष्य स्वयं के मरने के लिए यज्ञ करते हैं, क्योंकि उसके अभिप्राय (इच्छाविशेष) से देहत्याग करके अन्य अभीष्ट देहप्राप्ति सुखद है। वहीं कई मनुष्य इसी देह की दीर्घायु के लिए यज्ञ करते हैं। शास्त्र में दीर्घायु और मरण दोनों के लिए यज्ञ हैं। प्रमाणविज्ञान के अनन्तर यह तो पुरुष के अभिप्राय पर निर्भर करता है कि उसके लिए क्या अर्थ है और क्या अनर्थ। स्वरूपमात्र से कोई भी वस्तु अर्थकारी या अनर्थकारी नहीं होती है। भगवान् अथवा कोई अन्य महात्मा कोई ऐसा कर्म कर दें, जो सामान्य मनुष्य करेगा, तो उसे पाप लगेगा, इस आधार पर उस कर्म के ज्ञापक शास्त्र को प्रक्षिप्त कहने वालों को तो प्रथम तो जन्माद्यस्य यतः को ही प्रक्षिप्त कहना पड़ जायेगा,

क्योंकि भगवान् उत्पत्ति, स्थिति, संहार के कारण हैं। मनुष्य यदि किसी का संहार करेगा, तो उसे पाप लगेगा। यदि श्रीराम के मैरेयक नामक मद्य के सेवन को आप यह कहकर प्रक्षिप्त कहेंगे कि इससे प्रेरित होकर कोई मद्यपान करके उत्पात मचा देगा, अनर्थ कर देगा, इससे श्रीराम की छवि खराब होती है, तो फिर चारों वर्णों को रामायणश्रवण का अधिकार है और श्रीराम जी राजा बने थे, ऐसा रामायण में लिखा है। इस आधार पर आप तो यह भी कह देंगे कि अक्षत्रिय भी रामायण सुनकर राजा बनने की प्रेरणा लेकर स्वधर्म का अतिक्रमण करके अनर्थ कर देंगे, अतः श्रीराम का राजा बनना भी प्रक्षिप्त है ?

किसी शब्दराशि को शास्त्रविरोध अथवा प्रत्यक्षादिविरोध के आधार पर भी प्रक्षिप्तवादसिद्धि नहीं हो सकती। एक शब्दराशि का अन्य शब्दराशि से विरोध हो, तो किसी एक को प्रक्षिप्त नहीं कह सकते। एक ही व्यक्ति द्वारा दो परस्पर विरुद्ध बातें कहना असम्भव नहीं है। अभी विचार यह हो रहा है कि मूल ग्रन्थ में वह बात है या नहीं। उसका अपने अर्थ में प्रामाण्य अप्रामाण्य बाद में विचारेंगे। विरुद्ध कथन मात्र से यह नहीं कह सकते कि मूल ग्रन्थ में उसका अभाव है। विरोध तो दोनों का एक दूसरे से होता है, अतः यदि 'शब्दराशि क' से विरोध के कारण 'शब्दराशि ख' को प्रक्षिप्त कहते हैं, तो उसी रीति से 'शब्दराशि क' को क्यों नहीं कहते? दोनों में विरोध होने से दोनों ही प्रक्षिप्त हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कोई हेतु ही नहीं बन सकता। यदि दो बातों में विरोध होने पर यदि दोनों ही असत्य हैं, तो आपसे हमारा विरोध है, इस आधार पर आप स्वयं के मत को भी असत्य मानकर चुप क्यों नहीं बैठ जाते? परन्तु वस्तुतः शास्त्रों में परस्पर कोई ऐसा विरोध है ही नहीं, जिससे अप्रामाण्यसिद्धि होती हो।

शास्त्र में अज्ञानवश विरोध दिखता है, इसीलिए मीमांसाशास्त्र है। यदि विरोध न प्रतीत होता हो, सब इतना स्पष्ट हो कि पढ़कर या सुनकर ही निर्णय हो जाये, तो मीमांसा की क्या ही उपयोगिता रहे? विधिनिषेध में जहाँ द्वैध या विरोध हो, वहाँ तो दोनों ही विकल्प से अथवा शाखाभेद, आचारभेद, देशभेद, कालभेद, वर्णभेद, आश्रमभेद, आयुभेद, गुणभेद, लिंगभेद, निमित्तभेद, प्रकरणभेद आदि से व्यवस्था होकर एकदम मान्य रहते हैं। अतः विधिनिषेधवाक्यों में विरोध होने में कोई दोष ही नहीं है। रही बात मन्त्रार्थवाद और

मन्त्रार्थवादमूलक शास्त्रवाक्यों की, तो आप जो कह रहे हैं, वह बात पूर्वमीमांसा में पूर्वपक्षसूत्र में एकदम स्पष्ट ही है — शास्त्रदृष्टविरोधाच्च.१.२ ॥ शास्त्रविरोध, दृष्टविरोध, शास्त्रदृष्टविरोध, ये तीन प्रकार के विरोध कुछ वेदवाक्यों में दिखते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि वे वेदवाक्य अप्रमाण हैं। अन्यानर्थक्यात् ॥ १.२.४ ॥ अमुक वाक्य को प्रमाण मानने पर अमुक विधिवाक्य अनर्थक सिद्ध होगा, अतः प्रमाण न मानो। अभागिप्रतिषेधाच्च ॥ १.२.५ ॥ अप्राप्त का प्रतिषेध करने से स्वार्थप्रतिपादक न हो पाने से अमुक वाक्य स्वयं व्यर्थ है और अन्य विधिवाक्य को बाधित करता है। इस प्रकार आक्षेपकर्त्ता वेद के एक अंश के प्रामाण्य पर आघात करता है। आप मीमांसानभिज्ञ जन प्रक्षिप्तवाद के जो जो हेतु बताते हैं, वे सब हेतु नास्तिकों द्वारा वेद पर किये गए आक्षेपों के रूप में अथवा अन्य पूर्वपक्षों के रूप में मीमांसाग्रन्थों में मिल जाते हैं। अब आप स्वयं विचार करें कि प्रक्षिप्तवाद वस्तुतः नास्तिकवाद है या नहीं?

आगे उत्तरपक्ष में उन सबका खण्डन भी देख लें और उनका अतिदेश पौरुषेय ग्रन्थों के विषय में भी कर लें। अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ गुणवादस्तु ॥ रूपात्प्रायात् ॥ आदि सूत्र देखें। कई स्थानों पर तो ऐसा है कि जिस तात्पर्य में आप लोग शास्त्र को ग्रहण करके विरोध रहे हैं, उस तात्पर्य में शास्त्र है ही नहीं। जब वह तात्पर्य ही नहीं है, तो विरोध कैसे सम्भव है? यह तो अनुक्तोपालम्भ है। जो बात शास्त्र ने वास्तव में कही नहीं, उसे भी जबरन बताकर विरोध करना बड़ा दोष है। जैसे, शम्बूकवध का तात्पर्य आप शूद्र के शोषण में ग्रहण करते हैं और उसे प्रक्षिप्त कहते हैं। जबकि ऐसा नहीं है, वहाँ तो दण्ड में ही तात्पर्य है। गोपियों के वस्त्र चुराने का तात्पर्य आप यह मान लेंगे कि जो जो नग्न नहाये अथवा जो स्त्रियाँ नदी पर नहाएँ, उन्हें छेड़ने के लिए उनके वस्त्र चुराने के लिए प्रेरित किया जा रहा है, तो यह आपकी भूल है, शास्त्र की नहीं। कहाँ विधि है, कहाँ निषेध है, कहाँ अर्थवाद है, किनपर लागू होते हैं, किनपर नहीं होते, ये सब ज्ञान नहीं है, फिर भी आपको स्वेच्छा से केवल आक्षेप करना है। आप लोग तो कल से श्रीराम के राजा बनने को, युद्ध करने को, धनुषबाण धारण करने को भी प्रक्षिप्त कह देंगे, क्योंकि आपके अनुसार उसे पढ़कर भी सभी मनुष्य राजा बनने की, युद्ध करने की, शस्त्रास्त्र रखने की प्रेरणा लेंगे।

यदि लोग प्रेरित होकर ऐसा करने लगे, तो पृथ्वी पर अव्यवस्था फैल जाएगी। इतना ही नहीं, अक्षत्रिय और वर्णसंकर भी श्रीरामकथा सुनकर राजा बनने की और युद्ध करने की प्रेरणा लेकर स्वधर्म का अतिक्रमण कर देंगे। ऐसे अनर्गल प्रलाप करके तो सर्वशास्त्रों में आप दोष दिखा देंगे।

व्याकरण के आधार पर पौरुषेय शास्त्रों के वचनों की शुद्धता अशुद्धता का निर्णय नहीं हो सकता, तथैव प्रक्षिप्तसिद्धि भी असम्भव है। दोनों ही शास्त्र स्मृति कोटि के हैं। स्मृति में जहाँ स्पष्ट द्वैध हो, वहाँ दोनों तुल्य होने से विकल्प होते हैं। व्याकरणस्मृति में कहे गए शब्दानुशासन के अनुसार प्राप्त साधु शब्द और अन्य स्मृति में प्रयुक्त शब्द दोनों ही साधु हैं। विकल्प से दोनों का प्रयोग साधु ही है। किसी अन्य व्याकरणस्मृति में उस प्रयोग का नियम होगा, ऐसी अर्थापत्ति करनी होगी। जहाँ व्याकरणस्मृति से भिन्न प्रयोग किसी स्मृति या मान्य ग्रन्थ में प्राप्त हो, वहाँ व्याकरणस्मृति को ही अवकाश नहीं मिलेगा और उसका संकोच होगा, क्योंकि शिष्टव्यवहृत अनादि शब्दों का शिष्टों के व्यवहार के आधार पर व्याकरणस्मृति बनी है। शिष्टों की अनादि परम्परा में प्राप्त शब्दार्थसम्बन्ध का बाध कोई भी व्याकरणशास्त्र नहीं कर सकता। पहले से सिद्ध शब्द, अर्थ और शब्द-अर्थ के सम्बन्ध – इन तीनों के प्रयोग के नियमन के लिये व्याकरणशास्त्र प्रवृत्त होता है। शब्द, अर्थ और इन दोनों के सम्बन्ध की "सिद्धि" के लिये व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। शिष्टव्यवहार जब इतना बलवत् है, तो फिर उससे भी प्रबल परम्पराप्राप्त शास्त्रदृष्ट शब्द, उसका सम्प्रदायगम्य अर्थ और उनका सम्बन्ध तो अतिशयेन सिद्ध हैं। उनका बाध किसी भी व्याकरणस्मृति से नहीं हो सकता।

छन्द, काव्यशैली, गद्यशैली और पाठभेद भी प्रक्षिप्तसिद्धि के हेतु नहीं हो सकते। साम्प्रदायिक होने से सबकुछ मान्य है। जिसका सद्भावत्व प्रामाण्य का अवधारक नहीं, उसका अभावत्व अथवा अन्यथात्व प्रामाण्य का व्याघातक नहीं हो सकता। प्रामाण्य अप्रामाण्य के अवधारण में ऐसा कोई नियम ही नहीं है। अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक प्रमाण होता है। शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्। अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जानने में न आने वाले अर्थों का यथार्थ ज्ञान कराने वाले

शब्द को शास्त्र कहते हैं। आपके इन मनःकल्पित दोषों से कथित रूप से दुष्ट वाक्यों से क्या शब्दविज्ञान से अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ का ज्ञान नहीं होता? बिल्कुल होता है। गुरुमुख से उन वाक्यों का अर्थग्रहण होता है। अनेक गुरुओं और शिष्यों की परम्परा में उनका व्यवहार होता है। प्रमाणलक्षण और शब्दप्रमाणलक्षण में छन्द, काव्यशैली, गद्यशैली आदि का कोई उल्लेख ही नहीं है, जो किसी वस्तु में उनका व्यभिचार दिखाकर उस वस्तु का प्रमाण होना बाधित हो सके।

जो बात जिस वस्तु के तत्त्व की हेतु ही नहीं है, उसका व्यभिचार दिखाकर उस वस्तु को अन्यथा कह देना अन्याय ही है। पुरुष के दोषों से पौरुषेय शब्दराशि में अप्रामाण्य की सम्भावना है, परन्तु अपौरुषेय शब्दराशि में ऐसा कोई दोष सम्भव ही नहीं। इसीलिए अपौरुषेय नित्य मूलभूत शब्द के प्रामाण्य की रक्षा के लिए अभंग आनुपूर्वी रखकर सर्वत्र एकरूपता का नियम है। परन्तु वह नियम केवल वेद में ही लागू होता है, क्योंकि वेद के अप्रामाण्य का खण्डन अनादि अपौरुषेय होने के आधार पर करते हैं। वेदसंज्ञक शब्दराशि में एक भी अक्षर या स्वर भी इधर उधर होनेपर उस शब्दराशि की अनादिता और अपौरुषेयता बाधित हो जाएगी और मूल शब्दप्रमाण बाधित हो जायेगा। परन्तु वेदातिरिक्त स्मृति कोटि के पौरुषेय शास्त्रों के प्रामाण्य में शब्दराशि की अनादिता और अपौरुषेयता कोई हेतु ही नहीं हैं। उनकी स्वरूपतः नित्यता तो आस्तिकों को भी मान्य नहीं है, अतः वहाँ अभंग आनुपूर्वी और एकरूपता का नियम लागू नहीं होता। जब ये उनके प्रामाण्य के हेतु ही नहीं हैं, तो उनका व्यभिचार दिखाकर अप्रामाण्य की आशंका करना अनुचित है। उनके अप्रामाण्य के खण्डन का हेतु "कर्तृसामान्य" है और अप्रामाण्य के हेतु में आनुपूर्वी, पाठभेद, अनेकरूपता आदि की गणना ही नहीं है।

अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्॥ १.३.२ ॥

ऋषि आदि द्वारा रचित होना मात्र ही स्मृति के प्रामाण्य का हेतु नहीं है। उपलब्ध सम्प्रदाय परम्परा के लोगों में वेद और उन स्मृतियों दोनों का व्यवहार करने वाले लोग एक ही हैं, यह कर्तृसामान्य ही प्रामाण्य में हेतु है। प्रमाणविज्ञान तो उपलब्ध वस्तु से होता है। श्री

मनु आदि ऋषि तो सामान्य मनुष्यों की उपलब्धि के विषय ही नहीं हैं, फिर उनके किसी व्यवहार को आधार बनाकर प्रामाण्यनिर्णय कैसे करेंगे? अतः पाठभेद आदि की आपत्तियाँ निरस्त हुई। वैसे भी सभी सम्प्रदाय पाठभेदों को मानते हैं, छत्रकवदुत्पन्न असाम्प्रदायिक ही लोकप्रसिद्ध बात में दोष ढूंढ लेते हैं।

यदि कहो कि शब्दप्रमाण से ज्ञान हुआ, आपके गुरु ने कहा कि यह प्रक्षिप्त है। गुरु को इसका ज्ञान किस प्रमाण से हो गया? ऋग्वेद से लेकर शाबरमन्त्र तक कहीं भी ऐसा कोई अपौरुषेय वाक्य अथवा पौरुषेय आप्तवचन नहीं है, जो किसी शब्दराशि के प्रक्षिप्तत्व का ज्ञापक हो। शब्दप्रमाण केवल अन्य प्रमाणों से अनुपलब्ध अर्थ का ही ज्ञापक हो सकता है, परन्तु आपके मत में प्रक्षिप्तशब्दराशि ऐसी वस्तु नहीं है। यदि कोई आज मनुस्मृति के नाम से कोई मनःकल्पित श्लोक प्रचारित करने लगे, तो हमें उसके ज्ञान के लिए शब्दप्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि कहो कि दर्शनमूलक स्मृति से ज्ञान हो सकता है, इतिहास की तरह। इसपर कहते हैं कि अन्य बहुसंख्यकों की शास्त्रपरिमाण विषयक सम्प्रदायमूलक दृढ़ स्मृति के समक्ष यह छिन्नमूला स्मृति कहीं नहीं टिकती और आप भी किसी एक व्यक्ति की कल्पना को स्मृति कहकर स्वयं के साथ छल कर रहे हैं। स्वयं को ज्ञात सत्य की रक्षा के लिए वाद होता है, ना कि स्वयं को हृदय से ज्ञात असत्य की रक्षा के लिए। अन्यथा असत्यवादियों के अनर्गल प्रलाप से क्या भिन्न हुआ?

उपमान सादृश्य का ज्ञापक है, उससे तो प्रक्षिप्तवाद सिद्ध करने का प्रयत्न कुछ लोग इस प्रकार कर सकते हैं कि बौद्धों, जैनों, म्लेच्छों आदि के ग्रन्थों में प्राप्त बातों के सदृश कुछ बातें शास्त्रों में उन्हें दिखाई पड़ रही हैं। परन्तु यह कुतर्क यों खण्डित हो जाता है कि बौद्धों, जैनों, म्लेच्छों के ग्रन्थों के अप्रमाण होने अथवा अनर्थ के हेतु होने में उनका बौद्धजैनम्लेच्छागमत्व नहीं है, अपितु शिष्टपरिगृहीतशास्त्रविरोधित्व और शिष्टपरिगृहीतशास्त्रबाह्यत्व है। और ऐसे ग्रन्थों जैसी सामग्री यदि किसी शास्त्र में मिले, तो सादृश्यमात्र से शास्त्र अग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि पहले ही शिष्टों ने उसका परिग्रहण कर रखा है। बौद्ध, जैन, म्लेच्छ आदि के ग्रन्थ तो बाद में बने हैं, अतः उनमें वैसी सामग्री हमारे यहाँ से गई है, ऐसा मानना होगा। बौद्धादि मतों में जो कुछ श्रुतिसम्मत या

श्रुतिमूलक दिखाई दे, वह भी उसी प्रकार त्याज्य है, जैसे श्वान के चर्म से बने पात्र में रखा हुआ दूध अग्राह्य है। ऐसा कुमारिलभट्ट जी ने भी विस्तार से लिखा है। शिष्टपरिगृहीत शास्त्रों वाले प्रसङ्ग का मुख्य विषय ही यही है।

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्॥ न शास्त्रपरिमाणत्वात्॥
इति जैमिनीयसूत्रे॥
तेन कर्मानुरूप्यसामान्यतो दृष्टार्थापत्तिबलात् तदभिप्रायकल्पितधर्माभासमध्यपतितं सन्मूलमप्यहिंसादि श्वदृति निक्षिप्तक्षीरवदनुपयोग्यविश्रम्भणीयं च तन्मात्रोपलब्धं भवतीत्यवश्यं यावत्परिगणितधर्मशास्त्रेभ्यो नोपलभ्यते तावदग्राह्यं भवति॥
इति तन्त्रवार्त्तिके॥

ऐसे में जो परम्परावादी लोग बौद्ध आदि मतों के सत्य अहिंसा आदि को भी सर्वथा त्याज्य मानते हैं, वे उनके लिखे हुए अशास्त्रीय ग्रन्थों की एक पंक्ति को भी कैसे स्वीकार लेंगे ? कोई बौद्ध, जैन, म्लेच्छ आदि प्रलापी आकर मिलावट कैसे कर देंगे और करोड़ों लोग उसे स्वीकार कैसे कर लेंगे ?

अर्थापत्ति से भी प्रक्षिप्तवाद की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति है ही नहीं। यहाँ तो आपके ही विरुद्ध एक अर्थापत्ति बन रही है, वह यह कि आप असाम्प्रदायिक हैं। लाखों शास्त्रज्ञों-शिष्टों की प्रमा-स्मृति, लोकप्रसिद्धि के विरुद्ध जाकर कोई कह दे कि अमुक शब्दराशि प्रक्षिप्त है, तो शास्त्र में प्रक्षिप्तवाक्य होने की नहीं, अपितु उसी व्यक्ति के असाम्प्रदायिक होने की अर्थापत्ति होती है। देवदत्त दिन में नहीं खाता और फिर भी पहलवान बन गया, इससे अर्थापत्ति होती है कि वह रात में खाता है। आपने शास्त्र पढ़े हैं और आप उन्हें मिलावटी कहते हैं, जबकि वे सब शास्त्र साम्प्रदायिक हैं, इससे अर्थापत्ति होती है कि आप असाम्प्रदायिक हैं, फिर भले ही आप स्वयं को किसी भी मान्य सम्प्रदाय का बता दें। वैसे भी जब तक मूल ग्रन्थ में उस शब्दराशि का अभाव सिद्ध न हो, तब तक उपलब्ध शब्दराशियों के प्रक्षिप्त होने की अर्थापत्ति नहीं हो सकती है। जैसे जीवित देवदत्त का घर में अभाव जानने के बाद ही उसके बाहर होने की अर्थापत्ति हो सकती है, तद्वत्।

वैसी अभावसिद्धि भी असम्भव है, क्योंकि दृश्य के अदर्शन को अभाव कहते हैं, जबकि यहाँ तो जिसकी अभावसिद्धि करनी है, वह तो अदृश्य है ही, उसका आश्रय भी अदृश्य ही है। फिर अभाव कैसे सिद्ध होगा ? यहाँ अभावासिद्धि की प्रतिज्ञा करके अब आगे थोड़ा विस्तार से कहने जा रहे हैं।

आप घुमा-फिराकर कुछ भी कहें, अन्ततः मूल ग्रन्थकार विरचित मूल ग्रन्थ में शब्दराशिविशेष के अभाववाद में, मूलग्रन्थ की शब्दराशि और प्रक्षिप्तशब्दराशि में अन्योन्याभाववाद, मूलग्रन्थकार किंवा अधिकारी में प्रक्षिप्तशब्दराशिकर्तृत्वाभाव और प्रक्षिप्तशब्दराशिकार में मूलग्रन्थकर्तृत्वाभाव किंवा अधिकारित्वाभाव स्वरूप अन्योन्याभाववाद में ही प्रक्षिप्तवाद का पर्यवसान होता है। यह अभावकल्पना भी भूतकाल विषयक है, वर्तमान से इसकी सिद्धि नहीं होती। आपका कहना है कि मूल ग्रन्थ में वह शब्दराशि नहीं थी, बाद में किसी ने जोड़ दी, अर्थात् मूल ग्रन्थ में उस शब्दराशि का अभाव था, जो कि अभी दिखाई दे रही है। मूलशब्दराशि प्रक्षिप्त नहीं है और प्रक्षिप्तशब्दराशि मूल नहीं है। मूलग्रन्थकार किंवा कोई अधिकारी प्रक्षिप्तशब्दराशि का रचयिता नहीं है, प्रक्षिप्तशब्दराशि का रचयिता मूलग्रन्थकार किंवा कोई अधिकारी नहीं है। इस प्रकार के कथन अन्योन्याभाव को स्वीकारे बिना नहीं बन सकते। अतः प्रक्षिप्तवाद भावविषयक नहीं, अभावविषयक ही सिद्ध है और तदनुसार ही इसपर विचार करना पड़ेगा।

चक्षुविषयक अर्थ में घ्राणेन्द्रिय का क्या काम? तद्वत् अभावविषयक वाद में आप प्रत्यक्ष, अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से क्या ही सिद्ध कर सकेंगे? लोकव्यवहार में जब कहा जाता है कि यह घड़ा पहले यहाँ नहीं था, इसे किसी ने यहाँ रख दिया। परसों इस पौधे में पुष्प नहीं थे, आज पुष्प हैं। ये सब ज्ञान कैसे होते हैं? आपका कथन भी ऐसा ही है। किसी ग्रन्थ के अंशरूप में प्रसिद्ध शब्दराशि के विषय में आपका कहना है कि मूल ग्रन्थ में यह शब्दराशि नहीं थी। जिस रीति से पूर्वोक्त प्रकार के ज्ञान होते हैं, उसी रीति से आपको प्रक्षिप्तशब्दराशि का ज्ञान होना आवश्यक है। "नास्ति" ऐसा ज्ञान अभाव प्रमाण से ही होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति प्रमाणों से नहीं हो सकता।

प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति में से किसी में भी अभाव का अन्तर्भाव नहीं है, अभाव अलग से एक प्रमाण है, यह सिद्ध है। ऊपर जो प्रत्यक्ष आदि से प्रक्षिप्त का खण्डन है, वह तो इसलिए है कि अन्तर्भाव के दुराग्रही को भी अवकाश न मिले।

अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति इन भावप्रमाणों से नहीं हो सकता, उसके लिए तो पृथक से अभाव प्रमाण है। परन्तु अभावप्रमाण से भी प्रक्षिप्तवाद सिद्ध नहीं हो सकता और सर्वप्रमाणाभाव सर्वप्रमाणविरोध के कारण प्रक्षिप्तवाद का ही अभाव सिद्ध हो जाता है। दृश्य का अदर्शन ही अभाव है। जो दृश्य हो, उसी का अदर्शन आप जान सकते हैं। जिसका दर्शन आपको सम्भव नहीं, उसका अदर्शन कैसे कह सकते हैं? उससे भी एक स्तर नीचे गिरकर आप तो उस आश्रय में अभाव कल्पित करते हैं, जिस आश्रय का भी दर्शन आपको सम्भव नहीं। ग्रन्थकार द्वारा मूलग्रन्थलेखन और ग्रन्थकार के पास उपलब्ध उसकी मूलप्रति का दर्शन आपको नहीं हो सकता। अभाव तो दूर की बात है, आपके मनःकल्पित अभाव के आश्रय का ज्ञान भी आपको नहीं हो सकता, तो फिर उस आश्रयभूत मूलग्रन्थ में उन कथित प्रक्षिप्तशब्दराशियों का अभाव आपने कैसे जान लिया ?

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षणात्॥
स्वरूपमात्रं दृष्ट्वापि पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि।
तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते॥

आश्रयस्वरूप वस्तु की सत्ता का ज्ञान एवं प्रतियोगियों का स्मरण होता है, उससे मन से अभावज्ञान होता है, इन्द्रियों की इसमें अपेक्षा नहीं है। जहाँ कोई पुरुष केवल स्वरूप को ही देखता है, वहाँ प्रतियोगियों को नहीं देखता। अतः प्रतियोगियों का स्मरण सम्भव न होने के कारण उनके अभाव का ग्रहण भी सम्भव नहीं होता। जैसे, कोई व्यक्ति १० बजे किसी निर्जन कक्ष को देखता है, तो वह केवल खाली कक्ष को ही देखकर चला जाता है। तदनन्तर यदि कोई उससे पूछता है, "जब आप वहाँ थे तो उस कक्ष में कोई अन्य मनुष्य वहाँ था?" तब वह पुरुष पूर्वाधिगत कक्ष का स्मरण करके अन्य मनुष्य के अभाव का उसी

समय अनुभव करता है, जिसका पूर्व से अनुभव नहीं था और कहता है, "वहाँ कोई अन्य मनुष्य नहीं था।" पहले ज्ञात न रहने के कारण अभाव का स्मरण भी नहीं हो सकता। उस समय अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता।

उदाहरणतः मैंने किसी कागज पर लिख दिया, "श्री राम जय राम जय जय राम।" १०० वर्ष बाद कोई जोड़ दे, "पतितपावन सीताराम।" अब उपलब्ध शब्दराशि है, "श्रीराम जय राम जय जय राम पतितपावन सीताराम।" परन्तु ये जो "पतितपावन सीताराम" जोड़ा गया है, इसका मूल लेखक द्वारा लिखित शब्दराशि में अभाव है, इसका ज्ञान कैसे होगा? प्रथम तो यह ज्ञान होना चाहिए कि केवल "श्री राम जय राम जय जय राम" ही मूलतः मैंने लिखा है। यह तो तभी सम्भव है जब मैं स्वयं अथवा मेरी परम्परा के आप्त लोग ऐसा कहें। फिर जब मिलावट किया हुआ "श्री राम जय राम जय जय राम पतितपावन सीताराम" देखें, तब यह पूछने पर कि मूल शब्दराशि में "पतितपावन सीताराम" है या नहीं? तब स्मरण हो कि वहाँ यह शब्दराशि नहीं है, उसके बाद ही तो यह ज्ञान होगा कि मूलशब्दराशि में उसका अभाव है। इसके लिए प्रथम तो विशुद्धमूलशब्दराशि की प्रमा होनी चाहिए और उसकी दृढ़ स्मृति होनी चाहिए। ऐसे में तो कोई विवाद ही सम्भव नहीं है, क्योंकि सबको यह ज्ञात रहता है कि मूल क्या है और मूल से भिन्न कुछ दिखने पर तुरन्त स्मरण के बाद यह अभावप्रमा हो जाती है कि प्रस्तुत शब्दराशि का इतना अंश मिलावटी है और इतना अंश मूल है।

इसके उलट आपके प्रक्षिप्तवाद की दुर्गति यह है कि सम्प्रदायपरम्पराप्राप्त ग्रन्थ से आप प्रमात्मक ज्ञान मान नहीं सकते, अप्रमा माननी पड़ेगी और मूल ग्रन्थकारों और उनके द्वारा लिखित मूल ग्रन्थों की उन मूल रचयिताओं के ही सदुपदेश से आपको प्रमा नहीं हुई है, जिसका स्मरण आपको हो सके, फिर भी आप भूतकालस्थ आश्रयभूत मूल ग्रन्थों में किसी शब्दराशि के अभाव की कल्पना कर रहे हैं। जबकि लोकप्रसिद्धि तो यही है कि साम्प्रदायिकों में वे शब्दराशि मूलग्रन्थांश ही मान्य हैं। यह तो अभावप्रमाण की रीति नहीं है। जिस आश्रयभूत वस्तु की सत्ता का ग्रहण आपको हो ही नहीं सकता, उसमें अभाव की कल्पना कैसे हो सकती है? आपको तो परम्परा से ही पता चला है कि यह अमुक पुरुष

द्वारा विरचित ग्रन्थ है अथवा यदि वह अपौरुषेय है, तो अनादि शब्दराशि है। फिर मात्र उसी के ज्ञान के बाद तद्भिन्न उसके किसी तथाकथित मूलस्वरूप का ज्ञान आपको कैसे हो गया, जिसमें उपलब्ध ग्रन्थ की ही कई शब्दराशियों का अभाव हो ?

कथित प्रक्षिप्तशब्दराशि से होनेवाला अर्थज्ञान किसी अन्य ज्ञान से सर्वथा बाधित है, अतः अप्रमाण है, यह आप प्रक्षिप्तवादी कैसे कह सकते हैं ? आप तो उस शब्दराशि को ग्रन्थांश ही नहीं मानते, तो फिर उसके तात्पर्य का ज्ञान आपको कहाँ से हो गया? शब्दप्रमाण तो सम्प्रदायैकगम्य है। आप तो उस शब्दराशि को ग्रन्थांश मानने वाली परम्परा को सम्प्रदाय परम्परा कहने के अधिकारी नहीं हैं। फिर अन्य शब्दराशियों से उसका विरोध कैसे दिखा सकते हैं? वे अन्य शब्दराशि, जिन्हें आप मूल ग्रन्थ के अंश मानते हैं, उनका ज्ञान आपको कैसे हो गया? जब ज्ञान ही नहीं हुआ, तो उनसे विरोध आदि की कल्पना कैसे करते हैं? आप समस्त प्रक्षिप्तवादियों में एक समानता है कि लिखे हुए को पढ़कर ही ये निर्णय कर लेते हैं। किसी योग्य आचार्य से आपको उपदेश प्राप्त नहीं होता। अतएव आप सब सम्प्रदाय का लेश भी नहीं जानते। तन्त्रवार्त्तिक में कहा है, अन्याय से पढ़कर वेद जानने पर, बिना आचार्य के केवल लिखे हुए शास्त्र को पढ़कर और शूद्र द्वारा जानने पर धर्म का ज्ञान नहीं होता –

यथैवान्यायविज्ञाताद्वेदाल्लेख्यादिपूर्वकात्।
शूद्रेणाधिगताद्वापि धर्मज्ञानं न सम्मतम्॥

यदि कहो कि आप हम साम्प्रदायिकों के ही शब्दार्थसम्बन्धज्ञान का अनुवाद करके आप आक्षेप करते हैं, तो वह भी असिद्ध ही है। आप जिन्हें प्रक्षिप्त कहते हैं, उनका सही तात्पर्य आपको ज्ञात ही नहीं होता, तभी तो कई शास्त्रों से तत्सम्बन्धी अन्य कई वाक्यों को गुणोपसंहारन्याय से एकत्रित करके दिखाकर बताया जाता है कि किस प्रकार सबकुछ साधु है। यदि आपको हमें मान्य शब्दार्थसम्बन्ध का ज्ञान ही होता, तो आप हमारे पूरे पक्ष को रखकर उसके बाद कुछ कहते। परन्तु आप अपने पूर्वपक्ष अर्थात् हमारे पक्ष को कभी ठीक से रखते ही नहीं हैं। जबकि हम तो सब प्रकार से सम्भव पूर्वपक्षों को कल्पित करके पहले ही खण्डित कर चुके हैं। यदि फिर भी आप यह कहें कि हम साम्प्रदायिकों को मान्य अर्थ

पर ही आप पाषाणहृदयों का आक्षेप है, तो उसका खण्डन पूर्वमीमांसा के औत्पत्तिकसूत्र से हो गया। शास्त्रैकगम्य अर्थ अन्य प्रमाणों से अनुपलब्ध हैं। अतः अन्य प्रमाणों से उनका बाध असम्भव है। हर प्रमाण अपने अपने विषय में प्रवृत्त होता है। किसी अन्य प्रमाण के विषय को कोई अन्य प्रमाण बाधित नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष प्रमाण में ही देख लें कि चाक्षुषप्रत्यक्ष को घ्राणजप्रत्यक्ष बाधित नहीं कर सकता।

यथा विज्ञायते न तथा भवति यथैतन्न विज्ञायते तथैतदिति। अन्यदस्य हृदये अन्यद्वाचि स्यात्। एवं वदतो विरुद्धमिदं गम्यते अस्ति नास्ति वा इति।
इति शाबरभाष्ये॥

जो कहता है कि शब्दराशि से उसे अर्थज्ञान तो हुआ है पर फिर कहता है कि वह अर्थ वैसा नहीं है, तो जिसे उसने जाना है उसी को "नहीं है" कहना अत्यन्त विरुद्ध कथन है। जैसा अर्थज्ञान हुआ है, वैसा वह अर्थ नहीं है और जैसा अर्थज्ञान नहीं हुआ है, उसके विपरीत जाना गया है, यह स्वीकार करने पर कहने वाले के हृदय में अन्य बात है और वाणी में अन्य बात है, यह कहना होगा। उदाहरणतः "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस विधिवाक्य का तात्पर्य है कि अग्निहोत्र स्वर्ग का साधन है अतः जिसे स्वर्ग की कामना है, वह अग्निहोत्र करे। इस विधिवाक्य को पढ़कर या सुनकर यही अर्थ जानने में आता है, फिर चाहे कोई उस ज्ञान काल में वेद को प्रमाण न स्वीकारता हो या अप्रमाण मानता हो।

अग्निहोत्र की स्वर्गसाधनता का ज्ञान होने पर भी कोई कहे कि अग्निहोत्र स्वर्गसाधन नहीं है अथवा स्वर्ग ही नहीं है, और अग्निहोत्र के स्वर्गसाधन न होने का यथार्थ ज्ञान न होने पर भी कोई कहे, "अग्निहोत्र स्वर्ग का साधन नहीं है।" तब उसे स्वीकारना होगा कि उसे यह यथार्थ ज्ञान है कि अग्निहोत्र स्वर्ग का साधन नहीं है, अन्यथा उसने कैसे कह दिया? यदि कहता है कि उसके पास इसका प्रमाण है, तो उसे अवश्य ही देना होगा। अन्यथा वह फँस गया, क्योंकि जो ज्ञान उसे हुआ ही नहीं, उसे भी उसने कह दिया, "मैं यह जानता हूँ।" यह स्वीकार करने पर इसके हृदय में अन्य बात है और वाणी में अन्य बात है, यह कहना होगा।

इस प्रकार प्रक्षिप्तवाद सर्वतः असिद्ध ही सिद्ध होता है। यह ग्रन्थ और यह लेख यथामति पूर्ण सावधानी से लिखे गए हैं और हर कथन का प्रमाण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दिया गया है। फिर भी यदि इनमें कोई दोष दिखाई पड़े, तो वे उपेक्षणीय हैं, क्योंकि शास्त्रानुसारी यह मार्ग सज्जनों का है। सन्मार्ग पर चलनेवाले गिरने पर भी निन्दनीय नहीं होते। कोई रचना अल्पसार होनेपर भी यदि वेदमार्गानुसारिणी है, तो फिर वह रचना दोषयुक्त होनेपर भी शोभनीय ही है।

आगमप्रवणश्चायं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥
यथाकथञ्चिदारब्धा त्रयीमार्गानुसारिणी।
वाग्वृत्तिरल्पसारापि श्रद्दधानस्य शोभते॥

नारायणस्मृतिः

सम्पादक
(वैश्यकुलोद्भूत) क्षितिज सोमानी

--*

मूरख हृदय न चेत – भूमिका

विद्वज्जनों को ज्ञात है कि स्वयं को जगद्गुरु एवं सर्वज्ञ मानकर सनातन धर्म के सिद्धान्तों एवं ग्रन्थों पर अक्षम्य आघात करने वाले श्रीरामभद्राचार्य के विरुद्ध जब हमने लेखन प्रारम्भ किया था तो उन लेखों के फलस्वरूप *"उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श"* नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ था। उस पुस्तक में हमने सनातन धर्म के दो सौ से अधिक शास्त्रीय प्रमाणों एवं सिद्धान्तों के आधार पर श्रीरामभद्राचार्य के मत का खण्डन करके धर्ममार्ग की रक्षा का प्रयास किया था। मेरे खण्डन से क्षुब्ध होकर श्रीरामभद्राचार्य ने पूर्व में प्रकाशित उनकी पुस्तक को विस्तृत एवं और भी अधिक विकृत भ्रामक रूप देते हुए *"सीता निर्वासन और शम्बूकवध नहीं"* नाम से प्रकाशित करवाया।

हमें जब इसकी सूचना प्राप्त हुई, उस समय इसका विमोचन सम्भवतः अमेठी में हो रहा था। अमेठी के ही एक मान्य महाविद्यालय के शिक्षक बन्धु ने हमें इसकी सूचना दी एवं कहा कि यहाँ के विद्वान् श्रीरामभद्राचार्य के मत और तर्कों से सन्तुष्ट नहीं हैं अतएव आप इनका पुनः प्रतिखण्डन करें। पाठकों ! एक लोकोक्ति है कि जब तक सत्य अपने घर से बाहर निकलता है, तब तक असत्य आधा संसार घूम चुका होता है। इस स्थान पर भी श्रीरामभद्राचार्य के द्वारा फैलाये जा रहे असत्य का व्यापक प्रचार देखकर वैभव क्षेत्रज्ञ आदि ने कहा कि "क्या इनके प्रलाप का प्रतिरोध करने वाला कोई शेष नहीं बचा ? शंकराचार्य, वैष्णवाचार्य आदि धर्माधिकारियों को इनका निग्रह शीघ्र ही करना चाहिए।"

कुछ समय के बाद शेष समुदाय के मौन को देखते हुए मैंने एक बार पुनः श्रीरामभद्राचार्य के अशास्त्रीय लेखन एवं निन्दनीय भ्रम का प्रतिकार करने का निर्णय लिया एवं वैभव क्षेत्रज्ञ से कहा - "चिन्तां मा कुरु क्षेत्रज्ञ ! निग्रहोऽहं महीतले।" इसके बाद हमने अमेठी से वह पुस्तक मंगायी एवं प्राप्त होने के आधे घण्टे के भीतर ही उसे पढ़ भी लिया और मानसिक प्रतिखण्डन भी कर दिया। प्रस्तुत पुस्तक "मूरख हृदय न चेत - सीतानिर्वासन एवं शम्बूकवध सही" उसी प्रतिखण्डन से युक्त है। इसमें हमने पहले श्रीरामभद्राचार्य की

पुस्तक के कुतर्कों को यथावत् सम्मिलित किया है और फिर उसके बाद अपने प्रतिखण्डन को लिखा है। यद्यपि अपनी पूर्वलिखित पुस्तक में मैंने प्रत्येक सम्भव प्रश्न एवं आक्षेप का प्रमाणपूर्वक समाधान कर दिया था किन्तु बालबुद्धि वाले प्रतिपक्षियों के हठ, दम्भ एवं अज्ञानान्धकार के कारण हम पुनर्लेखन को प्रस्तुत हुए हैं।

श्रीरामभद्राचार्य का पुरोवाक्

नमः सीताभिरामाय रामायाक्लिष्टकर्मणे।
श्यामाय पूर्णकामाय कौशल्यानन्दवर्धिने॥

प्रत्येक कार्य के संविधान में परमप्रभु श्रीराम की कोई न कोई लीला सक्रिय होती ही है - ऐसा श्रीवैष्णवों का निरत्ययप्रत्यय है। इसी प्रकार की भगवल्लीला सक्रिय थी प्रस्तुत पुस्तक के निबन्धन में। गतदिनों सनातनधर्मव्योम का एक धूमकेतु स्वयं को पौण्ड्रक की भांति गुरु एवं महामहिम कहलाने वाला तथाकथित तान्त्रिक मुझे आहत करने का असफल प्रयास कर रहा था, यद्यपि मैंने इस प्रकार के सारमेयभषण पर कोई ध्यान नहीं दिया पर -
अति संघर्षन कर जौ कोई। अनल प्रगट चन्दन ते होई॥ (मानस ७/१११/१६)
की परिस्थिति में मैंने एक निर्णय लिया कि जनताजनार्दन के समक्ष मुझे विनम्रता से अपना वक्तव्य प्रस्तुत कर देना चाहिए।

संयोग से उसी समय मुझे तथाकथित कोरोना के संक्रमण में आना पड़ा और पी०जी०आई० लखनऊ में चिकित्सार्थ २२ दिनों पर्यन्त मुझे एकान्त में रहने का स्वर्णिम अवसर मिला और उसी कार्यकाल में मैंने प्रकृत पुस्तक को अपनी मनोभावनाओं के सूत्रों में निबद्ध किया, मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि मेरी यह पुस्तक अरबों श्रीरामभक्त बान्धवियों और बन्धुओं को अत्यन्त आत्मपरितोष प्रदान करेगी और इस पुस्तक के अनुशीलन से सहस्राब्दियों से जनता में व्याप्त श्रीरामविषयक कुत्सित धारणाओं का उन्मूलन भी होगा और भारतीय महिलाओं एवं चतुर्थवर्ण की भावनाओं का सम्मान भी होगा, क्योंकि असत्य पर आधारित सीतानिर्वासन और शम्बूकवध की कुत्सित घटनाओं से बहुतेरे हिन्दुधर्मावलम्बी मर्मान्तक पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं जबकि न तो भगवती सीता

जी का द्वितीय वनवास हुआ और न ही शम्बूकवध। यह तथ्य तो सर्वविदित है कि यदि श्रीराम को शूद्र की तपस्या से आपत्ति होती तो वे स्वयं शबरी जी से उनकी तपस्या के सम्बन्ध में क्यों कुशल प्रश्न करते ? "**कच्चित्ते वर्धते तपः**" वा०रा० ३/७४/७ । वहाँ भगवान् राम कह रहे हैं कि माँ ! आपश्री की तपस्या निर्विघ्नता से सम्पन्न हो रही है न ? वहाँ तो भगवान् राम शबरी जी के दिए हुए उच्छिष्ट फल भी पा रहे हैं और शबरी जी को नवधाभक्ति का उपदेश भी कर रहे हैं तथा उन्हें अपनी माँ मानकर अन्त में जलाञ्जलि भी दे रहे हैं -

" तेहिं मात ज्यौं रघुनाथ अपने हाथ जल अञ्जलि दई"

गीतावली - ३/८

किं बहुना, यदि श्रीरामावतार में शूद्र का तपश्चरण विहित न होता तो श्रवणकुमार के पूज्य पिताश्री दशरथजी ने इतना आदर क्यों दिया होता ? श्रीरामराज्यकाल में किसी पुत्र की पिता के समक्ष मृत्यु नहीं होती थी -

"न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्"

फिर शम्बूक की तपस्या से ब्राह्मण की मृत्यु क्यों हुई ? भिल्ल जाति में उत्पन्न तापसी शबरीजी को प्रभुश्री राम ने दण्ड देने के बदले मातृसम्मान क्यों दे दिया ? सन्तगण कहते हैं -

ब्याह न कीन्हेउ सपनेउँ पति दरशन नहिं कीन्ह।
शबरी पुत्रवती भई प्रभु गोदी भरि लीन्ह॥

यदि सीताजी का द्वितीय वनवास हुआ होता तो महर्षि वाल्मीकि ने "**भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्**" वा०रा० ६/१२८/१०६ यह - विशेषण भगवान् श्रीराम को कैसे दे दिया ? यदि सीतानिर्वासन प्रामाणिक है तो उसकी चर्चा वेदव्यासजी ने महाभारत में क्यों नहीं की ? जबकि महाभारत में श्रीरामकथा चार बार कही गयी। सीताजी ने अग्नि में प्रवेश करके स्वयं को निष्कलंक प्रमाणित किया और उस घटना को तीनों लोकों ने देखा - "**ददृशस्तु त्रयोलोकाः**" क्या धोबी तीनों लोकों से ऊपर था ? जिसने यह घटना नहीं देखी ? "**यन्न भारते तन्न भारते**" जिस घटना का महाभारत में सङ्केत नहीं, वह घटना भारतवर्ष में घटी ही

नहीं। इस प्रकार के बहुतेरे अछूते और अनमोल रत्न प्रकृत पुस्तक में संकलित किए गए हैं। मुझे दृढ़ विश्वास है कि मेरी यह कृति असंख्य श्रीसीतारामभक्त बहिनों-भाइयों के हृदयों में श्रीरामभक्ति की दीपमालिका प्रस्तुत करके उनके अन्तःकोहरों में छिपे हुए अज्ञानतमस्तोमों को नष्ट कर देगी। ×××××××× अन्त में प्रस्तुत है ये शिखरिणी -

न वै सीता त्यक्ता रजकवचसा दूषणकृषा
न चाकार्षीद्रामस्तपसि किल शम्बूककदनम्।
कुकाण्डं वाल्मीकेर्नहि नहि कृतिश्चोत्तर मदः
समाकूतं चैतद् "गिरिधर" धियो ध्यायत बुधाः॥

अर्थात्, दूषण नामक राक्षस के शत्रु भगवान् श्रीराम के द्वारा भगवती सीताजी का कभी भी त्याग नहीं किया गया और भगवान् श्रीराम ने तपस्या में रत शम्बूक का वध नहीं किया था। तथाकथित उत्तरकाण्ड महर्षि वाल्मीकि की रचना नहीं है, नहीं है। यही प्रस्तुत पुस्तक के लेखक जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य 'गिरिधर' कवि की बुद्धि का सत्य है। विद्वान् इस तथ्य का मनन करें।

श्रीराघवः शन्तनोतु
इति द्वित्राञ्छब्दान्निवेदयति
राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्यः

श्रीभागवतानंद गुरु का प्रत्युत्तर पुरोवाक्

नमः सच्छास्त्रसद्धर्मपोषकाय गुणाब्धये।
पाखण्डखण्डवीर्याय रामायादर्शधर्मिणे॥

'सत्य को प्रकाशित करने वाले शास्त्र एवं धर्म का जो पोषण करते हैं, गुणों के सागर हैं, वेदों का खण्डन करने वालों को खण्डित करने वाले पराक्रम से युक्त हैं, ऐसे आदर्श धर्म वाले श्रीराम के लिए नमस्कार है।' निश्चय ही प्रत्येक कार्य के संविधान में परमप्रभु श्रीराम की कोई न कोई लीला सक्रिय होती ही है तभी तो जब सूर्य एवं चन्द्रमा के समान

प्रकाशित आचार्यों के मध्य अमृत के लोभी राहु के समान कोई स्वयं को जगद्गुरु कहते हुए बैठ जाता है तो उसके बाह्यावरण के देवत्व के भीतर जो सत्यद्रोही शास्त्राचारविरुद्ध सिद्धान्तानृत है, उसके अन्धकार को दूर करने के लिए हम जैसों को आगे आना ही पड़ता है। सनातनधर्मव्योम के ये राहु क्षोभ में कितना भी उत्पात एवं ग्रहण लगा लें, सत्यप्रकाशित सूर्य को धूमकेतु समझकर कितना भी ग्रहण लगाने का प्रयास करें, उनका प्रयास वन्ध्यापुत्र के ही समान सार्थक होगा। मैंने आजतक कभी जानबूझकर द्वेषपूर्वक एक मच्छर भी नहीं मारा किन्तु मुझे तान्त्रिकाभिचार का दोषी बताकर श्रीरामभद्राचार्य ने यह सिद्ध कर दिया कि कितनी सरलता से बिना प्रमाण ही ये अपनी मिथ्या कल्पना को सत्य बनाकर प्रस्तुत करते हैं जबकि संन्यासी के लिए निम्न निर्देश स्वयं वेदभगवान् देते हैं -

नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥
(परिव्राात् उपनिषत्)

स्वयं दण्डधारण करके संन्यासी के वेश का आश्रय लेकर **उदरम्भरिणो यथा** विहार करने वाले श्रीरामभद्राचार्य क्रोध, द्वेष एवं असत्य से उतने ही दूर रहते हैं जितना समुद्र से उसका जल दूर रहता है। जिस प्रकार पी०जी०आई० लखनऊ में आपकी शारीरिक अस्वस्थता का उपचार चिकित्सकों ने किया, साथ ही उसके दुष्प्रभाव से जनसामान्य को बचाने का उपक्रम भी किया, उसी प्रकार से आपकी बौद्धिक अस्वस्थता एवं उसके प्रतिफल प्रकृत पुस्तक के संक्रमण से जनसामान्य को बचाने का कार्य हम कर रहे हैं।

आपकी पुस्तक के अनुशीलन से सहस्राब्दियों से जनता में व्याप्त श्रीरामचरित्र के प्रति भक्ति का उन्मूलन हो जाएगा एवं भारतीय महिलासमुदाय तथा चतुर्थवर्ण शास्त्रोक्त लीला एवं स्वधर्ममर्यादा को न समझकर सत्य पर आधारित सीतानिर्वासन एवं शम्बूकवध की मर्यादाप्रेरक घटनाओं के आलोक में आपके द्वारा भ्रमित हो उच्छृंखलतावश पतन की ओर अग्रसर होगा। श्रीराम को शूद्र की तपस्या से नहीं, अनुचित विधि और उद्देश्य से की जाने वाली तपस्या से आपत्ति है। आपके शबरी सम्बन्धी कुतर्क को मान लें कि पूर्व में शबरी की तपस्या का समर्थन करने वाले श्रीराम जी ने बाद में शम्बूक की तपस्या का विरोध क्यों

किया, ऐसा तो हो ही नहीं सकता इसीलिए शम्बूकवध प्रक्षिप्त है, तो फिर प्रश्न तो यह भी किया जा सकता है कि पूर्व में विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने वाले श्रीराम जी ने बाद में मेघनाद का यज्ञविध्वंस क्यों कराया ?

उत्तर मैं दे चुका हूँ, क्योंकि विश्वामित्र का यज्ञ और शबरी की तपस्या उनके वर्ण-विधि-उद्देश्य के आधार पर धर्म के अनुकूल थी एवं मेघनाद का यज्ञ तथा शम्बूक की तपस्या उनके वर्ण-विधि-उद्देश्य के आधार पर धर्म के प्रतिकूल थी, अतएव श्रीराम जी ने एक का समर्थन और दूसरे का विरोध किया। श्रवणकुमार तो वैश्य पिता (शांतनु) एवं शूद्रा माता (ज्ञानवती) की सन्तान थे। वे बस मातापिता की सेवा करते थे, धर्मव्याध की भांति। तीर्थयात्रा पर निकले थे, माता पिता को लेकर। शम्बूक की भांति अनुचित उद्देश्य के साथ उग्र तपस्या नहीं कर रहे थे।

न द्विजातिरहं राजन्माभूत्ते मनसो व्यथा ।
शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप ॥
(वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग - ६३, श्लोक - ५३)

द्वितीय वनवास की बात पर भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वाले श्लोक को प्रस्तुत करके श्रीरामभद्राचार्य जी क्या सिद्ध करना चाहते हैं, यह हमें समझ नहीं आता। यहाँ तो भाईयों के साथ वाली बात है, सीताजी के साथ नहीं। और यदि श्रीमान् शब्द की विवक्षा श्रीरिति सीता से करें तो फिर जब सीताजी रावण के द्वारा अपहृत हो गयी थीं, उस समय भी वाल्मीकि जी ने कभी प्रसङ्गवर्णन में, तो कभी स्वयं सीताजी के द्वारा तो कभी राक्षसियों के द्वारा उनके लिए श्रीमान् शब्द का प्रयोग कराया है। जब सीताजी के अनिच्छापूर्वक अपहृत होने पर भी रामजी श्रीयुक्त हो सकते हैं, तो इच्छापूर्वक सीता जी के निर्वासित होने पर श्रीराम जी की श्रीयुति में क्या आपत्ति आ गयी ? यथा -

एष चूडामणिः श्रीमान् मया सुपरिरक्षितः ।
मनःशिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग - ६५, श्लोक - २२)

दीर्घवृत्तभुजः श्रीमान् महोरस्कः प्रतापवान् ।
धन्वी संहननोपेतो धर्मात्मा भुवि विश्रुतः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ३३, श्लोक - ११)

सन्दधे धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः ।
युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः ।
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण ।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम् ॥
(वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग - ६४, श्लोक - ७५-७६)

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रहृष्ट वदनः श्रीमान्भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥
(वाल्मीकीय रामायण - किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग - ३, श्लोक - २५)

उपर्युक्त सभी प्रमाणों में यह ध्यातव्य है कि यहाँ श्रीराम जी के लिए श्रीमान् शब्द तब आया है जब वे सीताजी से दूर, उनके विरह की लीला कर रहे हैं। श्रीरामभद्राचार्य ने यह तो प्रश्न कर दिया कि यदि सीतानिर्वासन प्रामाणिक है तो वेदव्यास जी ने उसकी चर्चा महाभारत में क्यों नहीं की ? किन्तु वे यह क्यों नहीं समझ पाते कि वेदव्यास जी ने स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदि में चर्चा तो की है, फिर सीतानिर्वासन की बात अप्रामाणिक कैसे ? मतलब कि जहाँ वर्णित है, उसे छोड़कर, जहाँ वर्णित नहीं है, उसके पीछे माथा पटकने और धारणा बना लेते की इनकी वृत्ति तो अद्भुत है।

सीताजी के अग्निप्रवेश की बात तीनों लोकों ने देखी, इस सन्दर्भ में क्या धोबी लोकबाह्य है, जो न देख सका, ऐसा प्रलाप करने वाले श्रीरामभद्राचार्य जी को यह समझना चाहिए कि लोक का अर्थ केवल संसार नहीं है। तीनों लोकों का अर्थ यह नहीं है कि पृथ्वी,

अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग में रहने वाले प्रत्येक जीव ने देखा। लोक का अर्थ जनसमुदाय, प्रजाति आदि भी है। आचार्य सुश्रुत ने सूत्रस्थान में लिखा है - लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च। लोक दो प्रकार के हैं, स्थावर (अचल) एवं जङ्गम (चल)। यही कारण है कि अमरकोशकार, शब्दकल्पद्रुमकार आदि ने लोक का अर्थ भुवन एवं जन, दोनों किया है।

तीनों लोकों का अर्थ यह है कि तीन प्रसिद्ध समुदाय देव, असुर एवं मनुष्य योनि के लोगों ने सीता जी की अग्निपरीक्षा को देखा। यहाँ लोक का अर्थ भुवन और उसमें स्थित प्रत्येक जीव से लेने पर अव्याप्तिदोष एवं दृष्टिप्रतिहन्यतादोष की आपत्ति आयेगी क्योंकि हम कहते हैं कि सूर्य का प्रकाश तीनों लोकों में व्याप्त होता है - प्रकाशितं येन च भूर्भुवः स्वः ... अथवा सूर्य के प्रकाश से तीनों लोक के जीव देखने लगे और कर्म में प्रवृत्त हुए - प्रवर्तते चाखिलकर्मसिद्धये ... किन्तु गुफा, सुरंग आदि में अव्याप्तिदोष तथा उल्लू आदि में दृष्टिप्रतिहन्यतादोष के कारण वहाँ सूर्य के प्रकाश का अभाव ही माना जायेगा। अतएव '*तीनों लोकों*' का जो कुत्सितार्थ श्रीरामभद्राचार्य ने लगाया है, वह सर्वथा हास्यास्पद है और इसी कारण से धोबी उस घटना को न देख सका।

श्रीरामभद्राचार्य दूसरा हास्यास्पद कुतर्क करते हैं - *यन्न भारते तन्न भारते* ... जिस घटना का सङ्केत महाभारत में नहीं, वह घटना भारतवर्ष में घटी ही नहीं। यह श्रीरामभद्राचार्य की बालबुद्धि का परिचायक है। उक्त कथन का तात्पर्य केवल महाभारत को चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि हेतु जिस धर्मज्ञान की आवश्यकता है, उस धर्मज्ञान के उपदेश एवं सर्वथा स्वतन्त्र दक्षता से युक्त बताने के वैशिष्ट्य हेतु प्रयुक्त किया गया है, इसका सम्बन्ध ऐतिहासिक कथानकों की सम्पूर्णता से नहीं है। यदि हम यह मान लें कि महाभारत में जिसका वर्णन नहीं, वो घटना भारतवर्ष में घटित ही नहीं हुई, फिर तो और भी समस्या हो जाएगी। महाभारत में तो प्रतापभानु की एवं नारद विमोहन की कथा भी नहीं है, साथ ही अयोमुखी राक्षसी और बर्बरीक का वृत्तान्त भी नहीं है, फिर तो हमें यह मान लेना चाहिए कि ये घटना भारतवर्ष में घटित ही नहीं हुई। इस हिसाब से तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में प्रतापभानु एवं नारद विमोहन का प्रसङ्ग कल्पना से मिथ्यारोपित किया है ? अयोमुखी का वर्णन करके वाल्मीकि जी ने भी मिथ्या लिखा है, और तो स्कन्दपुराण

में बर्बरीक का वर्णन करके स्वयं वेदव्यास जी ही मिथ्याभाषी होते हैं क्योंकि उक्त कथाएं तो महाभारत में वर्णित ही नहीं हैं और श्रीरामभद्राचार्य के ही हिसाब से *यन्न भारते तन्न भारते* लागू हो जा रहा है। महाभारत में लक्ष्मण जी के हाथों कुम्भकर्ण के वध का वर्णन है तो वाल्मीकीय रामायण में श्रीराम के हाथों कुम्भकर्ण का वध हुआ है। प्रमाण स्वयं देखें

कुम्भकर्णो महेष्वासः प्रगृहीतशिलायुधः।
अभिदुद्राव सौमित्रिमुद्यम्य महतीं शिलाम्॥
तस्याभिपततस्तूर्णं क्षुराभ्यामुच्छितौ करौ।
चिच्छेद निशिताग्राभ्यां स बभूव चतुर्भुजः॥

×××××

स बभूवातिकायश्च बहुपादशिरोभुजः।
तं ब्रह्मास्त्रेण सौमित्रिर्ददाराद्रिचयोपमम्॥
स पपात महावीर्यो दिव्यास्त्राभिहतो रणे।
महाशनिविनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव॥
(महाभारत, आरण्यकपर्व, अध्याय - २८८)

अब वाल्मीकीय रामायण का प्रमाण देखें -
स कुम्भकर्णोऽस्त्रनिकृत्तबाहुर्महान्निकृत्ताग्र इवाचलेन्द्रः ।
उत्पाटयामास करेण वृक्षं ततोऽभिदुद्राव रणे नरेन्द्रम्॥
स तस्य बाहुं सहतालवृक्षं समुद्यतं पन्नगभोगकल्पम् ।
ऐन्द्रास्त्रयुक्तेन जघान रामो बाणेन जाम्बूनदचित्रितेन॥
स कुम्भकर्णस्य भुजो निकृत्तः पपात भूमौ गिरिसन्निकाशः ।
विवेष्टमानोऽभिजघान वृक्षान् शैलान् शिला वानरराक्षसांश्च॥
तं छिन्नबाहुं समवेक्ष्य रामः समापतन्तं सहसा नदन्तम् ।
द्वावर्धचन्द्रौ निशितौ प्रगृह्य चिच्छेद पादौ युधि राक्षसस्य॥
तौ तस्य पादौ प्रदिशो दिशश्च गिरीन्गुहाश्चैव महार्णवञ्च ।

लङ्काञ्च सेनां कपिराक्षसानां विनादयन्तौ विनिपेततुश्च ॥
निकृत्तबाहुर्विनिकृत्तपादो विदार्य वक्त्रं वडवामुखाभम् ।
दुद्राव रामं सहसाऽभिगर्जन् राहुर्यथा चन्द्रमिवान्तरिक्षे ॥
अपूरयत्तस्य मुखं शिताग्रै रामः शरैर्हेमपिनद्धपुङ्खैः ।
स पूर्णवक्त्रो न शशाक वक्तुं चुकूज कृच्छ्रेण मुमोह चापि ॥
अथाददे सूर्यमरीचिकल्पं स ब्रह्मदण्डान्तककालकल्पम् ।
अरिष्टमैन्द्रं निशितं सुपुङ्खं रामः शरं मारुततुल्यवेगम् ॥
तं वज्रजाम्बूनदचारुपुङ्खं प्रदीप्तसूर्यज्वलनप्रकाशम् ।
महेन्द्रवज्राशनितुल्यवेगं रामः प्रचिक्षेप निशाचराय ॥
स सायको राघवबाहुचोदितो दिशः स्वभासा दश सम्प्रकाशयन् ।
सधूमवैश्वानरदीप्तदर्शनो जगाम शक्राशनिवीर्यविक्रमः ॥
स तन्महापर्वतकूटसन्निभं विवृत्तदंष्ट्रं चलचारुकुण्डलम् ।
चकर्त रक्षोधिपतेः शिरस्तथा यथैव वृत्रस्य पुरा पुरन्दरः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग - ६७)

अब श्रीरामभद्राचार्य के हिसाब से जो घटना महाभारत में वर्णित नहीं, वह भारतवर्ष में घटी ही नहीं तो वाल्मीकि जी ने गलत लिख दिया, और यदि वेदतुल्य होने से वाल्मीकीय रामायण सही कह रहे हैं तो फिर महाभारतकार गलत कह रहे हैं और *यन्न भारते तन्न भारते* निरस्त हो गया। वस्तुतः कल्पभेद से हम दोनों को सही मानकर ग्रहण करेंगे, हमें आपत्ति नहीं किन्तु श्रीरामभद्राचार्य यदि दम्भपोषण एवं व्यक्तिस्थापना के स्थान पर शास्त्रपोषण एवं धर्मस्थापना में अपनी प्रतिभा और प्रतिष्ठा का नियोजन करते, तो क्या अच्छा नहीं होता ? उनकी लेखनी ऐसे ही बहुतेरे कुतर्क एवं प्रलाप से भरी हुई है जो कांच होकर मणि का अभिमान करती है। उनकी कृति सनातनी समाज के भ्रम एवं पतन का कारण न बने, एतदर्थ हमलोगों को न चाहते हुए भी उनका प्रतिरोध एवं निग्रह करना ही पड़ता है। पाठकगण ध्यान दें कि हम अपनी वर्तमान एवं पूर्वलिखित पुस्तकों में जो प्रमाण देते हैं वे बहुत से पाठभेदों, प्रकाशनों एवं लिपियों की प्रतियों के संकलन एवं सम्मिश्रण के आधार पर सन्दर्भित होते हैं। अतएव श्लोकों के सन्दर्भस्थलों में कुछ एक

अध्याय एवं संख्या का व्यतिक्रम स्वाभाविक है, आप अपने पास की समुपलब्ध प्रति से उसे सन्तुलित कर लेंगे। इस विषय में उक्त आचार्य को पूर्व में भी रामानंदीय विद्वज्जनों से शिक्षा मिल चुकी है। पहले हमें श्रीरामभद्राचार्य की बुद्धि पर क्रोध आता था किन्तु अब इनकी बुद्धि और उनका अन्धानुकरण करने वाले शिष्यों पर हंसी और तरस आते हैं। इतने सीधे और सरल विषयों को ये लोग केवल मूर्खता और दम्भ के कारण विकृत और भ्रामक बनाते जा रहे हैं। अन्त में प्रस्तुत है ये शिखरिणी -

यथोलूकोऽपश्यन्दिनकरप्रदीप्तोज्ज्वलविभां,
न जानातीद्धं वाङ्कतिनिधनकालं सुरपतिः।
यथा काकः केकानिनदनिहतस्त्रस्यति क्वचित्,
दुधुक्षे तद्वद्वै गिरिधरकविः शास्त्रनिचयम्॥
(अङ्कति - ब्रह्मा, इद्धं - दीप्ति, दुधुक्षे - धुँक्ष् क्लेशने लिट्)

जिस प्रकार से उल्लू सूर्य की प्रदीप्त और उज्ज्वल प्रभा को न देख पाने के कारण उसकी दीप्ति को नहीं जानता है अथवा जिस प्रकार ब्रह्मा के अवसान को देवताओं के राजा इन्द्र (तुलना में अल्पायु होने से) नहीं जान पाते, जिस प्रकार कोई कौवा मोर की मधुर ध्वनि से आहत होकर उसे पीड़ित करता है, उसी प्रकार इन गिरिधर कवि ने शास्त्रसमूह को (नहीं समझने के कारण) पीड़ा पहुंचायी।

। सीतापतिर्जयति भूपतिचक्रवर्ती।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु
श्मशानकाली मन्दिर, राँची
भाद्रपद कृष्ण अघोरचतुर्दशी, विक्रम संवत् - २०७८

रौरवादिषु पच्यन्ते पुनः संसारिणो भुवि। कर्मशेषात् प्रजायन्ते पंग्वन्धबधिरादयः॥
(अगस्त्य संहिता, प्रथम अध्याय, श्लोक - ११)

मूरख हृदय न चेत - भाग ०१

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

नमोऽस्तु सीतापतये दशाननद्विषे लसन्निषगांशुगचापधारिणे।
सलक्ष्मणायामल नीरदत्विषे नमोऽस्तु रामाय महामनस्विने॥

सनातनधर्म के परिप्रेक्ष्य में सीतानिर्वासन और शम्बूकवध एक प्रहेलिका बन कर रहा गया है। सभी लोग अपने अपने मत के अनुसार इन दोनों प्रसङ्गों की मीमांसा कर रहे हैं। आज से लगभग ३२ वर्ष पहले मैंने एक पुस्तक लिखी थी - सीतानिर्वासन नहीं। अब आवश्यकता यह आ पड़ी कि मैं सीतानिर्वासन के साथ शम्बूकवध नहीं यह भी जोड़ूँ। इसलिए अब मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ - **सीतानिर्वासन और शम्बूकवध नहीं**। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरी प्रतिभा के असहिष्णु कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनके पास मुझे गाली देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और वयस् में भी वे इतने छोटे हैं कि यदि मैं कहना चाहूँ तो वे मेरे प्रपौत्र शिष्यों की भी पात्रता नहीं रखते, पर मिथ्या अहङ्कार के कारण केवल मुझे गालियाँ देते जा रहे हैं और ऐसी ऐसी शब्दावली का प्रयोग कर रहे हैं, जिसको सुनने में भी पीड़ा हो रही है। निरर्थक असभ्य शब्दों का प्रयोग उनकी नियति बन गयी है। मुझे सुनकर आश्चर्य लग रहा है कि मेरे भौतिक दृष्टिबाधित्व के लिए वे अन्ध शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। इससे मुझे कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि - **नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये** (भा०पु० ४.७.२)। किन्तु इसका अग्रिम चरण भी है - **देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया** (भा०पु० ४.७.२)।

कुछ लोग इतने मदान्ध हो गये हैं कि अब तो वे भारत के प्रधानमन्त्री पर भी छींटा-कसी करने में नहीं चूक रहे हैं। उन्होंने विकलाङ्गों को दिव्याङ्ग कहा तो उसपर भी उन्हें आपत्ति है और आश्चर्य इस बात का है कि जिनको शास्त्र का एक अक्षर नहीं आता, जिनके लिए "करिया अक्षर भैंस बराबर" है, वे स्वयं को गुरु लिखने लगे हैं और मेरे प्रामाणिक जगद्गुरुत्व पर उन्हें आपत्ति है। मैं प्रामाणिक जगद्गुरु हूँ, प्रचारित जगद्गुरु नहीं ! मैं

प्रस्थानत्रयीभाष्यकार हूँ ! और जगद्गुरुत्व में दृष्टिहीनता कोई बाधक नहीं बनती। इस भौतिक दृष्टिहीनता को तो मैंने परमेश्वर का प्रसाद माना। क्या करूँगा, वह दृष्टि लेकर, जो काञ्चन और कामिनी पर ही पड़ती है। क्या बिल्वमङ्गल ने अपनी आंखें नहीं फोड़ ली थीं ?

आवृत्तचक्षुर्भुवनान्यपश्यन्
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः (हितो०)

अर्थात् शास्त्र ही सबका नेत्र होता है। जिसके पास वह नहीं है, वो अन्ध है। मेरे जीवन में कुछ ऐसा घटा। मुझे आश्चर्य है कि जो २१४ पुस्तकों का लेखक, जिसने रामायण पर १२८६ और भागवत पर ११५२ कथाएँ उपस्थित कीं उसको लोग सत्सङ्ग का उपदेश दे रहे हैं। फिर भी मैं अपने धैर्य का परिचय दूँगा। भगवान् सबको सद्बुद्धि दें। पर इतना कहूँगा कि व्यक्ति को अशिष्टता के इतने निम्न स्तर पर नहीं जाना चाहिए।

मैंने किसी आचार्य के लिए कभी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है, जबकि आद्यशङ्कराचार्य के लिए मध्वाचार्य ने जैसे शब्दों का प्रयोग किया, वहाँ जाकर देखिये। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला - "जैसे रजस्वला के स्पर्श करने पर वस्तु अपवित्र हो जाती है, उसी प्रकार शङ्कराचार्य के स्पर्श करने पर शास्त्र भी अशुद्ध हो गये"। उनको तो किसी ने कुछ नहीं कहा ! मैंने भी कुछ नहीं कहा, वो हमारे बड़े भाई हैं। सभी आचार्य मेरे बड़े भाई हैं और मैं भी आचार्य हूँ, मेरे आचार्यत्व पर सन्देह नहीं करना चाहिए।

मैं श्रीरामानन्दसम्प्रदाय का चतुर्थ जगद्गुरु, त्रिदण्डी संन्यासी हूँ। त्रिदण्डी को शिखा-सूत्र रखने का अधिकार होता है और उसके लिए भौतिक दृष्टिबाधकता बाधक नहीं होती। मेरा समर्थन काशी विद्वत् परिषद् और हमारे सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ानुयायियों ने तथा चतुःसम्प्रदायने किया है। मैं सर्वसम्मति से निर्विवाद जगद्गुरु रामानन्दाचार्य हूँ और इसका उत्तर जिन्हें अपेक्षित होगा उन्हें कुम्भ में दूँगा। काशी विद्वत् परिषद् ने स्वयं इस अपलाप पर क्षुब्ध होकर जो टिप्पणी की है, वह Website या WhatsApp पर देख लें।

निष्कर्षतः मैं प्रमाणित जगद्गुरु हूँ। मेरे संस्कृत में तीन महाकाव्य और हिन्दी में दो

महाकाव्य हैं। प्रस्थानत्रयी पर लगभग २२०० पृष्ठों के मेरे ग्रन्थ हैं। मैंने निष्पक्ष, निःस्वार्थभाव से सनातनधर्म की सेवा की है। विश्वविद्यालय को, उसकी सभी फैकल्टी को दो बार टॉप किया। पी-एच०डी० और डी०लिट् हूँ मैं। अनेक पुरस्कार मिले। जो राघव शब्द का रूप भी जानते, वे अब मुझे सत्सङ्ग की शिक्षा देंगे ? अस्तु ! नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।

प्रकृतमनुस्मरामो रामचन्द्रं भजामः।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

सनातनधर्म के परिप्रेक्ष्य में सीतानिर्वासन और शम्बूकवध कोई प्रहेलिका नहीं है। सीधेसाधे सर्वत्र उल्लिखित एवं प्रमाणित सत्य को अपनी मूढ़ता के कारण कुछ प्रतिष्ठालोलुप जन इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न करके भ्रम का प्रसार कर रहे हैं। असत्य आज लिखा जाए, ३२ वर्ष पूर्व लिखा जाए या भविष्य में लिखा जाए, वह अमान्य ही रहेगा - *नासतो विद्यते भावः* (गीता) । यहाँ आपकी प्रतिभा का कोई असहिष्णु नहीं है, केवल आपकी बालबुद्धि से जन्य कुतर्कों के कारण निराश अवश्य है। रही बात वयस् की, तो सनातन धर्म में आयु नहीं, ज्ञान और आचरण प्रधान है। विशेषकर विप्रसमुदाय में तो यही बात है। महाभारत के सभापर्व की उक्ति है -

ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः।
वैश्यानां धान्यधनवाञ्शूद्राणामेव जन्मतः॥

ब्राह्मणों में व्यक्ति ज्ञान से बड़ा होता है, क्षत्रियों में बल से, वैश्यों में धन और धान्य से एवं शूद्रों में ही केवल जन्म से बड़ा होता है। केवल आयु के आधार पर आप विप्रसमुदाय में तो अपनी प्रभुता स्थापित नहीं कर सकते। आपके प्रति जो शब्दावली प्रयोग की गयी है, उसमें मेरा उद्देश्य आपको पीड़ा पहुंचाने का नहीं, अपितु यथार्थ को यथार्थ के रूप में वर्णित करने का था। वैसे यदि फिर भी पीड़ा हुई हो तो उसके लिए हम क्षमा चाहते हैं, किन्तु वह पीड़ा भी आपको इसीलिए हुई क्योंकि आदिकाल से ही सनातनी शास्त्रों को प्रक्षिप्तांश के नाम पर किसी व्याध की तरह काट काट कर फेंकने का जो कुकृत्य आप कर

रहे हैं, उसके परिणामस्वरूप पीड़ा होना स्वाभाविक है, *बोये पेड़ बबूल का तो आम कहाँ से होय*। भौतिक दृष्टिबाधित्व के लिए मैंने जो अन्ध शब्द का प्रयोग किया है, वह उपहास या निन्दा के लिए नहीं, वास्तविकता को वर्णित करने के लिए किया है। दृष्टिबाधिता के लिए अन्ध शब्द का ही प्रयोग होता है, इसमें आश्चर्य कैसा ? शब्दकल्पद्रुमकार *चक्षुर्द्वयहीन* को ही अन्ध कहते हैं।

रौरवादिषु पच्यन्ते पुनः संसारिणो भुवि। कर्मशेषात् प्रजायन्ते पंग्वन्धबधिरादयः॥
(अगस्त्य संहिता, प्रथम अध्याय, श्लोक - ११)

ब्रह्माण्डपुराण में देखें - अन्धं वृद्धं च तं दृष्ट्वा न सा देवी जगाम ह ॥ २,७४.७० }
मत्स्यपुराण में भी देखें - अन्धं वृद्धञ्च मां ज्ञात्वा सुदेष्णा महिषी तव। ४८.६६ }

धृतराष्ट्र, उपमन्यु, च्यवन आदि की दृष्टिबाधिता के लिए भी अन्ध शब्द ही आया है, यद्यपि ये शास्त्रचक्षु से युक्त थे। इसमें चिढ़ने की कोई बात नहीं है। वैसे भी इसके कारण ही आप इतने प्रसिद्ध हुए हैं एवं इसके कारण ही दयावश आजतक आपके अशास्त्रीय वक्तव्य को समाज सहन करते आया है। समाज की सहृदयता को आप अपनी प्रतिभा समझ लें तो इसमें समाज का क्या दोष। ऐसे भी आपको यदि हमारे द्वारा प्रयुक्त इस शब्द से आपत्ति हो तो अन्ध शब्द को बदल कर सहस्राक्ष कर दीजिये, ये सब में तो आपलोग कुशल हैं ही। ऐसा कर देने से भी सत्य थोड़े ही बदल जाएगा।

हमने शास्त्रों और उसकी मर्यादा को यथार्थतः पढ़ा एवं समझा है अतएव हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि -

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्।
रूपद्रविणहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत्॥
(महाभारत, आश्वमेधिकपर्व - अध्याय – ९२ / पाठभेद से अध्याय – ११०)

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान्।

रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥
(मनुस्मृति, अध्याय -०४, श्लोक – १४१)

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड, अध्याय – २३३, श्लोक – ४८)

दीनान्धपङ्गुबधिरा नोपहास्याः कदाचन ।
(शुक्रनीति, अध्याय – ०३, श्लोक - ११५)

उपर्युक्त शास्त्रवाक्यों से स्पष्ट है कि निर्धन, कुरूप, निम्नस्तरीय विद्या-जाति-कुल वाले, वृद्ध, अन्धे, बहरे, लंगड़े आदि लोगों का उपहास नहीं करना चाहिए फिर धर्ममर्यादा को जानने वाला मैं आपका उपहास क्यों करूँगा ? किन्तु जहाँ वेदोक्त दैहिक अर्हता की बात स्पष्ट है वहाँ तो फिर उस स्तर और विषय पर बात होगी ही, इसमें उपहास या अपमान नहीं, यथार्थवादिता है।

प्रधानमन्त्री यदि किसी शब्द का अर्थ और परिभाषा बदल दें तो वे सराहनीय हैं, हम यथार्थवादी बनें तो हमें कहा जा रहा है कि मदान्ध होकर प्रधानमन्त्री पर छींटा-कसी करने में नहीं चूक रहे। वाह जी ! प्रधानमन्त्री आखिर होता क्या है ? उसके कर्तव्य एवं अधिकार की सीमा क्या है ? प्रधानमन्त्री जनता के द्वारा चयनित होकर निश्चित समय के लिए संविधान के अनुसार शासन करने के लिए अधिकृत व्यक्तिमात्र है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस कुछ दशक पुराने लोकतन्त्र का इस ब्रह्माण्ड में अस्तित्व ही क्या है ? हज़ारों वर्षों से मानव सभ्यताएं आ रही हैं, जा रही हैं, शासन के तरीके और शासक आ रहे हैं, जा रहे हैं। लाखों वर्षों से पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा कर रही हैं, करोड़ों वर्षों से ब्रह्माण्ड चल रहा है। ऐसे में सत्ता, शासन, प्रधानमन्त्री तत्त्वदर्शी की दृष्टि में भला कितना महत्व रखते होंगे ? नेताओं की चाटुकारिता हम जैसे शास्त्रबली आचार्य नहीं करते। अग्निपुराण, अमरौघशासन, त्रिपुरातापन्युपनिषत् एवं महाभारत के शान्तिपर्व आदि में वर्णन है -

द्वे ब्रह्मणी हि मन्तव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

दो ब्रह्म को जानना चाहिए, शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म। शब्दब्रह्म में निष्णात होने के बाद ही साधक परब्रह्म तक जाता है। ऐसे में अनादि शब्दब्रह्म और उसके अर्थ को राजनैतिक स्वार्थ में स्वेच्छाचारी होकर बदलना कदापि प्रशंसनीय नहीं है। *अर्थस्त्रिविधः वाच्यो लक्ष्यो व्यङ्गश्चेति*। शब्द के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ, तीन भेद होते हैं। वाक्यपदीयम् के प्रथम खण्ड में कहते हैं -

उभयेषामविच्छेदादन्यशब्दविवक्षया।
योऽन्यः प्रयुज्यते शब्दो न सोऽर्थस्याभिधायकः ॥

अन्य शब्द की विवक्षा से ग्रस्त शब्द का प्रयोग अर्थ का वाचक नहीं हो सकता है इसीलिए विकल शब्द का अर्थ दिव्य कहीं से भी नहीं हो सकता है। दिव्य का अर्थ देवता के समान होता है, कालीविलासतन्त्र में कहते हैं - *दिव्यस्तु देववत् प्रायः*। विकलाङ्ग का अर्थ शब्दकल्पद्रुमकार स्पष्ट करते हैं - *विकलानि अङ्गानि यस्य । स्वभावतो न्यूनाङ्गः* । ऐसे में विकल और दिव्य का अर्थ एक समान लेने पर रामजी के दिव्य अंगों को विकलांग कहना उचित होगा क्या ? धृतराष्ट्र की नेत्रहीनता को उनकी दिव्यांगता कहना उचित होगा क्या ? फिर वेदव्यास जी भला धृतराष्ट्र को दिव्यदृष्टि देने आए ही क्यों थे ? कल को अपने प्रभाव का दुरुपयोग करते हुए कोई प्रधानमन्त्री बकरीद का अर्थ बदल कर एकादशी कर दें तो आप जैसे कथित शास्त्रज्ञ तो उसका भी अनुसरण करने लगेंगे ? श्रीरामभद्राचार्य जी ! राजनैतिक प्रतिष्ठा और संरक्षण की चाहत छोड़कर यथार्थवादी बनें, उसी में आपका सम्मान है।

आप हमें शास्त्र का **"करिया अक्षर भैंस बराबर"** समझकर कहते हैं कि मैं स्वयं को गुरु क्यों लिखता हूँ ! इसका उत्तर आगे अवश्य दूँगा किन्तु हमें यह आश्चर्य होता है कि इसी स्थिति वाले लोग जब स्वयं को जगद्गुरु लिखकर घूम रहे हैं तो भला मेरे गुरु होने पर कौन सा पहाड़ टूट पड़ा ? आप कितने प्रामाणिक जगद्गुरु हैं, इसकी समीक्षा तो आगे चर्चा में हो ही जाएगी, भौतिक दृष्टिहीनता को परमेश्वर का प्रसाद मानने के अतिरिक्त आपके पास

विकल्प ही क्या है ? बहुधा शिवाओं को अंगूर खट्टे ही लगते हैं और मण्डूक अपने कूप को ही समुद्रतुल्य मानने लगता है। किसने कहा आपसे कि दृष्टि केवल कञ्चन और कामिनी पर ही पड़ती है ? करपात्री स्वामी, त्रैलंग स्वामी, देवरहा बाबा आदि सभी के पास दृष्टि थी, उन्होंने तो उसका दुरुपयोग नहीं किया। धर्माचरण और अधर्माचरण का इन्द्रिय से नहीं, वृत्ति से सम्बन्ध है। बिल्वमङ्गल ने नेत्र फोड़े, ये उनकी इच्छा और परिस्थितियों के आधार पर था, मीराबाई और तुलसीदास ने नहीं फोड़े, ये उनकी इच्छा और परिस्थितियों के आधार पर था। धृतराष्ट्र दस हज़ार हाथियों का बल रखने के बाद भी इसी कारण से निरस्त हुए थे। महाभारत के उद्योगपर्व में दुर्योधन को बताया गया -

अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव। राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः॥

शास्त्र निश्चय ही सबका नेत्र होता है किन्तु वह भी तो कम से कम आपके पास हो और उसकी समुपलब्धता शास्त्र को पढने या सुनने से नहीं, समझने से होती है। आप २१४ पुस्तकों के लेखक हैं, एल० रॉन हब्बार्ड ने १०८४ पुस्तकें लिख दी थीं। बार्बरा कार्टलैंड ने ७२३ पुस्तकें लिखीं जबकि महाकवि माघ ने केवल शिशुपालवधम् लिखा। तो उससे क्या हो गया ? किसने कितनी पुस्तकें लिखीं, किसने कितनी आयु तक देहधारण किया, किसने कितने स्थानों पर व्याख्यान दिया, ये सब सनातन धर्म में प्रामाणिकता के मापदण्ड कब से होने लगे ? ये आत्मश्लाघा कहीं और जाकर सुनाएं। हमारे सामने इसका कोई महत्व नहीं है। आप दावा करते हैं कि आपने किसी आचार्य के लिए अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है, जबकि आप स्वयं अपने राघवकृपाभाष्य में लिखते हैं -

विहाय वल्लभाचार्यान् मध्वरामानुजावपि।
अन्धाविवान्वकुरुतां शाङ्करं ह्यत्र कापथम्॥

इस प्रकार आप अपने पूर्ववर्ती सभी मान्य आचार्यों को जो भौतिक दृष्टि और शास्त्रदृष्टि, दोनों से सम्पन्न थे, उन्हें कुपथगामी और अन्धा कह देते हैं किन्तु यही बात आपके लिए मैं यथार्थवाद में कहूँ तो आप चिढ़ जाते हैं। *तत्तु मायावादमलीमसमस्तिष्कज्वरप्रलपितमेव*। ऐसा राघवकृपाभाष्य में लिखकर आपने आदिशंकराचार्य जी को "माथे में बुखार चढ़ जाने

के कारण प्रलाप करने वाला" बता दिया है, विक्षिप्त भी लिखते हैं। मध्वाचार्य जी वायुदेव के अवतार हैं तो शंकराचार्य जी भगवान् शिव के अवतार हैं। पुराणों में भी वायुपुराण और शिवपुराण में अभेद देखते हुए अष्टादशपुराण सूची में किसी एक को गिनते हैं। द्वैत और अद्वैत मत में भी किसी एक का ही अवलम्बन करके ब्रह्मसिद्धि की जाती है। इस स्थिति में यदि एक अवतार ने दूसरे अवतार को कुछ कह दिया तो आप उसमें सरपंच क्यों बन रहे हैं ? आप आचार्यों के मध्य भाई भतीजावाद न फैलाएं। कोई आचार्य आपका किसी प्रकार का भाई नहीं है। कहाँ वे ऋतम्भरा प्रज्ञा वाले सूर्यवत्तत्त्वज्ञ महात्मागण और कहाँ आप खद्योतश्री ? आपके आचार्यत्व पर सन्देह क्या, हमें तो आपत्ति है। आप श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के चतुर्थ जगद्गुरु के रूप में स्वयं का प्रचार करें या त्रिदण्ड लेकर घूमें, आपका आचार्यत्व उतना ही वास्तविक और मान्य है, जितना कि चन्द्रार्कमध्य में स्थित पीयूषकामी सैंहिकेय का देवत्व मान्य है। निश्चय ही त्रिदण्ड वैष्णव संन्यास में शिखासूत्र का धारण विहित है किन्तु इतना ही नहीं, वायुपुराण के अनुसार -

वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी व्यवस्थितः ॥
(वायुपुराण – १७.६)

आपकी वाणी कितनी पवित्र है, ये मंच पर दिख जाता है जब आप दम्भपूर्ण वक्तव्य देते हुए सबको चुनौती देते हैं। लेखनी का कालुष्य कर्म की शुद्धता भी प्रमाणित कर दे रहा है। बाकी, समुद्रपारगमन के कारण आरूढ़पतितत्व एवं श्रीरामानन्दाचार्यकृत वैष्णवमताब्जभास्कर के ही आधार पर आपके आचार्यत्व एवं संन्यासाधिकार पर बहुत विस्तृत समीक्षा पूर्वलिखित पुस्तक "उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श" में लिख चुका हूँ, यहां अनावश्यक पृष्ठवृद्धि करने की मेरी इच्छा नहीं है। जगद्गुरु की उपाधि तो हरियाणा वाले रामपाल भी लगा कर घूम रहे हैं। स्वयं को सर्वश्रेष्ठ भाष्यकार मानने का जो अपलाप आप करते हैं, उसकी धज्जियां श्रीकमलाकान्त त्रिपाठी जी अपनी कृति "राघवकृपाभाष्य - एक निरर्थक प्रयास" में उड़ा चुके हैं।

इस बात पर मुझे कोई सन्देह या आपत्ति नहीं कि आप एक श्रेष्ठ विद्वान् और कवि हैं। दर्शन, व्याकरण आदि को जानते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आप जगद्गुरु हो

गए। पूर्व के छः जगद्गुरु (श्री) शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य एवं रामानन्दाचार्य में से सभी आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य नहीं लिखा है, और न ऐसा ही है कि जितने लोगों से आजतक लिखा, सबों को जगद्गुरु ही मान लिया जाए। हमें तो आजतक ऐसा कोई भी वेद, स्मृति, तन्त्र, पुराण, इतिहास आदि में प्रमाण नहीं मिला कि जो प्रस्थानत्रयी पर भाष्य कर दे, वह जगद्गुरु होता है। जगद्गुरु शब्द या उपाधि आज किस किस विधि से मिल जाती है, सभी जानते हैं।

यदि प्रस्थानत्रयी का भाष्यकार होने से जगद्गुरुत्व सिद्ध होता है तो काशी विद्वत् परिषत् ने तो कृपालु जी को भी जगद्गुरु या उससे भी बढ़कर जगद्गुरूत्तम की उपाधि दे दी थी, जबकि हमें उनके द्वारा लिखित किसी भाष्य का संज्ञान नहीं। मैंने परिषत् की वेबसाइट पर जाकर बहुत खोजा किन्तु आपके द्वारा सन्दर्भित क्षोभ एवं टिप्पणी के दर्शन नहीं हुए। काशी विद्वत् परिषत् वालों ने तो स्वयं को साक्षात् परब्रह्म अक्षरब्रह्म का अवतार प्रकट भगवान् कहकर अपना मन्दिर बनवाने वाले स्वामिनारायण सम्प्रदाय वालों के भाष्य को भी मान्यता दे रखी है और इन्हीं में से कुछ लोग श्रीमद्भागवत से रासपञ्चाध्यायी को अश्लील कह कर हटवाने के लिए स्वामी करपात्री जी के पास पहुंच गए थे। वो तो भला हो धर्मसम्राट् जी का जिन्होंने इनलोगों के अज्ञान को दूर करके धर्म की रक्षा की। आप जैसा कोई अदूरदर्शी प्रक्षिप्तवादी होता तो उससे धर्मरक्षा की कल्पना भी भला सम्भव थी ? आपके ही चित्रकूट में स्वयं को रामानन्द सम्प्रदाय का ही जगद्गुरु बताने वाले दो और लोग हैं, दो अन्य जन वाराणसी में ही हैं (श्रीमठ से सम्बन्धित नहीं), उनपर तो नियन्त्रण चलता नहीं आपलोगों का, इधर उधर की बातें बस करवा लो इनसे।

बात ऐसी है आजकल कि जिस संस्था और सम्प्रदाय का जिससे बढ़िया बन रहा है, वो उसकी प्रशस्ति और चरणवन्दना में लगा हुआ है और "गुरुजी गुरुजी" करके अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता है, इस प्रकार से ये स्वयं को निर्विवाद समझ लेते हैं। सामने कोई विरोध नहीं करता संकोच या करुणावश, तो इन्हें सर्वशक्तिमान् होने का भ्रम हो गया है। विश्वविद्यालय की डिग्री और आपको मिले पुरस्कार से हमें क्या मतलब ? करपात्री स्वामी और देवरहा बाबा के पास तो ऐसी ऐसी उपलब्धियाँ, किसी विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं थी तो क्या ये आपसे छोटे हो गए ? भौतिक पुरस्कार की चकाचौंध में आत्ममुग्ध रहने

वाले आप जैसे महानुभाव सम्भवतः इन सब नश्वर वस्तुओं को बड़ा पुरुषार्थ समझते होंगे, हमलोगों के लिए ये कागज और धातु के टुकड़ों से अधिक कुछ नहीं। हमलोग सिद्धान्तप्रेमी हैं, आचारप्रेमी हैं, पुरस्कारप्रेमी नहीं।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

अब प्रकृत विषय की चर्चा की जाए। वाल्मीकीय रामायण का उत्तरकाण्ड पूर्णतः प्रक्षिप्त है - इसमें किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। वाल्मीकि जी ने छः काण्डों की ही रचना की और स्पष्ट कहा -

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्। पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः॥
(वा०रा० १/४/७)

अर्थात् सम्पूर्ण रामायण महाकाव्य सीताजी का चरित्र है और पौलस्त्यवधपर्यन्त ही वाल्मीकि जी की रचना की - यह स्वयं वाल्मीकि जी कह रहे हैं। इसका सबसे मनोरम पक्ष यह है कि प्रत्येक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ की समाप्ति में ही फलश्रुति लिखता है और वही कार्य महर्षि वाल्मीकि ने युद्धकाण्ड में अन्तिम सर्ग के १०७वें श्लोक से लेकर १२३वें श्लोकपर्यन्त किया। महर्षि वाल्मीकि श्रीरामराज्याभिषेक का वर्णन करके और उनकी भावी कथाओं का सङ्क्षेप में वर्णन करके स्पष्टरूप से यह कह रहे हैं -

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्॥
(वा०रा० ६/१२८/१०७)

अर्थात् महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रथम ही इस आदिकाव्य की रचना कर दी गयी थी। जो धर्म से अनपेत, यशोवर्द्धक, आयुष्य को बढ़ाने वाला और राजाओं को विजय दिलाने वाला है। यदि उत्तरकाण्ड लिखना होता तो यहाँ फलश्रुति की आवश्यकता क्या थी ? ऋग्वेद से लेकर अद्यावधि जितने आर्ष ग्रन्थ हैं, जो आस्तिक ग्रन्थ हैं, प्रत्येक की समाप्ति में ही फलश्रुति होती है। यदि उत्तरकाण्ड लिखना ही होता तो वाल्मीकि युद्धकाण्ड के अन्त में

फलश्रुति क्यों लिखते ? फलश्रुति देखकर ही यह निश्चित हो जाता है कि उत्तरकाण्ड बाद में जोड़ा गया। वाल्मीकि जी ने इतना तक कह दिया -

एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः। प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम्॥
(वा०रा० ६/१२८/१२१)

एतत् वृत्तम् एवमेव पुरावृत्तम् - यह इतिहास इसी प्रकार पहले सम्पन्न हुआ। *एतत् आख्यानम् एवमेव पुरा वृत्तम्* - यह आख्यान इसी प्रकार सम्पन्न हुआ इसमें किसी प्रकार का ननु-नच नहीं करना चाहिए। इसलिए *विस्रब्धं प्रव्याहरत* - तुम लोग विश्वासपूर्वक इसका गायन करो। *भद्रमस्तु वः - वः भद्रमस्तु* ! तुम सबका, रामायण का पठन - अनुशीलन करने वालों का कल्याण हो और इससे *बलं विष्णोः प्रवर्धताम्* - इससे भगवान् विष्णु का बल बढ़ता रहे, क्योंकि रामचन्द्रजी तो विष्णु के भी विष्णु हैं। रामचन्द्र जी महाविष्णु हैं। महाविष्णु के यश के गान और श्रवण से जो पुण्य हो, वह वैष्णवों की समृद्धि के लिए हो ! विष्णु का बल बढ़े, विष्णु की शक्ति बढ़े और विष्णु की सेना का भी संवर्धन हो। इतने पर भी कोई उत्तरकाण्ड को प्रामाणिक माने, तो उसकी बुद्धि को नमन ही करना चाहिए।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

अवश्य ही प्रकृत विषय की चर्चा करेंगे। वाल्मीकीय रामायण का उत्तरकाण्ड किसी भी स्थिति में प्रक्षिप्त नहीं है, इसे प्रक्षिप्त मानना श्रीरामभद्राचार्य का निजी अविवेक है। वाल्मीकि जी छः काण्डों की ही रचना कैसे कर सकते हैं जबकि स्वयं ब्रह्माजी ने उन्हें सात काण्डों की रचना करने का निर्देश दिया है - *रामायणं कुरु सप्तकाण्डम्* (रामायणकवच, बृहद्धर्मपुराण) अतएव वाल्मीकि जी ने प्रथम काण्ड के चौथे सर्ग में लिखा भी है -

तथा सर्ग शतान्पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम् ॥
कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम् ।

यहाँ स्पष्ट रूप से छः काण्ड एवं उत्तरकाण्ड का वर्णन है। भविष्य की घटनाओं का उत्तरकाण्ड में वर्णन है, इसका भी उल्लेख स्पष्ट है। अब आगमप्रमाण देखें, उमा संहिता में भगवान् शिव ने विस्तार से उमादेवी को सातों काण्ड की रामायण कथा एवं उसकी फलश्रुति सुनाई है। अब वो पूरा ग्रन्थ तो यहाँ लिख नहीं सकता सो एक श्लोक प्रस्तुत कर रहा हूँ -

तथा सर्गशतान्पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्।
कृत्स्नं रामायणं यो वा शृणोति श्रावयेत वा॥ सर्वबन्धविनिर्मुक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
(उमा संहिता, तृतीय अध्याय)

५०० सर्ग एवं छः काण्ड, साथ में उत्तरकाण्ड भी, इस प्रकार से जो "सम्पूर्ण रामायण" सुनता या सुनाता है, वह सभी बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मपद का अधिकारी होता है। यहाँ *तथोत्तरम्* एवं *कृत्स्नं* शब्द का प्रयोग करके स्वयं भगवान् शिव ने उत्तरकाण्ड के साथ ही रामायण ही सम्पूर्णता सिद्ध की है, *उत्तरकाण्ड के बिना रामायण अधूरी है* ।

अब *काव्यं रामायणं कृत्स्नं ....* वाला जो श्लोक श्रीरामभद्राचार्य ने प्रस्तुत किया है, वहाँ कृत्स्नं शब्द का प्रयोग करना उत्तरकाण्ड के साथ ही रामायण की सम्पूर्णता का द्योतक है क्योंकि इसी सर्ग के प्रारम्भ में *तथोत्तरम्* शब्द का प्रयोग करके वाल्मीकि जी ने उत्तरकाण्ड की साधुता का संकेत कर दिया है। सीताजी के चरित्र, त्याग एवं समर्पण की सर्वोच्च प्रेरणा सीतानिर्वासन के प्रसङ्ग में ही मिलती है अतएव *सीतायाश्चरितं महत् ...* ऐसा स्पष्ट कहा। रही बात पौलस्त्यवध की, तो रामायण के लेखनकाल में रावणवध तक की ही लीला हुई थी, अतएव वाल्मीकि जी ने *पौलस्त्यवधं इति एव ...* ऐसा कहकर बताया कि अभी रावणवध के प्रसङ्ग तक का कार्य हुआ है। आगे पूर्वोक्त श्लोक में *सभविष्यं सहोत्तरम्* से उत्तरकाण्ड में इसके बाद की, भविष्य वाली घटनाओं का वर्णन करेंगे, ऐसा समझना चाहिए। जिस सर्ग के सातवें श्लोक का श्रीरामभद्राचार्य जी प्रमाण दे रहे हैं, उसी सर्ग के प्रारम्भिक दो श्लोकों में ही इनके भ्रम का उन्मूलन हो जाता है। अब इनके कथित मनोरम पक्ष पर आते हैं जो ये फलश्रुति वाला तर्क दे रहे हैं। उमा संहिता में रामायण के प्रत्येक काण्ड, सातों काण्ड की विस्तृत फलश्रुति दी हुई है जो स्वयं भगवान् शिव ने उमादेवी को सुनाया है। वहीं पर बालकाण्ड में ही अवतार के प्रसङ्गकाल में कहते हैं -

विष्णो पुत्र त्वमागच्छ कृत्वात्मानञ्चतुर्विधम्।
रावणस्य विनाशाय रावणेर्निधनाय च॥
लवणस्य वधार्थाय गन्धर्वाणां वधाय च।
कर्तव्यं निधनं देव चतुर्णां देवशत्रुणाम्॥
(उमा संहिता, पञ्चम अध्याय)

पुत्रभाव से विष्णु को सम्बोधित करते हुए प्रार्थियों ने कहा - आप अपने को चार भागों के रूप में करके अवतार ग्रहण करें। (रामरूप से) रावण के विनाश के लिए, (लक्ष्मणरूप से) रावणि-मेघनाद के वध हेतु, (शत्रुघ्नरूप से) लवणासुर के वध के लिए एवं (भरतरूप से) गन्धर्वों के वध के लिए। इस प्रकार से हे देव ! आपके द्वारा देवताओं के इन चारों शत्रुओं का वध किया जाना चाहिए। पाठक ध्यान दें कि उपर्युक्त प्रसङ्ग में लवणासुर एवं गन्धर्वगण के वध का प्रसङ्ग वाल्मीकि जी ने उत्तरकाण्ड में ही लिखा है तथा *तथोत्तरम्* शब्द के द्वारा उमा संहिता में ही शिव जी ने उत्तरकाण्ड को स्वीकृत भी किया है।

अब फलश्रुति की बात पर आते हैं। श्रीरामभद्राचार्य ने जो यश, आयुष्य, विजय आदि फल का प्रयोग किया है, उसकी संगति भी उत्तरकाण्ड से बनती है। बृहद्धर्म पुराण में रामायणसंकीर्तन प्रसङ्ग के अन्तर्गत देवी ने अपनी जया आदि सखियों को रामायण के सातों काण्ड की फलश्रुति बतायी है, जिसमें आनन्द एवं विजयसूचक फल उत्तरकाण्ड को पढ़ने या सुनने का है -

यः पठेत् शृणुयाद्वापि काण्डमभ्युदयोत्तरम्।
आनन्दकार्ये यात्रायां स जयी परतोऽत्र च॥

अब प्रश्न ये है कि उन्होंने युद्धकाण्ड के अन्तिम में फलश्रुति क्यों लिखी। देखिए, लिखने को तो उन्होंने उत्तरकाण्ड के अन्त में भी लिखी है किन्तु उसके मानने से विवाद कैसे होगा, विवाद नहीं होगा तो प्रसिद्धि कैसे होगी, इसीलिए आप उसे मानना नहीं चाहते।

वाल्मीकि जी ने जब युद्धकाण्ड तक का लेखन किया, तब उस समय तक लीला में भी

भगवान् वहीं तक पहुंचे थे, अतएव वाल्मीकि जी ने कहा कि एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानम्। ये आख्यान इतिहास रूप में, इस प्रकार अभी इस समय में यहीं तक घटित हुआ है। इतने दूर तक लेखन हुआ है, इसका विश्वासपूर्वक गायन करो, उसकी अमुक अमुक फलश्रुति है। किन्तु लोगों में यह सन्देश न जाये कि इसके आगे लिखेंगे ही नहीं, इसीलिए आदिकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में ही संकेत कर दिया था, वैधानिक निर्देश कर दिया रहा - *सभविष्यं सहोत्तरम्*। कि ध्यान रहे, भविष्य की घटना के साथ, उत्तरकाण्ड के साथ लिख रहा हूँ, युद्धकाण्ड तक ही पढ़ कर मत बन्द कर देना, आगे का भी लिखा है। उमा संहिता में शिवजी ने भी इसीलिए *तथोत्तरम्* एवं *कृत्स्नं रामायणम्* एकसाथ कहा, तात्पर्य यह है कि रामायण उत्तरकाण्ड के साथ ही पूरी है। और बृहद्धर्म पुराण में तो ब्रह्माजी ने वाल्मीकि को *रामायणं कुरु सप्तकाण्डम्* का स्पष्ट आदेश दिया ही है। इतने पर भी कोई उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त माने तो उसकी बुद्धि को प्रणाम आदि करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है, उसे अपनी भ्रमविष्ठा का ही आस्वादन करने दें।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

यह सर्वविदित है कि युद्धकाण्ड के १२८वें सर्ग में वाल्मीकि जी ने क्या नहीं कहा ? सब कुछ तो कह दिया। श्रीरामराज्याभिषेक का वर्णन करने के पश्चात् युद्धकाण्ड के १२८वें सर्ग के ८७वें और ८८वें श्लोक में उन्होंने सभी सेनाओं के विसर्जन का वर्णन किया। सभी वानर और भालू प्रभु को प्रणाम करके किष्किन्धा पधारे। इसके पश्चात् युद्धकाण्ड के इसी सर्ग में भरत जी को उन्होंने युवराज बनाया और एक बात बहुत मधुर कही कि भगवान् श्रीराम ने अनेक पौण्डरीक, अश्वमेध और वाजपेय यज्ञों का अनुष्ठान किया। इसमें भी जब सन्तोष नहीं हुआ तो महर्षि ने खुलकर कहा कि भगवती सीता जी की ही सन्निधि में अपने जीवन-कार्यकाल के दस हजार वर्ष पर्यन्त भगवान् ने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये। स्पष्ट कहते हैं कि भगवान् राम ने दस हज़ार वर्षपर्यन्त राज्य करते हुए सैकड़ों अश्वमेध यज्ञ किये -

राघवश्चापि धर्मात्मा प्राप्य राज्यमनुत्तमम्। ईजे बहुविधैर्यज्ञैः ससुहृत्भ्रातृबान्धवः॥
(वा०रा० ६/१२८/९७)

महर्षि वाल्मीकि जी बहुत स्पष्ट कह रहे हैं -

राज्यं दशसहस्राणि प्राप्त वर्षाणि राघवः। शताश्वमेधानाजह्रे सदश्वान् भूरिदक्षिणान्॥
(वा०रा० ६/१२८/९५)

राज्यं प्राप्य दशसहस्राणि वर्षाणि सदश्वान् भूरिदक्षिणान् शताश्वमेधान् आजह्रे अर्थात् भगवान् श्रीराम ने पैतृक राज्य प्राप्त करके अपने अवतार काल के दस हज़ार वर्ष पर्यन्त अनन्त अश्वमेध यज्ञ किये, जिनमें सुन्दर अश्वों को ब्राह्मणों को दान किया और भूरिदक्षिणान् - ब्राह्मणों को अनन्त दक्षिणाएँ दीं। यहाँ शत् शब्द अनन्त का वाचक है। इसी को गोस्वामी जी ने कह दिया -

कोटिन बाजिमेध प्रभु कीन्हे । दान अनेक द्विजन कहँ दीन्हे ॥
(मा० ७/२४/१)

और भी स्पष्ट कह रहे हैं। इतने पर तो हमारे खण्डनकर्ताओं को सन्तोष हो जाना चाहिए। महर्षि वाल्मीकि कह रहे हैं -

राघवश्चापि धर्मात्मा प्राप्य राज्यमनुत्तमम्। ईजे बहुविधैर्यज्ञैः ससुहृत्भ्रातृबान्धवः॥
(वा०रा ६/१२८/९७)

अर्थात् धर्मात्मा भगवान् श्रीराम ने श्रेष्ठ राज्य को प्राप्त करके अपने दोनों पुत्र लव-कुश, अपने तीनों भाइयों श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और अपनी बान्धवकल्प पत्नी सीताजी के साथ बहुविधैः यज्ञैः ईजे - बहुत प्रकार के यज्ञ किये। इससे और स्पष्ट क्या कहा जाए ? भगवान् राम के राज्यकाल में कोई विधवा नहीं थी, पिता पुत्र का संस्कार नहीं करता था अर्थात् पिता के समक्ष पुत्र की मृत्यु नहीं होती थी। आजकल शम्बूकवध की चर्चा की जा रही है। इसी युद्धकाण्ड के अन्तिम अध्याय के १०४वें श्लोक में महर्षि वाल्मीकि कह रहे हैं -

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः॥
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः।

सर्वे स्वकर्मे निरताः सर्वे धर्मपरायणाः ॥
(वा०रा० ६/१२८/१०४-१०५)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये सब लोभविवर्जित होकर, सर्वे स्वकर्मनिरताः - सब अपने अपने कर्म में निरत हैं। सर्वे धर्मपरायणाः - सभी धर्मपरायण हैं। जब सभी धर्मपरायण हैं, तो शम्बूक धर्मपरायण क्यों नहीं होगा ? और इसी बात को गोस्वामीजी अपने रामचरितमानस में कहते हैं -

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय शोक न रोग॥
(मा० ७/२०)

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

महर्षि ने कहाँ खुल कर कहा है कि "भगवती सीता जी की सन्निधि में अपने जीवन कार्यकाल के दस हज़ार वर्ष पर्यन्त भगवान् में अनेक अश्वमेध यज्ञ किये" ?? यज्ञ किया, ठीक है। दस हज़ार वर्ष तक किया, यह भी ठीक है। किन्तु सीताजी की सन्निधि में किया, यह कहाँ खुल कर कहा जा रहा है ? यज्ञ किया, इस बात पर हमारी कोई आपत्ति नहीं है, अनावश्यक प्रसङ्गविस्तार हेतु श्लोक और चौपाई दे रहे हैं आप। अच्छा, ससुहृत्भ्रातृबान्धवः में श्रीरामभद्राचार्य जी सुहृत् का अर्थ केवल पुत्र एवं बान्धव का अर्थ बान्धवकल्प सीताजी से ले रहे हैं। अपने से मनमाना अर्थ लगाकर भ्रम फैलाना तो कोई इनसे सीखे। बान्धव का अर्थ पत्नीपरक लेने की कौन सी विवशता आ पड़ी आपको ? बान्धव की परिभाषा, उसके प्रकार भी ज्ञात हैं आपको ? ऊपर से कुतर्क तो देखिए, कहते हैं कि वाल्मीकि जी स्पष्ट कह रहे हैं, जबकि वाल्मीकि जी ने बान्धव शब्द कहा है और उसका अर्थ ये महानुभाव पत्नी से लगा रहे हैं। *स्नेहेन मनो बध्नाति यः स बन्धुः*। स्नेह से जो मन को बांधे वह बन्धु हैं, ये तो सामान्य परिभाषा हो गयी। लगता है कि इसी के आधार पर श्रीरामभद्राचार्य ने सीता जी को बान्धव शब्द से विवक्षित कर लिया है। *बन्धु + अण्* (प्रज्ञादिभ्यश्च) से बान्धव निष्पन्न होगा जिसमें भी निश्चितार्थ स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यस्मृति में मिताक्षराकार इत्यादि स्पष्ट करते हैं -

बन्धवश्च त्रिविधा। आत्मबन्धवः पितृबन्धवो मातृबन्धवश्चेति।
आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः।
आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया ह्यात्मबान्धवाः ॥
पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः ।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः ॥
मातुःपितृष्वसुः पुत्राः मातुर्मातृष्वसुः सुताः ।
मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः ॥

उपर्युक्त स्मृतिवाक्य से सिद्ध है कि बान्धव तीन प्रकार के होते हैं, आत्मबान्धव, पितृबान्धव एवं मातृबान्धव। पिता, बुआ, मामा, मौसी, पिता के मामा, बुआ, मौसी एवं माता के मामा, बुआ, मौसी आदि के पुत्र की त्रिविध बान्धव संज्ञा है श्रीरामभद्राचार्य व्यर्थ में ही बलपूर्वक बान्धव शब्द का सीतापरक अर्थ लगाना चाह रहे हैं और कह रहे हैं कि वाल्मीकि जी ने स्पष्ट कहा है। वाल्मीकि जी को स्पष्ट ही कहना होता तो भार्या, जाया, प्रिया, कुछ ऐसा लिखते कि सीताजी का सङ्केत हो जाता। बान्धव शब्द से बान्धवकल्प करके सीतापरक अर्थ लेना श्रीरामभद्राचार्य की बौद्धिक धृष्टता है। अयोध्यावासियों के द्वारा जब निर्णय किया गया कि वे भी श्रीराम जी के साथ ही पीछे पीछे वन में जाएंगे तो उन्होंने कहा - जैसे लक्ष्मण जा रहे हैं वैसे ही हमलोग भी अपनी "पत्नियों" एवं अपने "बान्धवों" के साथ, जिस ओर रामजी जा रहे हैं, उसी मार्ग से पीछे पीछे चलेंगे।

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रम् सपत्न्यः सहबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग -३३, श्लोक - १६)

एक और प्रमाण देखें जो लक्ष्मण जी को मूर्च्छित देखकर श्रीराम जी ने कहा है - देश-देश में "पत्नियां" मिल जाऐंगीं, देश देश में "बान्धव" भी मिल जाएंगे किन्तु उस देश को मैं नहीं देखता, जहाँ सहोदर भ्राता मिल जाये।

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग - १०२, श्लोक - १३)

उपर्युक्त स्मृतिवाक्य एवं रामायणवाक्य से यह स्पष्ट होता है कि श्रीरामभद्राचार्य ने बान्धवाः शब्द का सीतापरक अर्थ करके यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी विद्वत्ता का स्तर क्या है, उन्होंने केवल अपने भ्रम को सिद्ध करने के लिए वाल्मीकि जी की सत्य वाणी का असत्य अर्थ करके उसे दूषित किया है।

रामराज्य के सन्दर्भ में श्रीरामभद्राचार्य ने जो कहा है कि कोई विधवा नहीं थी, पिता के समक्ष पुत्र की मृत्यु नहीं होती थी, चारों वर्ण अपने अपने धर्म का पालन करते थे, इस बात पर हमें कोई आपत्ति नहीं है। यह बात सर्वथा सत्य है। फिर उनका यह प्रश्न कि जब सभी धर्मपरायण हैं तो शम्बूक धर्मपरायण क्यों नहीं है ? यह भी इनका कुतर्क ही है। इनके इस कुतर्क को सही मान लें तो और भी गंभीर समस्या उत्पन्न हो जाएगी। वाल्मीकीय रामायण के पहले ही सर्ग में श्रीराम जी का वर्णन करते हुए देवर्षि नारद ने उन्हें *ज्ञानसम्पन्नः* और *सर्वलोकप्रियः* बताया है। अब कुतर्क ही करने पर कोई उतर आये तो कहा जा सकता है कि ज्ञानसम्पन्न राम जी को यह ज्ञान क्यों नहीं हुआ कि सीताजी अशोकवाटिका में हैं ? सर्वलोकप्रिय हैं तो फिर रावण से वैर कैसे हो गया ? ऐसे ही संशय सती जी को भी हुए थे। गोस्वामी जी ने मानस में लिखा है - देवताओं के हित के लिए मनुष्य शरीर धारण करने वाले जो विष्णु भगवान् हैं, वे भी शिवजी की ही भाँति सर्वज्ञ हैं। वे ज्ञान के भंडार, लक्ष्मीपति और असुरों के शत्रु भगवान् विष्णु क्या अज्ञानी की तरह स्त्री को खोजेंगे ?

बिष्नु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥

इस प्रकार के संशय करने का क्या दुष्परिणाम हुआ, ये तो सर्वविदित है। निश्चय ही राम जी के राज्य में सभी लोग अपने अपने कर्म में लगे हुए थे किंतु इसका कारण यह नहीं था

कि रामजी ने सबको सम्मोहित कर रखा था। रामजी ने अपनी दण्डनीति, राजनीति, धर्माचरण और न्यायशीलता से ऐसा शासनतन्त्र बनाया कि स्वभावतः ही सबकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गयी। उन्होंने किसी चमत्कार का नहीं, नीति का आश्रय लिया था। आप अपने घर में कितना भी अनुशासन रखें किन्तु कोई बाहरी व्यक्ति आक्रमण कर दें तो फिर शांति भंग होने लगती है। सभी वर्णों के लोग अपने अपने कार्य में तो राजा दशरथ के काल में भी रहते थे, उनका राज्य भी धर्मपरायणता के लिए प्रसिद्ध था किंतु एक मंथरा तो वहां भी हो गयी थी न ! यहाँ समझना चाहिए कि प्रजा इसीलिए गलत काम नहीं करती थी, क्योंकि रामजी उसे गलत करने देते नहीं थे। जहां गलत देखे, समाधान कर दे, ऐसा राजा का कार्य होता है। इसीलिए विवेकी प्रजा ज्ञान के कारण धर्म का पालन करती है तो अविवेकी प्रजा दण्ड के भय से। रामजी की दण्डनीति और राजनीति उत्कृष्ट थी, इसीलिए उनके राज्य में सभी लोग अपना काम करते थे। यह गुण उनसे कुछ पीढ़ी बाद हुए शत्रुजित् में नहीं था, जिसके कारण उनकी प्रजा अधार्मिक हो गयी। बाद में दुर्गा देवी को प्रकट होकर उसका संहार करना पड़ा था। यह कथा आपको श्रीमद्देवीभागवत महापुराण में कामबीज माहात्म्य के अन्तर्गत सुदर्शन प्रसङ्ग में मिल जाएगी।

रामजी ने प्रजा को अधर्म का अवसर ही नहीं दिया और जिसने अधर्म का प्रयास किया उसे शम्बूक की भांति समुचित दण्ड दिया। धर्म और अधर्म को जानने के लिए ही वे रात्रि को भ्रमण करते थे। रामजी कोई घर में बैठे नहीं रहते थे, और न ही प्रजा बैठे बैठाए धर्म में लगी रहती थी। अपितु रामजी ने यह सिद्ध किया कि कोई यदि अपराध करेगा तो दण्ड मिलेगा। इसीलिए रामराज्य की आशा करने वाले को साम, दान, दण्ड, भेद आदि का उचित प्रयोग आना चाहिए। किसी भी अधर्म करने वाले को रामजी शम्बूक की भांति तुरन्त दण्डित कर देते थे, इसीलिए उनके राज्य में सब अपने धर्म में लगे रहते थे, ऐसी बात है। रामजी ने पहले भी अधर्म करने वाले ताड़का, बालि, समुद्र आदि को दण्डित किया ही है। समुद्र ने समय पर क्षमा मांग ली तो बच गया। इसी दण्डनीति के कारण रामराज्य में सब धर्म में लगे रहते थे। रही बात श्लोक की, जो आपने दिया। तो ऐसा भ्रम तो और भी स्थानों पर हो सकता है। उदाहरण के लिए कैकेयी मंथरा से अयोध्याकाण्ड, अष्टम सर्ग में कहती है,

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौशल्यातोऽरिक्तं च सो हि शुश्रूषते हि माम् ॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातृंश्च राघवः॥

जैसे मुझे भरत प्रिय हैं, वैसे ही राम भी प्रिय हैं। राम तो कौशल्या से भी बढ़कर मेरी सेवा करते हैं। यदि राम को राज्य मिलता है तो भरत को ही मिला, ऐसा समझना चाहिए क्योंकि सभी भाईयों को राम अपने ही समान मानते हैं। अब यदि कोई पूर्वापर विचार किये बिना यहां संदेह करके कहे कि कैकेयी ने तो वनवास दिलाया था, तो ऐसी बात कह ही नहीं सकती, इसीलिए यह श्लोक गलत है, तो यह कितने वैचित्र्य की बात है ! ऐसे ही सर्वधर्मपालकों का श्लोक गलत नहीं है, आपके द्वारा उसका दृष्टिकोण गलत लगाया जा रहा है। "सभी लोग धर्म में लगे हुए थे" इसीलिए "शम्बूक अधर्म नहीं कर सकता", फलतः "शम्बूक वध काल्पनिक है", ऐसी बात नहीं है। अपितु बात यह है कि "शम्बूक जैसे अधर्म करने वाले को दण्ड मिलता था" इसीलिए "सभी लोग धर्म में लगे रहते थे", फलतः "शम्बूक वध प्रामाणिक है"।

अग्निदेव के अवतार जगद्गुरु स्वामी आद्यवल्लभाचार्य जी ने अपने श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य में सत्रहवें अध्याय, श्लोक पञ्चम (अशास्त्रविहितं घोरं ...) की व्याख्या में विशेषतः आसुरी तामसी अशास्त्रीय तपस्या को समझाने के लिये शम्बूक का ही उदाहरण दिया है - ये तु जनाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामकारतः येषां कामकार एव हेतुस्तत एव तपस्तप्यन्ते शम्बुकादिवत् तानासुरनिश्चयान् विद्धीत्युत्तरेणान्वयः ...

अनिलानलावतार जगद्गुरुद्वय वैष्णवाग्रणी आद्यमध्वाचार्य एवं आद्यवल्लभाचार्य जी ने अपनी कृतियों में स्पष्ट शम्बूक-सन्दर्भ दिया है किन्तु यह बात श्रीरामभद्राचार्य जैसे 'प्रकाण्डबुद्धि' की बुद्धि में क्यों नहीं आती है, यह शम्बूकहन्ता प्रभु ही जानें।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

वाल्मीकि जी यहाँ तक कह रहे हैं -
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् रामो राज्यमकारयत्॥
(वा०रा० ६/१२८/१०६)

यहाँ दस हज़ार शब्द स्वयं एकवचन का बोधक है और श्लोक में दशवर्षसहस्राणि कहा गया ? इसी प्रकार दस सौ वर्ष भी एक संख्या का बोधक है, पर यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया। दशवर्षशतानि। इसका अर्थ यह है कि भगवान् राम ने ग्यारह हजार वर्षपर्यन्त राज्य नहीं किया। फिर ? दस सहस्र में जब हम तीन का गुणा करेंगे तो तीस हजार होगा और दस शत में भी जब तीन का गुणा करेंगे तो तीस सौ होगा। अर्थात् कम से कम तैंतीस हज़ार वर्षपर्यन्त भगवान् राम ने राज्य किया और अकेले नहीं किया, भ्रातृभिः सहितः - अपने तीनों भाइयों के साथ राज्य किया।

इससे इस पक्ष का भी खण्डन हो जाता है कि लवणासुर के वध के लिए शत्रुघ्न को भगवान् ने मथुरा का राजा बनाया, क्योंकि तब तो यहाँ दो ही भाई होंगे - भरत और शत्रुघ्न। किन्तु यहाँ भ्रातृभिः बहुवचन है। इससे भी निश्चित हो जाता है कि उत्तरकाण्ड का प्रक्षेप है, उसे पश्चात् जोड़ा गया। और श्रीमान् कहकर भगवान् राम कह रहे हैं कि तैतीसों हज़ार वर्षपर्यन्त सीताजी भगवान् राम के साथ ही थीं। यदि ऐसा न होता तो *भ्रातृभिः सहितो वीरो* कह देते। श्रीमान् - श्रीमान् का अर्थ यही है। यहाँ मतुप् प्रत्यय नित्य अर्थ में है। *श्रीः नित्यं अस्ति अस्य श्रीमान्* - निरन्तर जिनके साथ सीताजी विराजमान रहती हैं, उन्हें श्रीमान् कहते हैं। यहाँ *तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्* (पा०अ०सू० ५.२.९४) सूत्र से मतुप् प्रत्यय तो हुआ है पर -

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥
(वा० ३१८३)

इस महाभाष्यवार्तिक के अनुसार श्री शब्द से मतुप् प्रत्यय प्राशस्त्य में और नित्य योग में हुआ है - (१) प्रशस्ताः श्रीः अस्ति यस्य इति श्रीमान् - जिसके पास प्रशस्त समस्तगुणसम्पन्न श्रीजी सीताजी पत्नीरूप में विराज रही हैं और (२) श्रीः नित्यं अस्ति अस्य इति श्रीमान् - जिनके साथ सीताजी नित्य विराज रही हैं। इससे भी और स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। वाल्मीकि ने उत्तरकाण्ड नहीं लिखा। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि जब वाल्मीकिजी ने युद्धकाण्ड में सब कुछ कह डाला - ससुहृत्भ्रातृबान्धवः (वा०रा० ६.१२८.९७) अर्थात् रामजी के पास पुत्र भी हैं, पत्नी भी और भाई भी, तो क्या बचा जो उत्तरकाण्ड में कहा गया ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

ये श्रीरामभद्राचार्य का नया प्रपञ्च है। अपनी पुस्तक के पृष्ठ ०६ में ये कहते हैं कि "*राज्यं प्राप्य दशसहस्राणि वर्षाणि सदश्वान् भूरिदक्षिणान् शताश्वमेधान् आजह्ने* अर्थात् भगवान् श्रीराम ने पैतृक राज्य प्राप्त करके अपने अवतार काल के दस हज़ार वर्ष पर्यन्त अनन्त अश्वमेध यज्ञ किये" और यहाँ दशसहस्राणि का अर्थ दस हज़ार ही ले रहे हैं किन्तु अगले ही सातवें पृष्ठ में जाते जाते जगद्गुरु जी को बोध हो गया कि यहाँ तो बहुवचन है सो तीन से गुणा करना होगा। छठे पृष्ठ में दशसहस्राणि का अर्थ दस हज़ार और सातवें पृष्ठ में तीस हज़ार ? जगद्गुरु जी की इस अद्भुत प्रज्ञा के निमित्त अलग से सदीपदधिमाषभक्तबलि देनी चाहिए। दस हज़ार शब्द एकवचन का बोधक कैसे हो गया ? दशसहस्र की संख्या एकवचन में कहाँ से दिख रही है आपको ? और तो और, हमने पहली बार सुना है कि सहस्राणि शब्द एकवचन का है। दस हज़ार बहुवचन का शब्द है। ऊपर से ये *जगद्गुरु* जी इसका उल्टा अर्थ ये लगा रहे हैं कि रामजी ने ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त राज्य नहीं किया। वाल्मीकि जी कह रहे हैं कि ग्यारह हज़ार वर्ष राज्य किया, ये कह रहे हैं कि नहीं किया। यहाँ पर हमें यह समझ में नहीं आ रहा है कि दस हज़ार में या दस सौ में हम तीन का गुणा करेंगे ही क्यों ? कौन से सिद्धान्त / सूत्र या उद्देश्य से ? 'विंशत्याद्याः सदैकत्वे' लगाने से भी बात नहीं बन रही है क्या ? ये मनमानी किसलिए ? शास्त्र का इस प्रकार से बौद्धिक शोषण क्यों किया जा रहा है ?

यदि सहस्राणि के बहुवचन होने से न्यूनतम तीन का गुणा होना संगत या अनिवार्य है, तो अश्वमेध वाले विषय की व्याख्या में आपने छठे पृष्ठ में ऐसा क्यों नहीं किया ? सातवें पृष्ठ में फिर तीन का गुणा लगा दिया ? और चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः में सहस्राणि शब्द में भी आप तीन का गुणा देकर ७२००० करेंगे क्या ? यदि हाँ तो बाकी श्लोक कहाँ गये ? यदि नहीं तो क्यों ? छठे पृष्ठ में सहस्राणि की व्याख्या में तीन का गुणा नहीं लगेगा। सातवें पृष्ठ में लग जायेगा। लेकिन चतुर्विंशत्सहस्राणि में फिर तीन का गुणा नहीं लगेगा। अद्भुत जगद्गुरो ! अद्भुत !! अस्तु, इसका समाधान भूषणकार गोविन्दराज जी दे चुके हैं - श्लोकानां चतुर्विंशत्सहस्राण्युक्तवान् । इकारलोपश्छान्दसः। "पङ्क्तिविंशति" इति सूत्रे विंशतीत्येव निपातनात्। "आदशतः सङ्ख्याः सङ्ख्येये वर्तन्ते, ततः परं सङ्ख्याने सङ्ख्येये च वर्तन्ते" इति नियमात्। सहस्रशब्दोऽत्र सङ्ख्यापरः। चतुर्विंशतिसहस्रसङ्ख्याकश्लोकांश्चकारेत्यर्थः। तथेति समुच्चये।

जब स्पष्ट कहा जा रहा है कि दस हज़ार एवं दस सौ, कुल ग्यारह हजार वर्ष राज्य किया तो ये अपने मन से एकवचन है, बहुवचन है, तीन का गुणा करो, तैंतीस हज़ार बनाओ, ये सब करना ही क्यों है ? कहीं कहीं वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण आदि में श्रीराम जी लिये दस हज़ार वर्षों के काल का वर्णन आया है, श्रीमद्भागवत, अग्निपुराण आदि में तेरह हज़ार वर्षों का वर्णन है। इस हिसाब से ऐसा ही कुछ कहते तो बात समझ में भी आती। किन्तु ये तैंतीस हज़ार आप लाये कहाँ से ? उसके बाद ये स्वयं को प्रामाणिक जगद्गुरु कहते हैं। इनकी ये काल्पनिक गणना न्यायसूत्र के वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् (५/२/८) को ही चरितार्थ करती है। अब हम देखते हैं कि ये *दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि* का उल्लेख कहाँ हुआ है -

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। रामो राज्यं पालयित्वा जगाम त्रिदिवालयम्॥
(स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड/धर्मारण्यखण्ड, अध्याय - ३०, श्लोक – ९०)

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। सर्वभूतमनःकान्तो रामो राज्यमकारयत्॥
(महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय - ५९, श्लोक – २८)

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत्॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय - २८, श्लोक – ६१)

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च॥ राज्यं कृत्वा क्रतून्कृत्वा स्वर्गं देवार्च्चितो ययौ।
(अग्निपुराण, अध्याय – ११, श्लोक - ११)

इस प्रकार से हमने कुछ प्रमाण दिए हैं जो दस हज़ार एवं दस सौ की सम्मिलित संख्या को श्रीराम जी के कार्यकाल हेतु मानते हैं। अब मैं इसमें उपर्युक्त संख्या का अर्थ ग्यारह हजार ही समझता हूँ जबकि श्रीरामभद्राचार्य (पता नहीं कहाँ से) तैंतीस हज़ार समझते हैं। सम्भव है कि वे अपनी इस बात का आधार रामायणशिरोमणिकार की कपिञ्जलाधिकरणन्यायाश्रिता निम्न व्याख्या को बना रहे हैं जिसमें वे कहते हैं - 'दशवर्षसहस्राणि दशसङ्ख्यागुणितानि वर्षसहस्राणि त्रिसहस्रसङ्ख्यासङ्ख्यातवर्षाणि त्रिंशत्सहस्रवर्षाणीत्यर्थः। दशवर्षशतानि च दशसङ्ख्यागुणितानि वर्षशतानि शतत्रयवर्षाणीत्यर्थः। एवञ्च त्रयस्त्रिंशत्सहस्रवर्षाणि राज्यं रामो नित्यरमणशील उपासित्वा कृत्वेत्यर्थः।'

अपनी इस (ना)समझ के समर्थन में उन्होंने सिवाय गणितीय कुतर्क के, कोई आर्ष प्रमाण नहीं दिया है किन्तु मैं अवश्य दूँगा। यहाँ निर्दिष्ट संख्या का अर्थ ग्यारह हजार वर्ष ही है क्योंकि गोविन्दराज जी भूषणकार ने इसी श्लोक में एकादशसहस्रसंवत्सरानित्यर्थः कहकर उक्त श्लोक की वर्षसंख्या तैंतीस हज़ार नहीं, ग्यारह हज़ार ही निश्चित की है। तैंतीस हज़ार के समर्थन में मुझे कोई शास्त्रमान्य प्रमाण नहीं मिला है किन्तु ग्यारह हज़ार के समर्थन में अनेकों प्रमाण हैं, यथा -

एकादशसहस्राणि वर्षाणि पृथिवीतले॥ कृत्वा राज्यं रघुश्रेष्ठ गन्तासि त्रिदिवं पुनः॥
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध - ०३, अध्याय - ३०, श्लोक – ५८)

एकादशाब्दसहस्रं राज्यमकरोत्॥
(विष्णुपुराण, चतुर्थांश, अध्याय – ०४ – ९९)

एकादशसहस्राणि कृत्वा राज्यं पुनर्दिवम्॥
ख्यातिस्ते विपुला लोके चानुरागो भविष्यति॥
(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड/प्रभासक्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय - १६५, श्लोक - १३३)

एकादशसहस्राणि रामो राज्यमकारयत्। शत्रुघ्नो लवणं जघ्ने शैलूषं भरतस्ततः॥
(गरुडपुराण, आचारकाण्ड, अध्याय - १४३, श्लोक – ५०)

एकादशसहस्राब्दं कृत्वा राज्यञ्च भारते। जगाम सर्वलोकैश्च सार्द्धं वैकुण्ठमेव च॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, अध्याय – १४, श्लोक - ६२)

अब आगे एक और प्रमाण देखें जहां नन्दिनी की कृपा से महाराज दिलीप को रघु नामक यशस्वी पुत्र की प्राप्ति होती है तथा उनके बाद अज, दशरथ, श्रीराम, कुश, अतिथि आदि का वर्णन है। इनमें से प्रत्येक राजा ने दस हज़ार वर्ष तक राज्य किया एवं श्रीराम ने ग्यारह हजार वर्षों तक राज्य किया।

नन्दिनीवरदानेन तत्पुत्रो रघुरुत्तमः। दशवर्षसहस्राणि दिलीपो राज्यसत्कृतः॥
राज्यं कृतञ्च रघुणा दिलीपान्ते पितुस्समम्। रघुवंशस्ततः ख्यातस्त्रेतायां भृगुनन्दन॥
विप्रस्य वरदानेन तत्पुत्रोऽज इति स्मृतः। पितुस्तुल्यं कृतं राज्यं तस्माद्दशरथोऽभवत्॥
पितुस्तुल्यं कृतं राज्यं तस्माद्रामो हरिः स्वयम्।
एकादशसहस्राणि रामराज्यं प्रकीर्तितम्॥
तस्य पुत्रः कुशो नाम राज्यं दशसहस्रकम्।
अतिथिर्नाम तत्पुत्रः कृतं राज्यं पितुः समम्॥
(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, खण्ड - १, अध्याय - ०२)

इस प्रकार से हम देखते हैं कि श्रीरामभद्राचार्य ने उपर्युक्त कालनिर्णय का कितना भ्रामक अर्थ किया है जिसके सर्वथा विरुद्ध प्रमाण शास्त्रों में भरे पड़े हैं। अब "<u>भ्रातृभिः सहितः</u>" के आधार पर केवल *भ्रातृभिः* शब्द आ जाने से इनको पूरा उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त लगने लगा

है। ये तो वही बात हुई कि कोई व्यक्ति कबूतर को भूमि पर दो चार कदम चलता देखकर उसे भूचर सिद्ध कर दे। भ्रातृभिः शब्द के बहुवचन होने मात्र से ये निश्चय कर बैठे हैं कि उत्तरकाण्ड प्रक्षेप है। आईये, इनके इस भ्रम की भी चिकित्सा करें।

सर्वप्रथम तो यह बता दें कि *भ्रातृभिः सहितः* का अर्थ ये नहीं कि सभी भाई उनके साथ महल में ही बैठे रहते थे। अपितु अर्थ है कि भाईयों के साथ, उनके सहयोग से, उनके माध्यम से शासन करते थे। जिस भाई को जहाँ का कार्यभार दिया, वहाँ पर उनके सहयोग से शासन करते थे, उन सबों के साथ मिलजुलकर राज्य चलाते थे, यह अर्थ है। अपने इस वक्तव्य के समर्थन में मैं शास्त्र प्रमाण भी दे रहा हूँ जहां स्पष्ट उल्लेख है कि श्रीरामजी ने सोचा कि मैंने अपना कार्य कर लिया, लक्ष्मण ने भी बहुत कार्य सिद्ध किये, मेरी अनुपस्थिति में राज्य का ध्यान रखकर भरत भी योग्यता सिद्ध कर चुके हैं किन्तु अभी तक शत्रुघ्न को कोई बड़ा कार्यभार नहीं दिया है, इसीलिए रामजी ने शत्रुघ्न को मधु के पुत्र लवण नामक असुर का संहार करने का निर्देश दिया एवं शत्रुघ्न जी ने उसे मारकर पुत्रों के साथ मथुरा या मधुरा नाम की नगरी पर शासन भी किया।

शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम् । हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम्॥
(श्रीमद्भागवतमहापुराण, स्कन्ध - ९, अध्याय - ११, श्लोक - १४)

धन्योसि राघवभ्रातः कस्त्वदन्योऽपरो भवेत्।
त्वया वै निहतो दैत्यो देवदानवदुःखदः। लवणो नाम लोकेश मधुपुत्रो महाबलः॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ३३)

स्वामिन्नयं दशरथकुलहीराङ्कुरो महान्। रामभ्राता महाशूरः शत्रुघ्नः प्रणमत्यसौ।
लवणो येन निहतः सर्वलोकभयङ्करः। कृताश्च सुखिनः सर्वे मुनयः सुतपोधनाः॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड अध्याय - ३७)

लक्ष्मणेन महत्कर्म कृतं निवसता वने। राज्यं पालयता कर्म भरतेन महत्कृतम्॥

शत्रुघ्नं प्रेरयाम्यद्य लवणस्य वधेप्सया। इत्येवं चिन्तयित्वा तु रामः शत्रुघ्नमब्रवीत्॥
मुनींश्चैतान्पुरस्कृत्य गच्छ शत्रुघ्न मा चिरम्। घातयस्व दुराचारं लवणं पापकारिणम्॥
घातयित्वा च लवणं जनांस्तत्र निवेशय। नगरी च तथा तत्र त्वया कार्या मनोरमा॥
तस्यां वस महाभाग पालयँस्त्वं वसुन्धराम्।
तत्राहमभिषेक्ष्यामि राज्ये त्वामृषिभिः सह॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड - ०१ अध्याय - २४२)

कालिन्दीपुलिने रम्ये ह्यासीन्मधुवनं पुरा। लवणो मधुपुत्रस्तु तत्रासीद्दानवो बली॥
द्विजानां दुःखदः पापो वरदानेन गर्वितः। निहतोऽसौ महाभाग लक्ष्मणस्यानुजेन वै॥
शत्रुघ्नेनाथ संग्रामे तं निहत्य मदोत्कटम्। वासिता मथुरा नाम पुरी परमशोभना॥
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध - ०४, अध्याय -२०, श्लोक - ५४-५६)

रामो दाशरथिर्वीरो धर्मज्ञो लोकविश्रुतः। भरतो लक्ष्मणश्चैव शत्रुघ्नश्च महाबलः॥
माधवं लवणं हत्वा गत्वा मधुवनं च तत्। शत्रुघ्नेन पुरी तत्र मथुरा विनिवेशिता॥
(ब्रह्माण्डपुराण, मध्यभाग, अध्याय - ६३)

दानवो लवणो नाम मधोः पुत्रो महाबलः।
शत्रुघ्नेन हतो राजंस्तदा रामस्य शासनात्॥
(महाभारत, सभापर्व)

शत्रुघ्नो लवणं हत्वा चिच्छेद स मधोर्वनम्।
तस्मिन् मधुवने स्थाने पुरीं च मथुरामिमाम्॥
(हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय - ३८)

हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्। शत्रुघ्नो मधुरां नाम पुरीं यत्र चकार वै॥
(विष्णुपुराण, प्रथमांश, अध्यायः १२, श्लोक - ०४)

शत्रुघ्नो लवणं हत्वा मथुरां देवनिर्मिताम्।
पालयामास धर्मात्मा पुत्राभ्यां सह राघवः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय - २४४)

कोई भी धर्मज्ञ होगा तो समझ जाएगा कि वाल्मीकि जी ने उत्तरकाण्ड में जो शत्रुघ्न एवं लवणासुर के युद्ध का, एवं शत्रुघ्न जी के द्वारा मथुराशासन का वर्णन किया है, वह सर्वथा सत्य एवं प्रामाणिक है, उसे केवल *भ्रातृभिः सहितः* का लक्ष्यार्थ न समझने के कारण श्रीरामभद्राचार्य ने जो उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कह दिया, वह इनकी अज्ञानता मात्र है।

श्रीमान् शब्द पर अब हम चर्चा करेंगे। श्रीमान् शब्द पर श्रीरामभद्राचार्य ने श्री शब्द का अर्थ सीता लेकर अपने व्याकरणाजीर्ण से यह सिद्ध करने का कुप्रयास किया है कि श्रीमान् का अर्थ सीता से युक्त। यद्यपि उन्होंने श्री शब्द की जो विवक्षा की है, वह श्रुतिसम्मत एवं आगमोक्त ही है।

श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते॥ (सीतोपनिषत्)
श्रयन्ती वैष्णवं भावं सा श्रीरिति निगद्यते॥ (अहिर्बुध्न्यसंहिता, अध्याय – ०३)

किन्तु यहाँ वह भावार्थ मान्य नहीं होगा। इसका कारण यह है कि मैं इस पुस्तक की भूमिका में ही सिद्ध कर चुका हूँ कि सीताहरण के बाद जब सीताजी भौतिक रूप से श्रीराम जी के साथ नहीं थीं, तब भी वाल्मीकि जी ने उनके लिए श्रीमान् शब्द का प्रयोग कई बार किया है, मैं भूमिका में ही प्रमाण दे चुका हूँ।

एष चूडामणिः श्रीमान् मया सुपरिरक्षितः ।
मनःशिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः॥
(वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग - ६५, श्लोक - २२)

सन्दधे धनुषि श्रीमान् रामः परपुरञ्जयः। युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः।

नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम् ॥
(वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग - ६४, श्लोक - ७५-७६)

दीर्घवृत्तभुजः श्रीमान् महोरस्कः प्रतापवान् ।
धन्वी संहननोपेतो धर्मात्मा भुवि विश्रुतः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग - ३३, श्लोक - ११)

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
प्रहृष्ट वदनः श्रीमान्भ्रातरं पार्श्वतः स्थितम् ॥
(वाल्मीकीय रामायण - किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग - ३, श्लोक – २५)

उपर्युक्त सभी प्रमाणों में यह ध्यातव्य है कि यहाँ श्रीराम जी के लिए श्रीमान् शब्द तब आया है जब वे सीताजी से दूर, उनके विरह की लीला कर रहे हैं। सीताजी तत्त्वतः श्रीरामजी की नित्या शक्ति होने से उनसे सूर्यरश्मिवदभिन्ना हैं अतएव भौतिक रूप से दूर रहने पर भी श्रीराम का श्रीमान् होना सम्भव है। जैसे सीताहरण के बाद भी श्रीराम श्रीमान् ही रहे, वैसे ही सीतानिर्वासन के बाद भी वे श्रीमान् ही रहे, इसके लिए सीताजी का भौतिक रूप से साथ रहना आवश्यक नहीं है। यदि हम केवल यह मान लें कि श्रीमान् का अर्थ सीता जी की भौतिक प्रत्यक्ष सन्निधि से युक्त श्रीराम हैं तो सीताहरण के बाद जितनी बार वाल्मीकि जी ने श्रीराम के प्रति श्रीमान् विशेषण का प्रयोग किया है, उनमें आपत्ति आ जायेगी। दूसरी बात, श्रीरामभद्राचार्य के साथ एक समस्या है कि चाहे बान्धव शब्द हो, श्री शब्द हो, सबका अर्थ व्याकरण का अनर्थ करके इन्हें जैसे तैसे सीता से जोड़कर सिद्ध कर देना है, चाहे संगति बने या न बने। ऐसा करके ये मूर्ख जनसमुदाय को तो ठग सकते हैं, किन्तु शास्त्रज्ञ आचार्यों को नहीं। यदि श्री का अर्थ रूढ़ भाव से सीता जी पर कीलित कर दें तो और भी समस्या हो जाएगी क्योंकि श्रीमान् शब्द तो रावण के लिए भी आया है। प्रमाण देखें -

सबले सागरं तीर्णे रामे दशरथात्मजे। अमात्यौ रावणः श्रीमानब्रवीत् शुकसारणौ॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग - २५, श्लोक - ०१)

आरुरोह ततः श्रीमान् प्रासादं हिमपाण्डुरम्। बहुतालसमुत्सेधं रावणोऽथ दिदृक्षया॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग - २६, श्लोक - ०५)

सीताहरण आदि का ही प्रसङ्ग देख लें -
मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः। राक्षसाधिपतिः श्रीमान् ययौ नदनदीपतिम्॥
(वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग - ३५, श्लोक - ०७)

संरक्तनयनः श्रीमान् तप्तकाञ्चनभूषणः। क्रोधेन महताविष्टो नीलजीमूतसन्निभः॥
(वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग - ४९, श्लोक - ०७)

अब क्या श्रीरामभद्राचार्य यहाँ रावण को श्री यानी सीता के साथ नित्य सन्निधि वाला सिद्ध कर देंगे ? वस्तुतः श्री का अर्थ शोभा, ऐश्वर्य आदि भी है। अतएव वस्तुतः सीताजी की भौतिक उपस्थिति के बिना भी राम श्रीयुक्त हैं, श्रीराम हैं, क्योंकि उनके नाम की व्याख्या में ही श्रीतत्त्व निहित है। अतएव ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्रीकृष्णजन्मखण्ड का वचन है कि रामशब्द में रा अक्षर लक्ष्मी एवं म अक्षर ईश्वर का वाचक है- **रा चेति लक्ष्मीवचनो मश्चापीश्वरवाचकः**। समाज में आज भी शोभायमान्, ऐश्वर्यवान्, प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए श्रीमान् शब्द का प्रयोग होता है। यही बात श्रीराम जी के सन्दर्भ में भी समझनी चाहिए क्योंकि वहाँ अधिक व्याकरण दिखाने के चक्कर में श्रीमान् शब्द ऐसे ऐसे दुष्परिणाम दिखाने लगेगा कि सम्भालना सम्भव न हो सकेगा। श्रीरामभद्राचार्य की धूर्तता देखें - ससुहृत्भ्रातृबान्धवः में अपने मन से सुहृत् का अर्थ पुत्र और बान्धव का अर्थ पत्नी कर दिया है। अमरकोष, शब्दकल्पद्रुम आदि सुहृत् शब्द का अर्थ मित्र, सखा, शुभचिन्तक आदि लगाते हैं किन्तु यहाँ बलपूर्वक ये महानुभाव इसका अर्थ केवल पुत्र लगा रहे हैं जो सर्वथा अशास्त्रीय एवं अप्रासंगिक है। बान्धव शब्द पर पूर्व में ही बहुत कुछ स्पष्ट कर चुका हूँ।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

उत्तरकाण्ड में एक अश्वमेध की चर्चा की जा रही है। वहाँ कथा जोड़ी गयी कि सीता-परित्याग के पश्चात् लक्ष्मण जी से रामजी ने विचार किया कि मुझे अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए, चूंकि अब सीताजी विराजमान नहीं हैं तो भरत मेरी स्वर्णमयी पत्नी बनाकर ले चलें। जैसा कि तथाकथित उत्तरकाण्ड के ९१वें सर्ग के २५वें श्लोक का सन्दर्भ देखिये -

काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायां ज्ञांश्च कर्मणि।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः ॥
(वा०रा०गी०प्रे० ७/९१/२५)

भगवान् राम कहते हैं- " अश्वमेध की दीक्षा में मेरी प्रतिनिधि रूप स्वर्णमयी पत्नी को लेकर भरत आगे चलें। " इस वाक्यपर स्वयं तिलककार को आपत्ति है। तिलकटीका में स्वयं तिलककार कहते हैं कि पत्नी स्वयं यजमान है तब वह पति की प्रतिनिधि कैसे बनेगी ? कथञ्चित् बने भी तो वर्णमयी प्रतिमा तो बन ही नहीं सकती । वस्तुतस्तु नैषां स्वर्णयी प्रतिमा प्रतिनिधिः (वा० रा० ति० टी०) स्वर्णमयी प्रतिमा इन यज्ञमानकी प्रतिनिधि नहीं बन सकती, क्योंकि उसमें तो देवताबुद्धि आ जाती है। देवता किसका प्रतिनिधि बनेगा ? इसलिए यह कल्पना भी अशास्त्रीय है कि भगवान् रामने प्रत्येक यज्ञमें स्वर्णमयी सीता बनायी, क्योंकि प्राण - प्रतिष्ठा मृत की होती है। अभी तो सीताजी विराजमान हैं, तो उनकी प्राण - प्रतिष्ठा कैसे की जायेगी ? और दूसरी बात ! प्राण - प्रतिष्ठा की भी जाए , तो वो श्रीरामकी प्रतिनिधि नहीं बन सकतीं। अस्यै देवत्वमर्चायां मामहेति च कश्चन। अर्चाविग्रह में देवत्व उसका होता है, जो जीवित नहीं । सीताजी जब जीवित हैं तो उनकी प्राण प्रतिष्ठा कैसे की जायेगी ? और यह भी कहा जाता है कि सीताजी जीवित हैं।

रामजीने अश्वमेध यज्ञ किया और लव-कुश ने उनका घोड़ा पकड़ा था, तो ये सब परस्पर विरोध हैं। जीवित सीताजीकी प्राण प्रतिष्ठा स्वर्ण - प्रतिमा में कैसे होगी ? और स्वर्ण - प्रतिमा छोटी होती है, केवल १६ माशेकी बनती है, तो १६ माशे की प्रतिमा कैसे रामजीका

प्रतिनिधित्व करेगी ? किं बहुना। जब युद्धकाण्ड में सब कुछ वर्णन आ गया कि भगवान् राम राजा बने , सभी वानर - भालुओं को, सम्बन्धियों को विसर्जित कर दिया और सीताजीकी ही उपस्थिति में भगवान् राम ने दस हजार वर्षों में ही सैंकड़ों अश्वमेध यज्ञ कर लिये क्योंकि तथाकथित उत्तरकाण्डमें ही कहा गया है- दशवर्षसहस्राणि प्राप्तयोश्च महात्मनो (वा ० रा ० गी ० प्र ० ७ ..) । श्रीराम और सीताजी दस हजार वर्षपर्यन्त अयोध्या में रहे, इसके पश्चात् सीताजी का निर्वासन हुआ। इसका अर्थ यह है कि श्रीसीताजी की उपस्थिति में ही अश्वमेध यज्ञ कर लिये गये थे। इसके बाद अश्वमेध यज्ञ नहीं किये गये।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

सर्वप्रथम तो आपने स्पष्ट नहीं किया कि "वहाँ कथा जोड़ी गयी”, तो किसने जोड़ी और कब जोड़ी ? और क्या स्वर्णमयी प्रतिमा वाली बात केवल उसी स्थान पर जोड़ी या अन्य ग्रन्थों में भी जोड़ी, जहाँ इसके प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप -

कृत्वा सीतापरित्यागं रामो राजीवलोचनः।
लोकापवादसन्त्रस्तस्ततो राज्यं चकार सः॥
कृत्वा स्वर्णमयीं सीतां पत्नीं यज्ञप्रसिद्धये।
न स चक्रे महाभागो भार्यामन्यां कथञ्चन॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय – ९९, श्लोक - १०-११)

कमलनयन रामजी ने लोकापवाद के भय से सीतात्याग करके आगे फिर राज्य करना प्रारम्भ किया। यज्ञ की पूर्ति के लिये उन्होंने सीता जी की सोने की मूर्ति बनाई किन्तु सीता जी को छोड़कर उन्होंने दूसरा विवाह न किया। कुछ अन्य प्रमाण देखें -

सौवर्णीं च ततः कृत्वा सीतां यज्ञं चकार सः।
अनुमन्त्र्य मुनींल्लोकान्देवताश्च निजं कुलम्॥
(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड-रेवाखण्ड, अध्याय – ८४, श्लोक – ४५)

इयाज वाजिमेधञ्च राघवः परवीरहा।
काञ्चनीं जानकीं कृत्वा तया सार्द्धं महाबलः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय - २४४)

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में तो बहुत सारशब्दों में लगभग उत्तरकाण्ड की सीतापरित्याग, वन में लवकुशजन्म, स्वर्णिमा सीता, भूमिप्रवेश आदि प्रधान कथाओं का वर्णन सूचीबद्ध है -

यस्या अर्थे स रामेण दशग्रीवो हतो रणे। लोकापवादभीतेन दशग्रीवगृहोषिता॥
अतः पत्नी परित्यक्ता सीता भूयो जनेश्वर। वाल्मीकेराश्रमे सा तु प्रसूता दारकद्वयम्॥
कुशं लवं च विक्रान्तौ ययोः सर्वाः क्रियाः कृताः।
वाल्मीकिना महाभागौ वेदमध्यापिता यथा॥
प्रकर्षं च धनुर्वेदे पारं नीता तु तौ शिशू।
वाल्मीकिना तथा कृत्वा रामस्य चरितं शुभम्॥
अध्यापितौ विशालाक्षौ दारकौ प्रियदर्शनौ। अगायतां ततस्तौ तु रामयज्ञे कुमारकौ॥
रामस्य चरितं कृत्स्नं रामस्य पुरतः स्थितौ।
तस्मात्काव्यात्तु विज्ञाय पुत्रौ तौ प्रियदर्शनौ॥
यज्ञे तां च तथाभूतामानयामाम सत्वरः। उवाच च वरारोहां प्रत्ययं कुरु मे शुभे॥
रामस्य वचनं श्रुत्वा सीता वचनमब्रवीत्। यथाऽहं राघवादन्यं मनसापि न कामये॥
तेन सत्येन मे देवी विवरं सम्प्रयच्छतु। एतस्मिन्नेव काले तु भुवं भित्त्वा समुत्थितम्॥
धृतं सिंहासनं नागैस्तत्रैनामुपवेशयत्। स्वयं वसुमती देवी पातालं सा ततो गता॥
अविच्छिन्नेन पतता पुष्पवर्णेन पार्थिव। तस्यां भूमिप्रविष्टायां राघवं क्रोधसंयुतम्॥
सान्त्वयामास वै ब्रह्मा सर्वलोकनमस्कृतः।
रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्॥
ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भातृभिरच्युतः।
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड – ०१, अध्याय - २२१)

इससे सिद्ध होता है कि ये सब कथायें उत्तरकाण्ड का मूल एवं प्रामाणिक अंश हैं, प्रक्षिप्त नहीं। आचार्य कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक में श्रीराम जी के द्वारा स्वर्णसीता प्रयुक्ता होने का वर्णन किया है, क्या उन्हें भी श्रीरामभद्राचार्य मूर्ख समझते हैं ? क्या उन्हें भी मिलावट का पता नहीं चला और उनके २५०० वर्ष बाद के इन महानुभाव को ब्रह्मज्ञान हुआ कि ये सब प्रक्षिप्त हैं ? भट्टाचार्य अनुग्रह करते हैं कि यह श्रीरामजी की अमानुषीय लीला है -

अपत्नीकस्य च रामवत्क्रतुप्रयोगः। हिरण्मयसीताकरणञ्च लोकापवादभिया त्यक्तसीतागतानृशंस्यभावाशङ्कानिवृत्यर्थम्। न हि मानुषीष्वेवमुपपद्यते तेनातीतमानुषमित्युक्तम्।
(तन्त्रवार्तिक)

अब प्रतिनिधि की बात करते हैं। प्रथम तो रामजी के प्रतिनिधि की नहीं, सीताजी के प्रतिनिधि की आवश्यकता है। रामजी तो सशरीर प्रत्यक्ष उपस्थित हैं ही, सीताजी की उपस्थिति करानी है क्रियालोप से बचने के लिए। शास्त्रों में अनेकों स्थान पर प्रमाण है कि असमर्थता एवं अनुपलब्धता में स्त्री अपने धार्मिक कृत्यों के लिये पुरोहित, पुत्र आदि को प्रतिनिधि बनाये। प्रतिनिधि का अर्थ यहाँ - 'उसके बदले क्रिया सम्पादित करने वाला' है। अपनी बालबुद्धि का परिचय देते हुए श्रीरामभद्राचार्य कहते हैं कि प्राण-प्रतिष्ठा उसकी होती है जो मर चुका हो। जगद्गुरु जी केवल यही बता दें कि आपने जो हनुमानजी की प्रतिष्ठा कर रखी है तो वह कृत्य आपने हनुमानजी के मरने के बाद किया या जीवित रहते ही ? आप कहते हैं कि अर्चाविग्रह में देवत्त्व उसका होता है जो जीवित नहीं है - इस बात का तो मैं उत्तर भी नहीं देना चाहता। मतलब कुछ भी ...? हमलोग जो सूर्य, शिव, दुर्गा, नारायण आदि की प्राण प्रतिष्ठा करते हैं तो इन्हें तो अब तक मरा हुआ होना चाहिये था ? है कि नहीं ... ?

प्राणप्रतिष्ठा से प्रतिमा में देवत्त्व तभी आयेगा यदि विधानोक्त मार्ग से उसका आनयन किया जाए अन्यथा नहीं। उस प्रतिष्ठा में भी प्राणतत्त्व अदृष्ट सूक्ष्म होता है अन्यथा प्रतिष्ठित प्रतिमाएं भी प्रत्यक्ष व्यवहार करती होतीं। आपने कहा कि प्रतिमा छोटी और सीताजी बड़ी, प्रतिनिधित्व कैसे होगा ? तो जिस प्रकार से कोई देश का दूत उसके राजा

का प्रतिनिधित्व करता है, वहां भाव यह है कि वह क्रियात्मक रूप से अधिकृत है, न कि उसे उस राजा के सापेक्ष पूर्णतः भूतसाम्य होना चाहिये। मुख्यस्याऽभावे तत्सदृश उपादीयते स प्रतिनिधिः (प्रौढमनोरमा)। इसी प्रकार से स्वर्णप्रतिमा भी सीताजी का प्रतिनिधित्व कर सकती है। ब्राह्मण देवता को रुक्मिणी जी ने अपना प्रतिनिधि बनाकर द्वारिका भेजा था, फिर तो आपके हिसाब से उन्हें साड़ी भी पहननी चाहिए थी और रजस्वलाधर्म भी आना चाहिये था ? काशिकावृत्ति कहती है कि जो मुख्य के सदृश हो, देखने में वैसा ही लगे, वह प्रतिनिधि है - मुख्यसदृशः प्रतिनिधिः। सौ ग्राम के शिवलिंग एवं शालग्राम जी को इसीलिए ब्रह्मरूप माना गया है। कोषग्रन्थों का मत है - तुल्यरूपतया करणादौ प्रतिनिधिः प्रतिनिधीयते सदृशीक्रियत इति।

यजनीय द्रव्यों में भी प्रतिनिधित्व होता है। तत्र कहते हैं - जिन साधनाओं में मद्य देना हो और द्विजाति मद्य न दे तो उसके अभाव में कांसे के पात्र में नारियल का जल अथवा ताम्बे के पात्र में दूध दे- मद्याभावे कांस्ये गर्भोदकमनुकल्पं ताम्रे वा क्षीरम्। मीमांसावचन है - प्रतिनिधिः श्रुतद्रव्यबुद्ध्या गृह्यते न तु द्रव्यान्तरबुद्ध्या द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात्।

वेद कहते हैं कि जो विधान में कहा है, वैसा समग्र न मिले तो प्रतिनिधि विधान है -

यथा यूपाञ्जने सर्पिषोऽभावे तैलम्। प्रतिषिद्धेभ्यो निवृत्तः प्रतिनिधिः। अविशेषेण हि प्रतिषेधः श्रूयते। विकल्पे प्रवृत्तिलक्षणः। कृत्स्नाभावे प्रतिनिधिः।
(हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र, प्रश्न - ०३, प्रथम पटल)

कुछ लोग कह सकते हैं कि निम्न वचन से सिद्ध होता है कि भार्या का प्रतिनिधि नहीं होता है, इसीलिए यद्यपि विपक्षी ने आक्षेप नहीं किया है, फिर भी मैं समाधान कर ही देता हूँ।

न स्वामित्वस्य भार्यायाः पुत्रस्य देशस्य कालस्याग्नेर्देवतायाः कर्मणः शब्दस्य च प्रतिनिधिर्विद्यते।
(हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र, प्रश्न - ०३, प्रथम पटल)

यहाँ भाव यह है कि यदि पति, पत्नी या पुत्र न हो तो हम किसी भी स्त्री-पुरुष को अपना पति, पत्नी या पुत्र प्रतिनिधि नहीं बना सकते। यह नहीं कि आज मेरे पति या पत्नी अनुपलब्ध हैं तो पड़ोसी पड़ोसन को पति या पत्नी का प्रतिनिधि बना दिये। ऐसे ही देश, काल, अग्नि, देवता, कर्म और शब्द का भी प्रतिनिधि नहीं होता है। पुष्कर देश में रात्रिकाल को दक्षिणाग्नि में इन्द्रदेवता के निमित्त आहुतिकर्म को यजुर्वेदीय मन्त्रों से सम्पादित करने का अगर कोई विधान है तो उसके अभाव में हम प्रतिनिधित्वरूप से मगध देश में दिवाकाल में गार्हपत्याग्नि में विश्वेदेव के श्राद्धकर्म को अथर्ववेदीय मन्त्रों से सम्पादित नहीं कर सकते। श्रीरामभद्राचार्य कहते हैं कि प्रत्येक यज्ञ में स्वर्णमयी सीता की कल्पना अशास्त्रीय है, जबकि संहिताकार महर्षि गर्ग इसके सर्वथा विपरीत वक्तव्य देते हैं।

यदा यदाकरोद्यज्ञं रामो राजीवलोचनः। तदा तदा स्वर्णमयीं सीतां कृत्वा विधानतः॥
(गर्गसंहिता, गोलोकखण्ड, अध्याय – ०४, श्लोक - ६१)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १६ के अन्तिम श्लोक में कहते हैं कि कर्तव्य एवं अकर्तव्य की स्थिति में शास्त्र ही प्रमाण हैं, शास्त्रप्रमाण को जानकर ही कुछ करो। शास्त्रों में कर्तव्याकर्तव्य का प्रधानता से विवेचन करने वाली स्मृतियों से एक उद्धरण देता हूँ जो स्पष्ट इसी विषय पर है। स्मृतिकार ऋषि कात्यायन ने श्रीराम जी के द्वारा स्वर्णसीता के माध्यम से यजन करने का उदाहरण भी दिया है जिसमें एक श्लोक तो विष्णुधर्मोत्तर में भी आया है जिससे इस प्रसंग की प्रामाणिकता एवं साधुता की पुष्टि होती है -

मृतायामपि भार्यायां वैदिकाग्निं न हि त्यजेत्।
उपाधिनापि तत्कर्म यावज्जीवं समापयेत्॥
रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्।
ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरच्युतः॥
(बृहत्कात्यायनस्मृति, खण्ड - २०, श्लोक – ०९-१०)

इसके आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं - भार्या मरणमापन्ना देशान्तरगतापि वा। सीताजी देशान्तर में ही तो थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वर्णप्रतिमा वाली बात प्रामाणिक है और श्रीरामभद्राचार्य के कुतर्क का निग्रह होता है। एक हास्यास्पद बात इन्होंने पुनः की है। यहाँ दशवर्षसहस्राणि शब्द का अनुवाद इन्होंने पुनः दस हज़ार ही किया है। पृष्ठ ०६ में इसी पद का अनुवाद दस हज़ार किया, पृष्ठ ०७ में स्मरण हुआ कि सहस्राणि तो बहुवचन है, इसमें तीन का गुणा करना होगा, तीस हज़ार बनाना पड़ेगा। पुनः पृष्ठ ०९ में आकर ये फिर इसी का अनुवाद वापस दस हज़ार कर देते हैं। मुझे इनसे तो नहीं किन्तु इनके गुरु से मिलने की इच्छा अवश्य हो रही है क्योंकि ये तो लोकोत्तर ज्ञान है, धरती में इसे बाँट कौन रहा है ? मुझे तो लगता है कि पुराणकार भगवान् वेदव्यास, संहिताकार गर्ग, स्मृतिकार कात्यायन एवं वार्तिककार कुमारिल भट्ट इसीलिए मिलावट नहीं पकड़ सके क्योंकि उन्हें 'पद्मविभूषण' नहीं मिला था।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

अब दूसरे पक्षपर विचार करते हैं। उत्तरकाण्डके प्रक्षेपमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि युद्धकाण्डके अन्तमें फलश्रुति कही जा रही है। यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् के दो चरित्र हैं - आगत और अनागत। आगत चरित्रका विश्राम युद्धकाण्डमें हुआ और अनागत चरित्रका विश्राम उत्तरकाण्डमें हुआ, इसलिए यह फलश्रुति आगत चरित्रोंकी है। यह पक्ष भी उनका असङ्गत है । युद्धकाण्डके अन्तिम सर्गके ११९वें श्लोक में स्वयं महर्षि कहते हैं

रामायणमिदं कृत्स्नं श्रृण्वतः पठतः सदा।
प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः॥
(वा० रा० ६ / १२८ / ११९)

कृत्स्नं रामायणम्- यह सम्पूर्ण रामायण है, आधा - तिहाई नहीं, अनागत आगत नहीं, यह सम्पूर्ण रामायण है। इसका जो श्रवण और पठन करेगा उसपर भगवान् राम सन्तुष्ट होंगे क्योंकि वही सनातन विष्णु हैं। और १२१ वें श्लोक में और खुलकर कह दिया -

एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः। प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम्॥
(वा० रा० ६/१२८/१२१)

एतत् आख्यानम् एवमेव पुरा वृत्तम्- यह आख्यान इसी प्रकार से प्रथम सम्पन्न हुआ । इसमें किसी प्रकारके जोड़ने या घटानेकी कोई आवश्यकता नहीं है और कोई अवकाश भी नहीं है और यहाँतक कहा कि विस्रब्धं प्रव्याहरत- इसका विश्वासपूर्वक गान करें और पठन करें । भद्रमस्तु वः- आप लोगों का कल्याण हो , बलं विष्णोः प्रवर्धताम्। विष्णुका बल बढ़ता रहे। तो जब फलश्रुति कह ही दी गयी, फिर उत्तरकाण्ड की आवश्यकता पड़ी क्या ? और सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि यदि कहें कि बालकाण्डके चतुर्थ सर्गका द्वितीय श्लोक कह रहा है -

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवान्मुनिः।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्॥
(वा० रा० १/४/२)

अर्थात् महर्षि वाल्मीकिने चौबीस हजार श्लोक लिखे, पाँच सौ सर्ग लिखे और छह काण्ड लिखे और उत्तरकाण्ड लिखा। इस श्लोकका यदि अर्थ देखें और आजकी रामायणसे मिलाएँ , तो आपको भी विरोध स्पष्ट दिखेगा। मैं सर्गोंकी सङ्ख्या बता दे रहा हूँ , आप अपने - आप समझ लेंगे। (१) बालकाण्डके सर्ग हैं- ७७ , (२) अयोध्याकाण्डके सर्ग हैं- ११९ , (३) अरण्यकाण्डमें सर्ग हैं -७६ , (४) किष्किन्धाकाण्डमें सर्ग हैं -६७ , (५) सुन्दरकाण्डके सर्गोंकी सङ्ख्या है- ६८ , (७) युद्धकाण्डके सर्ग हैं- १२८ और (७) उत्तरकाण्डके सर्गोंकी सङ्ख्या १११ है। अब सुधीपाठक स्वयं जोड़कर बताएँ कि वाल्मीकीय रामायणमें सर्गोंकी सङ्ख्या कितनी हो रही है ? वाल्मीकीय रामायणके बालकाण्डके चतुर्थ सर्गके द्वितीय श्लोकके अनुसार महर्षिने पाँच सौ सर्ग लिखे। यहाँ ६४६ कैसे हो गये ? इससे भी उत्तरकाण्डका प्रक्षेप सिद्ध हो जाता है। यदि उत्तरकाण्डके १११ सर्ग निकाल देंगे , कथञ्चित् इतना तो हो जायेगा कि ५३२ से ५३३ सर्ग होंगे , तो कोई बहुत आपत्ति नहीं। किन्तु सैकड़ों सर्ग बढ़ें , तो वाल्मीकिवचन की रक्षा कैसे होगी ? इसलिए भी उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है।

किं बहुना ! बालकाण्डके चतुर्थ सर्गमें एक प्रकरण आता है। वह यह कि जब महर्षि वाल्मीकिने सम्पूर्ण रामायणकी रचना कर ली, तब उन्हें चिन्ता होने लगी कि इसका गान कौन करे ? ' तो उन्होंने कुशीलवको देखा - कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ (वा० रा० १.४.५) अब यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि उत्तरकाण्ड नहीं माना जाए, तो कुश - लवके द्वारा रामायणका गान कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रश्नके मैं दो उत्तर प्रस्तुत करूँगा (१) प्रथम काव्यमें किसीके गायनकी आवश्यकता नहीं होती। यह तो पुराणों की परम्परा है , जैसे वेदव्यासजी ने पुराणों की रचनाकी और सूतजीने उसका वाचन कर दिया । यह काव्य की परम्परा नहीं है और यह काव्य है। और (२) दूसरी बात यहाँ यह है कि यहाँ महर्षि कह रहे हैं - कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ (वा० रा० १.४.५ .)। कुशी - लव ये धर्म के ज्ञाता, यशस्वी राजपुत्र हैं। इसका अर्थ लव - कुशसे कभी नहीं लेना चाहिए। कुश और लव को कभी कोई कुशीलव कहेगा ? कुशश्च लवश्च तो कुशलवौ न कहा जायेगा ? वहाँ अकार को ईकार किस सूत्रसे आया ? यह तो जो तथाकथित गुरु हैं , वही इसका उत्तर दें क्योंकि कुशश्च लवश्च , तो कुशलवौ बनेगा , कुशीलव तो नहीं बन सकता ।

इसीलिए एक कवि ने कहा - मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता। क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण के आधार पर यह पद्य भट्टवाचस्पति का है, यह हनुमन्नाटक में भी पाया जाता है । हनुमन्नाटक में अनेक कवियों के प्रसिद्ध पद्यों का भी सन्निवेश करने के कारण सरलता से यह हनुमन्नाटककार का तो कहा नहीं जा सकता। अतः क्षेमेन्द्र को आधार मानकर इसे भट्टवाचस्पति का कहना तर्कसङ्गत है। सीताजीको कुशलवसुता कहा जाता है , कुशीलवसुता तो नहीं कहा जाता। यदि कोश देखें तो गायकौ तु कुशीलवौ अर्थात् युगल गायकों को कुशीलव कहते हैं। ये कोई गन्धर्वपुत्र होंगे, रामजीके पुत्र नहीं गायेंगे। क्यों ? क्योंकि युद्धकाण्ड के अन्तिम सर्गमें स्वयं महर्षि वाल्मीकि कहते हैं प्रणम्य शिरसा नित्यं श्रोतव्यं क्षत्रियैर्द्विजात् (वा० रा० ६.१२८.११८) अर्थात् वाल्मीकीय रामायण क्षत्रियोंके द्वारा ब्राह्मणों को प्रणाम करके उसीके मुख से सुनना चाहिए।

यदि लव-कुशको यहाँ गायक माना जायेगा, तो भगवान् राम उनके मुखसे रामायण क्यों सुनेंगे और वाल्मीकि स्वयं अपने का व्याघात क्यों करेंगे ? क्षत्रियकुमार को वाल्मीकि

रामायण का अधिकारी क्यों बनायेंगे ? और वहाँ भिक्षुकवत् व्यवहार कराया गया कि लव - कुश गान कर रहे हैं और कोई कमण्डलु दे रहा है , कोई कुछ दे रहा है। चक्रवर्ती दशरथ के पौत्र को भिक्षुक जैसा बना दिया गया। इससे भी लगता यही है कि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। इतना ही नहीं, यदि उत्तरकाण्ड की पृष्ठभूमि देखी जाए, तो अन्य काण्डोंकी अपेक्षा उत्तरकाण्डकी भाषा भी कुछ विचित्र ही लगती है, अति सामान्य और श्लोकों की सङ्ख्या भी बहुत कम। कहीं १८, कहीं २०, कहीं १०, जो कि ऐसी सङ्ख्या अन्य किसी काण्डमें नहीं दिखती है। तो भाषा, शैली, भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टिसे भी उत्तरकाण्ड पश्चात् जोड़ा हुआ प्रतीत होता है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

अनागत एवं आगत विषय पर तो 'सभविष्यं' पद से ही आप निरस्त हो जाते हैं क्योंकि युद्धकाण्ड में भविष्य की घटनाओं को पर्याप्त स्थान मिला ही नहीं है। 'सहोत्तरम्' पद इसका सम्पोषण करता है तथा 'अनागतञ्च' कहकर भूषणकार इसका समर्थन करते हैं। रामायणमञ्जरीकार भी यही मानते हैं -

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वृत्तं वृत्तपदोचितम्। भविष्यच्चरितोपेतं सर्गबन्धे विधाय सः॥
(रामायणमञ्जरी, बालकाण्ड - २८)

इस प्रकार से कृत्स्नं शब्द आने के बाद भी भविष्य, अनागत और उत्तरकाल का निषेध नहीं होता क्योंकि मैं उमा संहिता का प्रमाण दे चुका हूँ जहाँ सातों काण्ड के साथ ही 'कृत्स्न' का योजन किया गया है। इस प्रकार अनागतसिद्धान्त साधु एवं 'कृत्स्न' से अनाक्रमित है। अब आते हैं सर्ग संख्या पर …वैसे ये बात अच्छी और विचित्र है कि चतुर्विंशत्सहस्राणि में सहस्राणि देखकर आपने इसे त्रिगुणित नहीं कर दिया। सर्गसंख्या बढने के बाद भी सम्बन्धित भाग प्रक्षिप्त नहीं है, इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि इसमें वर्णित सभी कथाओं का स्पष्ट अक्षरशः प्रमाण वेद, स्मृति, तन्त्र, पुराण, इतिहास एवं पूर्वाचार्यों की कृतियों में मिलता है, जो मैं क्रमशः बताते ही जा रहा हूँ। दूसरा कारण मैं पिछली पुस्तक में लिख चुका हूँ, पुनः संकेत कर रहा हूँ।

नारदाद्वेदवाक्यैश्च यथा वाल्मीकिना श्रुतम्। तावदेवार्थमादाय तेन वाल्मीकिना पुरा॥
शतश्लोकमितं रामचरितं पापनाशनम्। शतकोटिमितायां स्वकवितायां मनोरमम्॥
(आनन्द रामायण, मनोहरकाण्ड, सर्ग - ०१, श्लोक – ४-६)

नारद जी के वेदसम्मत वाक्यों को (वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड के प्रथम सर्ग के अनुसार) वाल्मीकि जी ने जैसा सुना, उसी के आधार पर अर्थ करते हुए, वाल्मीकि जी ने अपनी मनोरम कविता के माध्यम से रामचरित के पापनाशक सौ श्लोकों को, सौ करोड़ श्लोकों में विस्तृत कर दिया।

वाल्मीकिना कृतं देवि शतकोटिप्रविस्तरम्। रामायणं महाकाव्यं जगृहुर्मुनयश्च ते॥
(आनन्द रामायण, यात्राकाण्ड, सर्ग ०२, श्लोक - ०१)

उस विशाल रामायण को सुनने के लिए अनेक देवता, ऋषि आदि आये। उनमें मैं इस भाग को लूंगा, इस भाग को लूंगा, ऐसा विवाद देखकर शिवजी ने हस्तक्षेप किया और सभी लोकों एवं पृथ्वी पर सभी मानवीय एवं दिव्य द्वीपों में बांट दिया। उसमें दो विभाजन अद्भुत रहे।

१) नारद जी को चार श्लोक मिले, जिन्हें उन्होंने चतुःश्लोकी भागवत के रूप में वेदव्यास जी को दिया और वेदव्यास जी ने उसके आधार पर बाद में श्रीमद्भागवत की रचना की।
२) एक अक्षर "श्री" बच गया तो शिव जी ने उसे सार्वजनिक कर दिया और कहा कि ये शब्द किसी भी देवता, पूज्य या मन्त्र के साथ लगाया जा सकता है।
अस्तु, आगे क्या हुआ ?

रामायणान्यनेकानि पृथगग्रे मुनीश्वराः। भागाद्भारतखण्डान्तर्गतात्कुम्भोद्भवादयः॥
करिष्यन्त्यत्र शतशस्तानि सर्वाणि पार्वती।
वाल्मीकीयाद्विना देवि न ज्ञेयानि मनीषिभिः।
सारकाण्डं पुरा देवि यदुक्तं च मया तव।

वाल्मीकीयाच्च तच्चापि सारमुद्धृत्य वै मया॥
(आनन्द रामायण, यात्राकाण्ड, सर्ग - ०२, श्लोक - ६९-७१)

ऋषियों ने उस महान् रामायण के विभिन्न भागों को ग्रहण कर लिया। उस विभाजन में जो भाग भारतवर्ष के अंतर्गत आया, उसको आधार बनाकर अगस्त्य आदि ने अपने अपने रामायण की रचना की। (शिव जी कहते हैं) हे पार्वती ! इतना ही नहीं, उस कथा के आधार पर सैकड़ों ऋषियों ने अपने अपने शब्दों में रामकथा का वर्णन किया। चूंकि ये सभी वाल्मीकि जी के रामायण से ही निकले हैं, इसीलिए बुद्धिमान् व्यक्तियों को इन्हें वाल्मीकि रामायण से अलग नहीं समझना चाहिए। मैंने (इस आनन्द रामायण के प्रारम्भ में) जो सारकाण्ड तुम्हें सुनाया है, वह वाल्मीकि रामायण के सार के रूप में ही ग्रहण करके बताया है।

ततो रामायणं व्यासो विध्वस्तं मुनिभिः पुनः।
कृत्वैकत्र शेषभूतं सप्तकाण्डमितं शुभम्॥
चतुर्विंशतिसाहस्त्रं रक्षिष्यति मुनिस्तदा।
आदावन्ते ततत्तस्य श्लोकास्तत्र कियन्ति हि॥
चतुर्विंशतिसाहस्त्रं व्यासस्य रचिता अपि। भविष्यन्ति गिरिजेऽग्रे मङ्गलाचरणादिषु॥
(आनन्द रामायण, यात्राकाण्ड, सर्ग - ०२, श्लोक – ६६-६८)

अब चूंकि मुनियों ने रामायण को खण्डित करके आपस में बांट लिया था तो उसका सबसे पहले लिखा हुआ मूलभाग ध्वस्त हो गया। कुछ कथाभाग एक ऋषि के पास चला गया तो कुछ दूसरे के पास। शिव जी कहते हैं कि हे देवि ! आगे वेदव्यास जी उन्हें एकत्र करके सात कांडों में व्यवस्थित करके उसकी रक्षा करेंगे। इसीलिए प्रारम्भ और अंत में उनके भी कुछ श्लोक दृष्टिगोचर होंगे। (वाल्मीकि के रचित) चौबीस हज़ार श्लोकों के अतिरिक्त भी मंगलाचरण आदि में वेदव्यास जी के रचित कुछ श्लोक दिखेंगे। जिन्हें इस विषय में अधिक सन्देह हो, वे सम्बन्धित स्थल के पूरे प्रकरण का अध्ययन कर लें।

अब 'कुशीलवौ' शब्द पर आते हैं। ऋक्तन्त्र के कर्त्ता शाकटायन के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा

ने बृहस्पति को व्याकरण का उपदेश दिया। बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मणों को व्याकरण का उपदेश दिया। इस प्रकार व्याकरणों में "ऐन्द्र-व्याकरण" है। पाणिनि के पूर्व के लगभग ८५ वैयाकरणों का उल्लेख अनेकानेक ग्रन्थों में मिलता है, जिनमें से १० का उल्लेख तो भगवान् पाणिनि ने ही किया है। वाल्मीकि रामायण में ही 'सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता ब्रह्मा भविष्यत्यपि ते प्रसादात्।' कहकर नौ व्याकरणों के तात्कालिक प्रचलन संकेतित है जिनका अध्ययन हनुमानजी ने किया था। माहेन्द्र अथवा ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ हजार श्लोक था। महाभारत के टीकाकार देवबोध कहते हैं कि माहेन्द्र व्याकरण समुद्र और व्यापक है, उसके सामने पाणिनीय व्याकरण गोष्पद के बराबर है -

यान्युज्जहार माहेन्द्राद्व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

इतिहास, पुराण एवं तन्त्रों में केवल भगवान् पाणिनि का ही संविधान चलता है, ऐसी बात नहीं है। यह कुशीलवौ शब्द रामायणगायक एवं सीतापुत्रों के ही सन्दर्भ में ही अनेकों स्थानों में वर्णित है। कोषकार हेमचन्द्र एवं शब्दकल्पद्रुमकार मानते हैं - कुशीलवौ, पुं, (कुशश्च लवश्च तौ कुशीलवौ।) एकयोक्त्या रामपुत्त्रौ। इति हेमचन्द्रः। अब हम देखते हैं कि इस शब्द का कुश एवं लव के सन्दर्भ में और कहाँ कहाँ वर्णन मिलता है।

लोकापवादात्सन्त्रस्तः सीतां तत्याज धर्मवित्।
सा तु संप्राप्य वाल्मीकेराश्रमं न्यवसत्सुखम्॥
पुत्रौ च सुषुवे तत्र नाम्ना ख्यातौ कुशीलवौ।
वल्मीकिस्तु तयोः कृत्वा यथा समुदिताः क्रियाः॥
रामायणं विरच्यैतावध्यापयदुदारधीः। तौ गायमानौ सत्रेषु मुनीनां ख्यातिमागतौ॥
यज्ञे रामस्य संप्राप्तौ वाजिमेधे प्रवर्तिते। तत्र ताभ्यां तु तद्गीतं स्वचरित्रं प्रसन्नधीः॥
मुनिमाकारयामास ससीतं तत्र संसदि। सा तु रामाय तौ पुत्रौ निवेद्य जगतीजनिः॥
जगत्या विवरं भूयो विवेशासीत्तदद्भुतम्। ततः परं ब्रह्मचर्यं यज्ञमेव त्रयोदश॥

सहस्राब्दान्प्रकुवार्णस्तस्थौ भुवि रघूत्तमः।
(नारदपुराण, उत्तरार्ध, अध्याय - ७५)

सर्वत्रान्यत्र राजेंद्र रामपुत्रौ कुशीलवौ। गीयते अत्र संकोचः किं कृतो विदुषि त्वयि॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय- ६६)

बभूवतू रामपुत्रौ धार्मिकौ च कुशीलवौ। तयोश्च पुत्रैः पौत्रैश्च सूर्यवंशोद्भवा नृपाः॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय - ६२)

अभिषिच्याथ काकुत्स्थः स्वात्मजौ च कुशीलवौ।
विभज्य रथनागाश्वं सधनं प्रददौ तयोः॥
कुशवत्यां कुशं तं च शरवत्यां लवं तथा। स्थापयामास धर्मेण राज्ये स्वे रघुसत्तमः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय – २४४)

इत्युक्त्वा त्वरितं वीरो जग्मतुस्तौ कुशीलवौ।
राज्ञो मौलिमणिं चित्रं जग्राह कनकाचितम्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ६४)

स्वयं श्रीनारायण यह कहते हैं -
न ज्ञातौ स्वसुतौ तेन रामेण च कुशीलवौ।
मुनिना कथितौ तौ तु तस्य पुत्रौ महाबलौ॥ १९ ॥
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध – ०४, अध्याय – २५, श्लोक - १९)

आधुनिक विद्वानों में अग्रणी धारापति भोजराज भी ऐसा प्रयोग इसी सन्दर्भ में करते हैं -

उपागतौ मिलितपरस्परोपमौ बहुश्रुतौ श्रुतिमधुरस्वरान्वितौ।
विचक्षणौ विविधनरेन्द्रलक्षणौ कुशीलवौ कुशलवनामधारिणौ॥
(चम्पूरामायण, बालकाण्ड - ०९)

भगवान् पाणिनि के अनुशासन से इतर होने पर भी शब्द सर्वथा असाधु नहीं होते क्योंकि न्यायसूत्र आप्तोपदेशः शब्दः (१/१/७) एवं आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थे सम्प्रत्ययः (२/१/५२) के आधार पर उनकी प्रतिष्ठा हो जाती है।

ब्राह्मण के मुख से सुनने की जो बात है, वह अनुष्ठान के सन्दर्भ में है। यजन हेतु वरण करके पौरोहित्यकल्प श्रवण हेतु यह बात है। कुश एवं लव अपने गुरुजी के बटुक थे एवं उनकी कृति तथा शिक्षा का निष्काम गान कर रहे थे। आश्रमी ब्रह्मचारी द्विजाति भैक्ष्यधर्मा होता है। 'दशरथ के पौत्र' को नहीं, वाल्मीकि के 'शिष्य बटुक' को भिक्षा दी जा रही थी। वे अनुष्ठान पौरोहित्य कराने नहीं आ रहे थे, निष्काम गान कर रहे थे। यदि क्षत्रियकुमार गान का अधिकारी नहीं तो 'स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्' के कथन का व्याघात वाल्मीकि क्यों करेंगे ? अतएव इस स्थान पर भी श्रीरामभद्राचार्य जी का कथन समुचित नहीं है।

उत्तरकाण्ड की पृष्ठभूमि आपको विचित्र लग सकती है, शास्त्रवेत्ताओं को नहीं। उत्तरकाण्ड के प्रत्येक वृत्तान्त का सन्दर्भ अन्य बहुत से ग्रन्थों में पर्याप्त मिलता है। भाषा की बात करें तो श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध की शैली और भाषा शेष भाग से भिन्न है। अध्यायों के श्लोक की बात करें तो वहाँ भी कहीं कहीं शताधिक श्लोकों वाले तो कहीं १५-२० श्लोकों वाले अध्याय भी हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णुपुराण आदि में भी ऐसा मिलता है। वृद्धसूर्यारुणकर्मविपाक में तो डेढ़-ढाई श्लोकों के भी अध्याय हैं। इस हिसाब से तो चित्रकूट की पहाड़ी छोडकर पूरा संसार ही मिलावटी हो जायेगा।

दूसरी बात कितनी हास्यास्पद आपने कही है। 'कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ', यह श्लोक आपने स्वयं प्रस्तुत किया और आगे चलकर कहते हैं कि ये दोनों 'गन्धर्वपुत्र' होंगे। कृपया जगद्गुरु जी स्पष्ट करें कि किस विधान, शास्त्र, नियम से राजपुत्र का अर्थ गन्धर्वपुत्र होता है ? ऊपर से आपने यह भी कहा कि 'प्रणम्य शिरसा नित्यं श्रोतव्यं क्षत्रियैर्द्विजात्', वाल्मीकि जी ने ब्राह्मण को प्रणाम करके फिर उनके द्वारा ही रामायण का श्रवण करने कहा है इसीलिए भगवान् श्रीरामजी क्षत्रियकुमारों से रामायण

नहीं सुन सकते, फलतः ये जो लव-कुश हैं, ये क्षत्रिय नहीं हैं। आप स्वयं बताएं कि फिर वे गन्धर्वपुत्र से कैसे सुन सकते हैं, वे भी तो ब्राह्मण नहीं हैं।

अतिविद्वान् जगद्गुरु जी ! जब वाल्मीकि जी ने स्पष्ट लिखा है कि 'राजपुत्रौ', तो यहाँ किस प्रकार से आप उसका अर्थ क्षत्रियपुत्र 'नहीं' होना लगा सकते हैं ? अजी, आपको इतना सामान्यतम बोध तो होना ही चाहिए कि आज भी समाज में क्षत्रियों के निमित्त राजपुत्र (व्यवहार में राजपूत) शब्द ही प्रचलित है। यह आपको किस लोक से ज्ञान प्राप्त हुआ है कि 'राजपुत्र' शब्द का अर्थ 'क्षत्रियपुत्र' न होकर 'गन्धर्वपुत्र' होता है ? अच्छा, उसके बाद भी आपने मात्र सम्भावना व्यक्त की है कि 'गन्धर्वपुत्र होंगे'। हो सकता है कि आपके लिए स्पष्ट शब्दार्थ के सर्वथा विरुद्ध जाकर अपरम्परागत अर्थ करने को ही व्याकरणज्ञान कहते होंगे। भगवान् वाल्मीकि उत्तरकाण्ड में स्पष्ट करते हैं -

यस्तयोः पूर्वजो जातः स कुशैर्मन्त्रसत्कृतैः।
निर्मार्जनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत्॥
यश्चावरो भवेत्ताभ्यां लवेन स समाहितः। निर्मार्जनीयो वृद्धाभिर्लव इत्येव नामतः॥

उन दोनों बालकों में जो पहले उत्पन्न हुआ है, उसका मन्त्र से संस्कृत कुशों के द्वारा मार्जन किया जाये एवं इस प्रकार उसका नाम कुश होगा। जो छोटा बालक है, उसे वृद्ध माताएं लव से मार्जित करें, उसका नाम लव होगा। मल्लिनाथ आदि ने रघुवंशम् की व्याख्या में लव का अर्थ गाय की पूंछ से लिया है। यही कारण है कि कुश नामक बालक का संस्कार कुशों से होने के कारण उसे कुशी (न्) भी कह सकते हैं - कुशाः सन्त्यस्य संस्कारे कुशी।

अब आते हैं कुशीलव शब्द पर तो उसके सन्दर्भ में वहाँ श्रीरामजी के पुत्र कुश एवं लव की ही बात है, साथ ही कुशीलवौ शब्द से उनका ही बोध है, यह लौकिक एवं आर्ष प्रमाणों से मैं सिद्ध कर चुका हूँ। अब मैं आपके उस अनुचितार्थ का निग्रह करता हूँ, जिसमें आपने कहा है कि यहाँ कुशीलव का अर्थ मात्र गायक है। कुत्सितं शीलमस्येति

कुशीलः कुशीलं वाति गच्छति प्राप्नोतीति कुशीलवः। जिसका शील कुत्सित हो, वह कुशील है। जो कुशीलता को प्राप्त करे, वह कुशीलव है। यह एक सर्वथा भिन्न संज्ञा है। पितामह भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर को कुछ ऐसे निन्दनीय ब्राह्मणों के बारे में बताया है जिन्हें श्राद्ध आदि में पंक्तिबाह्य कहा गया है। एते हि अपाङ्क्तेया हव्यकव्ययोर्वर्ज्याः। महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं -

कुशीलवो देवलको नक्षत्रैर्यश्च जीवति। ईदृशैर्ब्राह्मणैर्भुक्तमपाङ्क्तेयैर्युधिष्ठिर॥

कुशीलव, देवलक, नक्षत्रजीवी, इस प्रकार के ब्राह्मणों को (उत्तम ब्राह्मणों के साथ) पंक्ति में न बैठाकर पंक्तिबाह्य जनों के साथ भोजन कराना चाहिए। महाराज मनु भी पंक्तिबाह्य में ऐसा कहते हैं - कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च।
मन्वर्थमुक्तावलीकार स्पष्ट करते हैं - कुशीलवो नर्तनवृत्तिः, अवकीर्णी स्त्रीसम्पर्काद्विप्लुतब्रह्मचर्यः प्रथमाश्रमी यतिश्च, वृषलीपतिः सवर्णामपरिणीय कृतशूद्राविवाहः। वीरमित्रोदयकार भी सहमत हैं, कुशीलवो नृत्यगीतवृत्तिः।

जिस ब्राह्मण की आजीविका नाच गाना (लोक हेतु) हो, उसे पंक्तिबाह्य समझे। आज की ग्रामीण भाषा में जिसे 'भांड' कहते हैं। जो यत्र तत्र तमाशा दिखाते हैं। उन्हें संस्कृत में कुशीलव कहते हैं, कुत्सित वृत्ति वाला कहते हैं। किन्तु यहाँ जिनका वर्णन है, वे कौन हैं ? राजपुत्रौ यशस्विनौ। राजा के पुत्र हैं, यशस्वी हैं। आपने जैसा कहा वैसे गन्धर्वपुत्र या कुत्सितवृत्ति वाले कुशीलवसंज्ञक गायक नहीं हैं। कुशीलवौ शब्द का अर्थ श्रीरामजी के पुत्र कुश एवं लव ही हैं, कोई अन्य नहीं।

प्रक्षिप्तवादियों के साथ समस्या क्या है कि इन्होंने अपने अपने अनुसार शास्त्रों के वे भाग जो इन्हें पसन्द नहीं, प्रक्षिप्त घोषित कर रखे हैं। उदाहरण हेतु, आर्य समाज, गायत्री परिवार, रामभद्राचार्य जी आदि सब प्रक्षिप्तवादी हैं किन्तु आर्य समाज जहाँ श्रीमद्भगवद्गीता के ९०% श्लोकों को प्रक्षिप्त मानता है तो श्रीरामभद्राचार्य जी ने बिना प्रक्षिप्त माने पूरे ग्रन्थ पर भाष्य कर दिया है। प्रक्षिप्तवादियों की समस्या यह है कि वस्तुतः कहीं कोई

मिलावट न होने पर भी अपने हिसाब से अल्पबुद्धि के होने के कारण जो शास्त्रवाक्य जितने अंश में समझ नहीं आता है, उतने अंश को मिलावटी कह देते हैं। साथ ही, यह कभी नहीं बताते कि आखिर यह मिलावट कब और किसने की, तरह तरह के अनुमान लगाते रहते हैं। जो अंश एक संस्था या व्यक्ति की समझ में आने से प्रामाणिक हो जाते हैं, उन्हें दूसरी संस्था या व्यक्ति अपने स्तर की प्रज्ञा के आधार पर प्रक्षिप्त घोषित कर देता है। इस विषय में शासकीय दण्ड का व्यावहारिक विधान नहीं है तो शास्त्र पीडित होते रहते हैं।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

किं बहुना ! उत्तरकाण्डको मानने से सबसे बड़ी जो आपत्ति आएगी, वो यह होगी कि इस उत्तरकाण्डमें लिखा है कि भगवान् राम जब सीताजी के पास आते हैं तो सीताजीको अपने हाथसे उठाकर उनको मैरेयक अर्थात् मदिराका पान करा रहे हैं और मांसाहार अपने हाथसे खिला रहे हैं। जैसा कि वाल्मीकीय रामायणके तथाकथित उत्तरकाण्डके ४२ वें सर्गके १८ वें श्लोकमें कह रहे हैं -

सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि। पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरंदरः॥
(वा० रा० गी० प्र० ७ / ४२ / १८-१८.५)

अर्थात् सीताजी को हाथसे पकड़कर भगवान् राम मैरेयक मधु पिला रहे हैं। क्या यह आदर्श है एक पुरुष का ? क्या यही राघवेन्द्रजी का मर्यादापुरुषोत्तमत्व होगा ? जो श्रीराम एकनारीव्रत हैं, उनके समक्ष तथाकथित उत्तरकाण्ड में वाराङ्गनाओं का नृत्य देखा गया। रामचन्द्रजी वाराङ्गनाओं को प्रसन्न कर रहे हैं। इसी सर्ग के १२१ वें श्लोक में

मनोऽभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः॥
रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषिताः।
(वा० रा० गी० प्रे० ७/४२/२२)

अर्थात् उन वाराङ्गनाओं को भगवान् ने प्रसन्न किया। क्या इससे श्रीराम का चरित्र लांछित नहीं होता ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

नृत्य देखने से चरित्रदोष कैसे हो जाता है ? शास्त्रीय नाट्यशास्त्र शालीन अभिव्यक्ति में नहीं आता है क्या ? स्त्रियों का नृत्य देखा, उन्हें प्रसन्न किया, इस बात के कारण चरित्रदोष हो गया ? कहीं आप अयोध्या को अफगानिस्तान तो नहीं समझते हैं ? कला-संस्कृति, राग-रागिनी, नृत्य-गीत-संगीत गानशास्त्र के आधार पर कलाकार करते थे, राजा उन्हें देखते थे, योग्यतानुसार पुरस्कृत करके प्रसन्न करते थे, यह तो स्वाभाविक घटना है। रामजी नग्न स्त्रियों को नृत्य करवा कर वेश्यागमन नहीं न कर रहे थे ? ऐसा वर्णन तो नहीं है न, फिर कैसा मर्यादालोप ? मांसाहार वाली बात पर मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि किस शब्द का अर्थ मांसाहार लगाया है आपने। मैरेय शब्द का वर्णन है किन्तु मैरेय पीना तो क्षत्रिय के लिये निषिद्ध है ही नहीं, उसे दोष नहीं लगता, केवल ब्राह्मण के लिये निषिद्ध है।

माधूकं ऐक्षवं टाङ्कं कौलं खार्जूरपानसे। मृद्वीकारसमाध्वीके मैरेयं नारिकेलजम्॥
अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य च। राजन्यश्चैव वैश्यश्च स्पृष्ट्वैतानि न दुष्यतः॥
(बृहद्विष्णुस्मृति, अध्याय - २२, श्लोक - ८३-८४)

कृमिमेदोऽनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरुः॥
(सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान, अध्याय - ४५, श्लोक - १९०)

आप जैसों की समाज में कमी नहीं है। बलरामजी के ऊपर भी ऐसा ही आरोप लगाया जाता है, यद्यपि इसकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु फिर भी मैं उस पक्ष को भी यहाँ सम्मिलित करूँगा, यद्यपि पूर्व में कह चुका हूँ। अधुना समाज में कुछ आक्षेपकों के द्वारा श्रीशेषावतार बलराम जी के प्रति अशास्त्रीय आपत्ति की जा रही है कि वे शराबी थे। बलराम जी शराबी थे या नहीं, इस विषय पर केंद्रित होते हुए मैं बहुत से गुप्त कथानकों एवं परिस्थितियों के कारण प्रकाशित करते हुए चर्चा करूँगा।

सर्वप्रथम तो हम देखते हैं कि बलराम जी कौन हैं। संकर्षणोपनिषत् के अनुसार बलराम जी शेषनाग के अवतार हैं। शेषनाग के अन्य अवतारों की चर्चा उसी उपनिषत् में श्रीराम जी के भाई लक्ष्मण, वैयाकरण पतञ्जलि, श्रीरामानुजाचार्य जी आदि के रूप में भी आई है। प्रत्येक देवता का, जब वह एक सगुण अवतार या सगुण रूप धारण करता है, तो उसका एक गुण होता है। गुण का अर्थ यहां अच्छाई बुराई से नहीं है। गुण का अर्थ यहां सात्त्विक, राजस, एवं तामस गुणों से है। वैसे तो सभी देवताओं में सभी गुण होते हैं किंतु उसमें भी वे स्वभावतः एक गुण का प्रकाशन विशेष रूप से करते हैं। जैसे भगवान् विष्णु को स्वभावतः सात्त्विक गुण की प्रधानता से वर्णित किया गया है तो भगवान् भैरव आदि को तमोगुण की प्रधानता से। देवी लक्ष्मी को सामान्यतः सात्त्विक गुण वाली बताया गया है तो देवी निकुम्भिला को तमोगुण वाली कहते हैं।

यद्यपि सत्वगुण से भी सबों की पूजा हो सकती है और तमोगुण से भी, किन्तु एक गुण की सामान्य प्रधानता वाले की आराधना उसी गुण से युक्त होकर करनी चाहिए। वैसे परमात्मरूप में दोनों निर्गुण गुणातीत हैं किंतु फिर भी लोकव्यवहार में शिव जी को तमोगुण का अधिष्ठाता बताया गया है, और विष्णु भगवान् को सत्वगुण का। फिर भी यह सर्वदा स्थायी नहीं रहता इसीलिए तमोगुण की प्रधानता वाले कर्म को निमित्त बनाकर विष्णु का नृसिंहावतार हुआ और सत्वगुण की प्रधानता वाले कर्म को निमित्त बनाकर शिव का दक्षिणामूर्ति अवतार। कभी कभी कार्यभेद से गुणभेद भी हो जाता है, अतःभगवान् सूर्य ने वैनतेय अरुण को तमोगुणी विष्णु एवं सात्त्विक शिव का भी संकेत किया है -

गुणत्रयवशात्तेषां वैषम्यं विद्धि सुस्थितम्।
ब्रह्मा हि राजसः प्रोक्तो विष्णुस्तामस उच्यते॥
रुद्रस्स सात्त्विकः प्रोक्तः मूर्तिर्वर्णैश्च तादृशाः।
(सूर्यगीता, अध्याय – ०३, श्लोक – ३२)

देवताओं में गुणों की विभिन्नता के कारण भिन्नता प्रतीत होती है, जैसे ब्रह्मा राजस हैं, विष्णु तामसी हैं और शिव को सात्त्विक कहा गया है। उनके स्वरूप का रंग भी वैसा ही

है। (ब्रह्मा लालिमा से युक्त हैं, शिव जी गोरे हैं, एवं विष्णु भगवान् सांवले हैं)

जिस देवता का जो स्वाभाविक गुण होता है, वह वैसे ही स्वरूप का कर्म का प्रदर्शन करता है। जैसे कालिका देवी का स्वाभाविक गुण तमोगुण है, तो उनके स्वरूप में आपको तद्वत् कपाल, रक्तपान, अस्थिमाला आदि दिखेंगे। भगवान् नारद जी का गुण सात्त्विक है तो वहां आपको वीणा, पुष्पमाला, कमण्डलु, अक्षमाला आदि दिखेंगे। प्रत्येक देवता अथवा उनके अवतार जिस गुण का आश्रय लेकर सगुणाकृति धारण करते हैं, वैसे ही स्वरूप का प्रदर्शन करते हैं। इसीलिए कहा गया है कि देवताओं के चरित्र की नकल करने से अकल्याण होता है, उनके उपदेशों का ही अनुसरण करना चाहिए, अन्यथा भगवान् शिव की भांति हलाहल विष पीने की नकल करने से कष्ट ही भोगना पड़ेगा। देवताओंके कर्म, स्वरूप, अवतार ये इन्हीं गुणत्रयी में से किसी को अधिष्ठान बनाकर होते हैं, इसीलिए उसका प्रदर्शन करते हैं।

अब हमने जाना कि बलराम जी शेषनाग के अवतार हैं। शेषनाग का प्रधान नाम संकर्षण है। ये कभी कभी रजोगुण की प्रधानता धारण करते हैं तो कभी तमोगुण की प्रधानता से कार्य करते हैं। आप ध्यान देंगे तो पाएंगे कि सत्वगुण की प्रधानता वाले विष्णुसम्बन्धी अंश से भगवान् श्रीराम आये, जो स्वभावतः गम्भीर, शांत एवं सहनशीलता के धनी थे। रजःप्रधान तमोगुणी शेषनाग के अंश से अवतरित लक्ष्मण जी में क्रोध, चंचलता, असहिष्णुता और अधीरता अधिक दिखते हैं। रजोगुण की प्रधानता वाले परशुरामावतार में क्रोध की प्रधानता है तो सत्वगुण की प्रधानता वाले नर-नारायण का अवतार में वैराग्य आदि की भावना। इसका कारण यह है कि प्रत्येक अवतार अपने तत्सम्बन्धी सात्विकादि गुणों का ही प्रदर्शन करता है। जैसे अग्नि का गुण दाह और जल का गुण शीतलता। सूर्य का गुण प्रकाश तो पृथ्वी के गुण उर्वरता एवं सहनशक्ति हैं। इस सभी शक्तियों एवं तत्वों के अधिष्ठाता देवता भी अपने व्यक्तित्व एवं कर्म में उन्हीं गुणों का प्रदर्शन करते हैं।

अंशेन वासुदेवस्य जातो रामो महायशाः। संकर्षणस्य चांशेन लक्ष्मणः परवीरहा॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड – ०१, अध्याय – २१२, श्लोक – २१)

जैसे भगवान् श्रीकृष्ण, वासुदेव, गोविंद, आदि सब व्यवहार में समान व्यक्तित्व के लिये प्रयुक्त हैं, वैसे ही बलराम, बलभद्र, अनन्त, राम, बल, शेष, संकर्षण आदि भी समानरूप से ही समझे जाने चाहिए।

गर्भसङ्कर्षणात्तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि। रामेति लोकरमणाद्बलभद्रं बलोच्छ्रयात्॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कंध – १०, अध्याय – ०२, श्लोक – १३)

देवकी के गर्भ से खींच कर (योगमाया के द्वारा) रोहिणी के गर्भ में स्थापित होने से उन्हें संकर्षण कहते हैं। संसार को आनंद देने से राम और बल की अधिकता से बलभद्र कहते हैं।

ज्येष्ठः संकर्षणो नाम कनीयान्कृष्ण एव तु।
(हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय – ०६, श्लोक – ०२)

ज्येष्ठावतार, बड़े भाई का नाम संकर्षण (बलराम) एवं कनिष्ठावतार, छोटे भाई का नाम कृष्ण है। यहां मात्र अवतार के समय पहले और बाद में आने से छोटे बड़े होने की बात है।

संकर्षणस्य विद्याया रक्तो वर्ण इहोच्यते।
(विश्वक्सेनसंहिता, अध्याय – १३, श्लोक – ०५)
संकर्षणो रक्तवर्णः
(प्रश्नसंहिता, अध्याय – ३६, श्लोक – ०७)

संकर्षण सम्बन्धी विद्या का रंग लाल बताया गया है। संकर्षण का वर्ण लाल है। ओंकार की साढ़े तीन मात्रा (अ, उ, म् और बिन्दु) क्रमशः सात्त्विक, राजस, तामस एवं गुणातीत हैं। इसमें मकार यानी तमोगुणी तत्त्व, जो संहार का कारक है, उसके अधिष्ठाता भगवान् संकर्षण ही है, जो लोकसंहार का प्रथम उपक्रम करते हैं।

संकर्षणो मकारस्तु
(लक्ष्मीतन्त्र, अध्याय – २४)

संकर्षति प्रजाश्चान्ते ह्यव्यक्ताय यतो विभुः।
ततः संकर्षणो नाम्ना विज्ञेयः शरणागतैः॥
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय – ३९, श्लोक – १८)

सृष्टि के अंत में अव्यक्त ब्रह्म के प्रति सभी प्राणियों को बलपूर्वक खींचते हैं इसीलिए शरणागत जनों के द्वारा उन्हें संकर्षण के नाम से जाना जाता है।

रक्तवर्णस्तु राजसः
(प्रकाश संहिता, प्रथम परिच्छेद, अध्याय – ०४)

अब लाल रंग वाले संकर्षण हैं, तो लाल रंग किसका प्रतीक है ? रजोगुण का। इसीलिए संकर्षण तत्व में, एवं तदंशभूत बलराम जी में रजोगुण की प्रधानता है।

द्वितीया कालसंज्ञान्या तामसी शेषसंज्ञिता।
निहन्ति सकलांश्चान्ते वैष्णवी परमा तनुः॥
(कूर्मपुराण, अध्याय – ४८)

साथ ही, कालसंज्ञक एवं शेषसंज्ञक दूसरी वैष्णवी मूर्ति को तमोगुण वाली कहते हैं जो अन्त, प्रलयकाल में सबका संहार कर देती है। रजोगुण की प्रधानता से क्या लक्षण दिखते हैं ?

श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः ॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – १०, अध्याय – १०, श्लोक – ०८)

ऐश्वर्य का मद, स्त्रियों से विहार, द्यूत एवं मद्य का सेवन, यह सब रजोगुण के प्रतिफल हैं। रजोगुणी तत्व की प्रधानता वाले अवतार को धारण करने से बलराम जी में यह सब रजोगुणी लक्षण भी दिखते हैं। ऐश्वर्य के मद से ही उन्होंने क्रुद्ध होकर हस्तिनापुर के विनाश की लीला की। रैवतक पर्वत पर स्त्रियों के साथ विहार किया, अनिरुद्ध के विवाह

में रुक्मी आदि के साथ द्यूतक्रीड़ा की तथा वारुणी मदिरा का सेवन भी करते थे। शेषावतार का कार्य पृथ्वी/ब्रह्माण्ड की स्थिति को सूक्ष्म शक्तियों से धारण किये रखना है।

शेषो भूत्वाहमेको हि धारयामि वसुन्धराम्।
(ब्रह्मपुराण, अध्याय – ५६, श्लोक – २०)

पातालानामधश्चास्ते शेषो विष्णुश्च तामसः।
(अग्निपुराण, अध्याय – १२० श्लोक – ०४)

पाताल के नीचे तामसी विष्णु (पांचरात्र मत से विष्णुदेव की तामसी मूर्ति को संकर्षण कहते हैं) विश्राम करती है।

पातालानामधश्चान्ते शेषो विष्णोश्च तामसः ।
गुणानन्यान् स चानन्तः शिरसा धारयन्महीम्॥
(अग्निपुराण, अध्याय – १०५)

विष्णु के तामसी रूप शेषनाग पाताल के भी नीचे अन्तभाग में रहते हैं जो अन्य (राजस की प्रधानता एवं सत्व की न्यूनता आदि गुणों) को भी धारण करते हुए मस्तक पर पृथ्वी को धारण करते हैं। पद्मपुराण की शिवगीता में कहते हैं – दुःखास्पदं रक्तवर्णं चञ्चलं च रजो मतम्। रक्तवर्ण वाला यह रजोगुण दुःख एवं चंचलता देता है। रजोगुण की प्रधानता से हुए लक्ष्मणावतार में चंचलता दिखती ही है। श्रीमद्देवीभागवत महापुराण में कहते हैं –

रक्तवर्णं रजः प्रोक्तमप्रीतिकरमद्भुतम् ।

अद्भुत, किन्तु कष्टकारक कर्म कराने वाले रजोगुण का वर्ण लाल है। बलराम जी अद्भुतकर्मा भी थे किंतु उन्होंने महाभारत में तटस्थ रहकर, सुभद्रा का विवाह दुर्योधन के साथ तय करके और भी ऐसे कतिपय भावनात्मक निर्णयों से अपने सुहृदों के लिए किंचित् कष्ट की स्थिति निर्मित करके रजोगुणी अवतार की लीला सार्थक की थी। अब हम उनके

मदिरापान की बात करते हैं। शास्त्रों में व्यापकता से मदिरापान की निंदा की गई है। हां, कुछ औषधीय प्रयोगों में इसे ग्राह्य बताया गया है किंतु वहां भी इसे श्रेष्ठ नहीं कहा गया है। इसका कारण है कि –

बुद्धिं लुम्पति यद्रव्यं मदकारि तदुच्यते। तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्॥
(शार्ङ्गधर संहिता, पूर्वखण्ड, अध्याय – ०४, श्लोक – २१)

जो द्रव्य बुद्धि का नाश कर दे, उसे तमोगुण की प्रधानता के कारण मदकारक कहते हैं, जैसे मद्य, सुरा आदि। मद्य, मधु, सुरा, मदिरा आदि ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। इनका अर्थ है, मदहोश करने वाला। जैसे प्याज़, शलगम आदि भी सब्जियां हैं और लौकी, पपीता आदि भी। किन्तु प्याज़ आदि ग्राह्य नहीं है, और पपीता आदि ग्राह्य है। वैसे ही मधु या सुरा की श्रेणी में शराब, शहद, शर्बत, यहां तक कि अमृत आदि सब आ जाएंगे। उनमें से कुछ ग्राह्य हैं, कुछ नहीं। यथा, स्त्रीरमण शब्द का अर्थ पत्नी से रमण ही होता है। माता भी स्त्री ही कहाएंगी, किन्तु वहाँ पत्नी वाला भाव नहीं रहेगा। तो जैसे स्त्री एक जातिवाचक शब्द है, उसमें माता पत्नी बहन आदि ग्राह्य अग्राह्य भेद हैं, वैसे ही मधु, सुरा आदि जातिवाचक हैं जिनमें ग्राह्य एवं अग्राह्य श्रेणियां हैं। आयुर्वेद-ग्रंथों में सुरा से रोगों की चिकित्सा का व्यापक वर्णन है।

यदा नाडी भवेत्क्षीणा रोगेऽस्मिन् भिषजा तदा।
सजला बललाभाय मृतसञ्जीवनी सुरा॥
(भैषज्य-रत्नावली, अध्याय – ९९, श्लोक – ०६)

बलराम जी केवल वारुणी नाम का ही पेयविशेष ग्रहण करते थे, किसी अन्य मदिरा आदि का नहीं। वारुणी को किस ऋतु में पिएँ, किस रोग में सेवन करें, इसके कुछ सामान्य उदाहरण देखें –

स्नेहाढ्यैः सक्तुभिर्युक्तां लवणां वारुणीं पिबेत्॥
(वाग्भट संहिता, चिकित्सास्थान)

सुसंस्कृताः प्रदेयाः स्युर्घृतपूरा विशेषतः।
वारुणीं च पिबेज्जन्तुस्तथा संपद्यते सुखी॥
(सुश्रुत संहिता, उत्तर तन्त्र)

शीतलत्वाद्दतोश्चापि न तावत्परिभिद्यते।
तस्मात्तैलगुडोपेतां वारुणीं शिशिरे पिबेत्॥
(भेल संहिता, विमान स्थान, अध्याय – ०६, श्लोक – २०)

बलराम जी स्वयं परम योगेश्वर हैं। वे योगबल से भी वारुणीपान कर सकते हैं, अतएव उनमें सामान्य पतित मद्यप की भावना का आधान उचित नहीं है।

कपालमुद्रां वारुणीं पिबामि
(हाहाराव तन्त्र)

मैं (साधक) कपालमुद्रा (चक्रस्थित बिंदुविशेष) वाली वारुणी को पीता हूँ। ओंकार की जो अंतिम बिंदुमात्रा है, उसे भी वेदों में वारुणी कहा गया है।

परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः॥
(नादबिन्दूपनिषत्)

कलाः सप्तदशप्रोक्ता अमृतं स्राव्यते शशिः।
प्रथमा सा विजानीयादितरे मद्यपायिनः॥
(रुद्रयामल तन्त्र, पञ्चमकारमीमांसा)

चन्द्रमा की (लौकिक सोलह एवं यौगिक एक के साथ कुल) सत्रह कलाएं हैं जिनसे वह अमृत टपकाता है। उसे ही (पञ्चमकार में) प्रथम जानना चाहिए। उसका ही सेवन करने वाला तन्त्र में मद्यप है, अन्यथा सामान्य शराबी तो बहुत से हैं। इस प्रकार से वारुणी शब्द

का, उस वारुणी मद्य का, यौगिक, तांत्रिक एवं वैदिक अर्थ यह सिद्ध करता है कि योग, तन्त्र एवं वेदों के परम उपास्य श्रीबलरामजी वारुणीपान करते हुए भी लौकिक व्यसनियों की भांति निंद्य नहीं है। शतपथब्राह्मण में 'अन्नं सुरा' आदि भी आया है।

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥
(मनुस्मृति, बृहद्विष्णुस्मृति, विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

उपर्युक्त श्लोक में सुरा के गौडी, पैष्टी एवं माध्वी, इन तीन प्रकार की सुरा का वर्णन है जो द्विजातियों के लिए सर्वथा त्याज्य है। नारदपुराण निर्माणद्रव्य के भेद से इनके ग्यारह प्रकार बताता है। कुछ के मत से खजूर से बनी हुई मदिरा का नाम वारुणी है।

तालं च पानसं चैव द्राक्षं खार्जूरसंभवम्॥ माधुक शैलमारिष्टं मैरेयं नालिकेरजम्।
गौडी माध्वी सुरा मद्यमेवमेकादश स्मृताः॥
(नारदपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय – ३०, श्लोक – ३०-३१)

कुछ लोग अधिक बड़े धर्मरक्षक बनने के फेर में कहते हैं कि बलराम जी ने वारुणी पान किया ही नहीं है। यह बात सर्वथा अनुचित है। बलराम जी निःसन्देह वारुणी पान करते थे।

गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – १०, अध्याय – ६७, श्लोक – १०)

बलराम जी के नेत्र मद से चञ्चल हो रहे थे, वे वारुणी का पान करके गा रहे थे एवं उनके व्यक्तित्व की शोभा मदमस्त हाथी के समान हो रही थी। (यह प्रसङ्ग उस समय का है जब वे विहार के लिए रैवतक पर्वत पर गए थे और उन्होंने बाद में द्विविद का वध किया था।) जिस प्रकार से श्रुतिमन्त्र, पूर्वकाल के अयोध्या की श्रीरामाकर्षिता स्त्रियां एवं ऋषियों ने भी श्रीकृष्णचन्द्र जी के साथ गोपीवेश से कात्यायनी देवी की पूजा से प्राप्त वरदान के

फलस्वरूप शरद पूर्णिमा में यमुना तट पर रासलीला की थी, वैसे ही शेषनाग के अवतार श्रीबलराम जी ने भी यमुना तट पर चैत्र पूर्णिमा को गोपीवेष धारण करने वाली नागकन्याओं के साथ रासक्रीड़ा की थी।

अथ च या नागकन्याः पूर्वोक्तास्ता गोपकन्या भूत्वा बलभद्रप्राप्त्यर्थं गर्गाचार्याद्बलभद्रपञ्चांगं गृहीत्वा तेनैव सिद्धा बभूवुः ॥ ताभिर्बलदेव एकदा प्रसन्नः कालिन्दीकूले रासमण्डलं समारेभे ॥ तदैव चैत्रपूर्णिमायां पूर्णचन्द्रोऽरुणवर्णः सम्पूर्णं वनं रञ्जयन् विरेजे ॥
(गर्गसंहिता, बलभद्रखण्ड, अध्याय – ०९)

(सम्बन्धित ग्रन्थ में पहले वर्णित) नागकन्याओं ने गोपकन्याओं का रूप धारण करके गर्गाचार्य जी से बलभद्र जी के पञ्चाङ्ग (पटल, पद्धति, कवच, स्तोत्र, सहस्रनाम) प्राप्त करके सिद्धि प्राप्त की। इस बात से बलराम जी प्रसन्न हुए और उन्होंने कालिंदी (कलिंद अर्थात् सूर्य की पुत्री होने से यमुना जी का नाम कालिंदी है) के तट पर रासमण्डल का आरम्भ किया। उस चैत्र पूर्णिमा को किंचित् लालिमा वाला पूर्णचन्द्र (यहां बलराम जी को भी लाल वर्ण वाला पूर्ण चन्द्र बताने का भाव है) सम्पूर्ण वन को आनंदित करता हुआ विराजमान था। आगे वर्णन है –

अथ वरुणप्रेषिता वारुणी देवी पुष्पभारगन्धलोभिमिलिन्दनादितवृक्षकोटरेभ्यः पतन्ती सर्वतो वनं सुरभीचकार ॥

वरुण देवता के द्वारा भेजी गयी वारुणी देवी ने, फूलों के गन्ध को लोभ वाली मधुमक्खियों से गुंजायमान वृक्षों के कोटर से बहकर गिरते हुए उस वन को चारों ओर से सुगंधित कर दिया। वहां वे अत्यंत प्रसन्न होकर वारुणी का पान करते हुए मधुर गीत वाद्य आदि में कुशल गोप एवं गोपियों के साथ आनंदित हो रहे थे।

पपौ च गोपगोपीभिः समवेतो मुदान्वितः। उपगीयमानो ललितं गीतवाद्यविशारदैः॥
(विष्णुपुराण, अंश – ०५, अध्याय – २५)

वारुणी देवी के प्राकट्य, बलराम जी के द्वारा उनके पान की यह कथा विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत महापुराण आदि में भी वर्णित है। प्राड्विपाक मुनि ने दुर्योधन के साथ हुए सम्वाद में उसे विस्तार से बलरामजी के दिव्य ईश्वरीय रूप का वर्णन करते हुए बलरामजी की स्तुति की है –

जय जयाच्युतदेव परात्पर स्वयमनन्तदिगन्तगतश्रुत।
सुरमुनींद्रफणीन्द्रवराय ते मुसलिने बलिने हलिने नमः॥
(गर्गसंहिता, बलभद्रखण्ड, अध्याय – ११, श्लोक – ०२)

कभी अपनी महिमा से नीचे नहीं गिरने वाले परात्पर अच्युतदेव की जय हो। जो अनन्त हैं, जिनका कभी अन्त नहीं होता, जिनकी महिमा सभी दिशाओं में विख्यात है, जो देवताओं, ऋषियों और नागों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे हल-मूसल को धारण करने वाले, बल के धाम (बलराम) के लिए प्रणाम है। अब हम देखते हैं कि वारुणी कहते किसे हैं। बलराम जी वारुणी ही क्यों पीते थे, वारुणी कितने प्रकार की है, उसके निर्माण की विधि क्या है, उसके सेवन का क्या प्रभाव है, आदि आदि …

अन्नादिसम्भवो योऽर्कस्तन्मद्यं परिकीर्तितम्॥

अन्न इत्यादि के द्वारा जो अर्क बनता है, उसे मद्य कहा जाता है। शिव जी ने रावण को तन्त्रायुर्वेद ग्रंथों में कई प्रकार के मद्यों का उपदेश करके अन्त में कहा –

शालिपेठकपिष्ट्यादिकृतो योऽर्कः सुरा तु सा।
पुनर्नवाशिवापिष्टैर्विहिता वारुणी स्मृता॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय – ०५
अथवा सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक – ०९)

चावल एवं पेठे की पिष्टी बनाकर जो अर्क निकाला जाता है, उसे सुरा कहते हैं। पुनर्नवा

एवं हरड़ को पीसकर उसकी पिष्टी से निकाला गया अर्क वारुणी कहलाता है। रावण को शिव जी ने सौ से अधिक प्रकार के अर्क एवं मद्य के निर्माण की विधि बताई है। इसी बात को रावण ने मन्दोदरी को बताते हुए कहा है –

पुनर्नवाशिलापिष्टैर्विहिता वारुणी च सा। संहितैतालखर्जूररसैर्या सा च वारुणी॥
(दिव्यौषधिकल्प, मद्यप्रकरण, पटल – ११, श्लोक – ५९)

पुनर्नवा को पत्थर पर पीस कर, उससे बनने वाले मद्य को वारुणी कहते हैं। ताड़ एवं खजूर के रस से जो मद्य बनता है, उसको भी वारुणी कहते हैं। (आजकल भी आयुर्वेद-ग्रंथों के आधार पर पुनर्नवारिष्ट अथवा द्राक्षासव बनाए और सेवन किए जाते हैं, जो शरीर में बल, वीर्य, ओज, रक्त आदि की वृद्धि करते हैं, इनकी भी तन्त्रमत में वारुणी संज्ञा है।)

पर्यायाद्यो भवेन्मद्यस्तामसो राक्षसप्रियः।
मंडादि राजसो ज्ञेयस्ततो वै सात्विको भवेत्॥
सात्विकं गीतहास्यादौ राजसं साहसादिके।
तामसे निंद्यकर्माणि निद्रां च बहुधा चरेत्॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय – ०५,
सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक – ११-१२)

बारम्बार एक ही तत्व को धर्षित करके बनाए गए (अथवा अत्यधिक मात्रा में सेवन किये गए) को तामसी मद्य कहते हैं। मांड आदि से बनाये गए (मतांतर से कभी कभी लिए गए) मद्य को राजसी कहते हैं। इसके अतिरिक्त शेष (औषधि आदि से निर्मित, संवित्शक्ति को देने वाले) मद्य को सात्त्विक कहते हैं। सात्त्विक मद्य का प्रयोग गीत, हास्य, विलास आदि में होता है। साहस, युद्ध इत्यादि के कार्य में राजस मद्य का प्रयोग होता है। शेष निंद्य कर्म तथा निद्रा आदि को प्रदान करने वाले कर्म में तामसी मद्य का प्रयोग होता है। वारुणी के दो अन्य प्रभेद भी होते हैं – राजवारुणी एवं क्षुद्रवारुणी। राजवारुणी के निर्माण की विधि बताते हैं –

शुण्ठी कणा कणामूलं यवानी मरिचानि च॥
तुल्यान्येतानि सर्वाणि एभ्यो द्विघ्नोऽम्ललो रजः।
प्रोक्तान्तर्गतदिक्कान्नं स्वादुसंख्या नखोन्मिता।
सर्वेभ्यो द्विगुणं स्वादं स्थापयेन्मासमात्रकम्। कुर्यादष्टप्रहरकं प्रत्यहं च ततः पुनः॥
ततो निष्कासयेदर्कं सुरेयं राजवारुणी।
मासं भूमौ निखातव्या तत ऊर्ध्वं च भक्षयेत्॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय – ०५,
सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक – २३-२६)

सोंठ, पीपर, पिपरामूल, अजवायन एवं काली मिर्च को समान भाग में लेकर कूट लें और दोगुने अम्ल (मट्ठा, विनेगर, इमली पानी आदि) में मिलाएं। फिर इसमें दस प्रकार की शहद एवं बीस प्रकार के गन्ने का रस मिलाएं। (कुछ वैद्य इसमें आठ प्रकार की शहद एवं बारह प्रकार के गन्ने का रस मिलाते हैं) इसके बाद इन सबसे दोगुना गुड़ मिलाकर एक महीने तक घड़े में, प्रतिदिन आठ प्रहर खुले में रखें। उसके बाद इसका अर्क निकाल लें, इसे ही राजवारुणी कहते हैं। इसे पुनः एक महीने तक घड़े में बंद करके, ढ़ककर मिट्टी में दबा दें। एक महीने के बाद खोदकर निकालें एवं सेवन करें।

अब इस राजवारुणी के पान से क्या लाभ होता है, उसका विवेचन करते हैं –

इयं शीता लघुः स्वाद्वीस्निग्धा ग्राही विलेखनी।
चक्षुष्या दीपनी स्वर्या व्रणशोधनरोपणी॥
सौकुमार्यकरा सूक्ष्मा परं स्रोतोविशोधनी। कषाया च रसाह्लादा प्रसादजनका परा॥
वर्ण्या मेधाकरी वृष्या तथारोधकतां हरेत्।
कुष्ठार्शः कासपित्तास्रकफमेहक्लमकृमीन्॥
मेदतृष्णावमिश्वासहिक्कातिसारविड्ग्रहान्। दाहक्षतक्षयायैवं योगवाह्याऽम्लवातला॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय – ०५,
सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक – २७-३०)

यह राजवारुणी शीतल, हल्की, मीठी, चिकनी स्वभाव की, पतले दस्त को ठीक करने वाली, नेत्रों की ज्योति बढ़ाने वाली, भूख जगाने वाली, कण्ठ को मधुर करने वाली, घाव-जख्म आदि भरने वाली, शरीर को सुन्दर एवं सुकुमार बनाने वाली, नाड़ियों में रक्तप्रवाह को सुधारने वाली, शारीरिक कान्ति बढ़ाने वाली, धारणा शक्ति और वीर्य को पुष्ट करने वाली, अरुचि का नाश करने वाली, कुष्ठ, अर्श (बवासीर), खांसी, रक्तपित्त, कफ, प्रमेह, थकावट, कृमि, मेदा रोग, अत्यधिक प्यास या उल्टी, श्वास रोग, हिचकी, अतिसार, कब्ज, जलन, बदहज़मी एवं क्षयरोग को दूर करने वाली है।

अब इससे कुछ सामान्य गुणों वाली क्षुद्रवारुणी की विधि एवं प्रभाव पर ध्यान दें –

कंगुश्चीणा कोद्रवश्च श्यामाको वनकोद्रवः। शणबीजं वंशबीजं गवेधुश्च प्रसाधिका॥
यावन्त्येतानि चोक्तानि तुषधान्यानि वेधशः। सर्वे संतुट्य यत्नेन वितुषीकृत्य यत्नतः॥
तक्रे वा क्वचिदम्ले वा आकीटं तद्विनिःक्षिपेत्।
ततो निष्कासयेन्मद्यं भवेत्सा क्षुद्रवारुणी॥
मण्डलार्धं तु भोक्तव्या बहुक्लेशकरैर्नरैः।
क्षुधा तृषा च चिन्ता च "पर्वतारोहणादिकम्"॥
एतत्स सेवितो नास्ति "महाभारवहोऽपि वा"।
सूता समुपवेष्टा चेज्जयेत् प्रसववेदनाम्॥
(रसकामेश्वरी दिव्यचिकित्साखण्ड, अध्याय – ०५
अथवा सुराकल्पामृतयोग नामक प्रथम पटल, श्लोक – ३१-३५)

कँगुनी, चीना (सम्भवतः रामदाना), कोदो, साँवा, बनकोदो, सन के बीज, बांस के बीज (करील के उद्भवकण), गड़हेरुआ और प्रसन्धिका, ये सभी क्षुद्र धान्य कहलाते हैं। अब सबको अच्छे से कूटकर भूसी निकाल लें और मट्ठे या दूसरी (दोगुनी) खटाई में डाल दें। जब इसमें किण्वन (Fermentation) हो जाये तो अर्क निकाल लें। यह मद्य क्षुद्रवारुणी कहलाती है। अधिक परिश्रम करने वाले व्यक्तियों को यह पन्द्रह दिन तक

सेवन करनी चाहिए। इसके सेवन से अधिक परिश्रम करने की क्षमता विकसित होती है। "पर्वत चढ़ने वालों एवं भार ढोने वालों को कष्ट नहीं होता।" बच्चे के जन्म के समय प्रसूता को इसे पिलाने से उसे प्रसवपीड़ा में आराम मिलता है। आप ध्यान देंगे तो कुछ बातें पाएंगे :-

१) बलराम जी रजोगुणी अथवा मतांतर से तमोगुणी अवतार हैं, जिसके कारण उनके व्यक्तित्व में तमोगुणी अथवा रजोगुणी क्रियोचित वारुणीपान की लीला सामान्य है।

२) बलराम जी का बारम्बार अत्यधिक बलयुक्त कार्य करना, लम्बी यात्राएं करना, रैवतक आदि पर्वतों पर चढ़ना वर्णित है, जिससे उत्पन्न लौकिक थकान को वारुणी दूर करती है। शेषावतार बलराम जी आध्यात्मिक एवं आधिदैविक दृष्टि से पृथ्वी का भार भी वहन करते हैं, जिसमें भी वारुणी सहायिका होती है। अतः उनका सांकेतिक वारुणीपान इस दृष्टि की भी पुष्टि करता है।

३) बलराम जी पारिस्थितिक वारुणी पान के बाद नृत्य, गीत, संगीत, पर्वतारोहण, और आंशिक रूप से साहसिक युद्धादि कार्य भी करते थे। वे शराबियों की भांति उन्मत्त होकर प्रलाप या असामाजिक गतिविधियों में लिप्त नहीं रहते थे। उपर्युक्त श्लोकों में हमने वारुणी के प्रयोगों में तत्सम्बन्धी कृत्यों का उल्लेख किया है।
अब एक रहस्य कथा बताता हूँ कि वारुणी का ही पान बलराम जी क्यों करते थे ? क्योंकि वारुणी मद्य की अधिष्ठात्री देवी वरुणपुत्री वारुणी स्वयं बलराम जी की पत्नी हैं।

तदैव देवी वारुणी शेषपत्नी, तपश्चक्रे इन्दिराप्रीतये च ।
तदा प्रीता इन्दिरा सुप्रसन्ना, उवाच तां वारुणीं शेषपत्नीम् ॥

वारुणी देवी ने, जो लक्ष्मी देवी की ही एक अंश थी (क्योंकि वे भी लक्ष्मी के साथ समुद्र से निकली थीं), उन्होंने लक्ष्मी देवी के दूसरे रूप इंदिरा की आराधना की थी। लक्ष्मी देवी ने तो श्रीविष्णु को पतिरूप में प्राप्त किया किन्तु वारुणी देवी शेषनाग को पति बनाना चाहती थीं। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीदेवी ने वरदान दिया –

यदा रामो वैष्णवांशेन युक्तः संपत्स्यते भूतले रौहिणेयः ।
मय्यावेशात्संयुता त्वं तु भद्रे श्रीरित्याख्या बलभद्रस्य रन्तुम् ॥

जब (बल)राम वैष्णवांश से युक्त होकर रोहिणीपुत्र के रूप में भूर्लोक में जाएंगे, तब तुम (वारुणी), मेरे अंश से आविष्ट होकर तुम बलभद्र के साथ विहार करोगी।

संपत्स्यसे नात्र विचार्यमस्तीत्युक्त्वा सा वै प्रययौ विष्णुलोके ।
श्रीलक्ष्म्यंशाच्छ्रीरितीड्यां समाख्यां लब्ध्वा लोके शेषपत्नी बभूव ॥

तुम भी भूर्लोक में जाओगी, ऐसा कहकर देवी लक्ष्मी विष्णुलोक को चली गईं। उन्हीं लक्ष्मी के अंश का आश्रय लेकर वारुणी देवी संसार में शेषपत्नी बनी।

या रेवती रैवतस्यैव पुत्री सा वारुणी बलभद्रस्य पत्नी ।
सौपर्णनाम्नी बलपत्नी खगेन्द्र यास्तास्तिस्रः षड्विष्णोश्च स्त्रीभ्यः ॥

जो रैवत की पुत्री रेवती हैं, वही बलराम की पत्नी वारुणी हैं। उन्हीं का नाम सौपर्णी (अथवा सुपर्णा) भी है। इस प्रकार से शेषनाग की तीन एवं विष्णु की छः पत्नियां हुई। (शेषनाग की तीन पत्नी – ज्योतिष्मती, सौपर्णी एवं वारुणी। अवतारभेद से तीन पत्नी – तुष्टि, उर्मिला एवं रेवती। भगवान् विष्णु की कलाभेद से छः पत्नियां – श्रीदेवी, भूदेवी, वृन्दा, सरस्वती, गंगा एवं पद्मा)। (गरुड़ जी कहते हैं -)

रामेण रन्तुं सर्वदा वारुणी तु पुत्रीत्वमापे रेवतस्यैव सुभ्रूः ।
एवं त्रिरूपा वारुणी शेषपत्नी द्विरूपभूता पार्वती रुद्रपत्नी ॥
(गरुड़पुराण, ब्रह्मकाण्ड, अध्याय – २८)

बलराम जी के साथ विहार की इच्छा से वारुणी ने रेवत की सुंदर पुत्री के रूप में अवतार लिया। इस प्रकार वारुणी तीन रूपों से शेषपत्नी बनी एवं पार्वती दो रूपों (दाक्षायणी सती

एवं शैलजा उमा) से रुद्रपत्नी बनी।

एक तो बलराम जी स्वयं रजोगुण की प्रधानता वाले अवतार हैं, दूसरे वारुणी देवी स्वयं उनकी पत्नी अर्थात् शक्तिरूपा है, अतः स्वशक्ति का उपभोग शक्तिमान् को बाधित नहीं करता। जैसे अग्नि को उसकी स्वयं की दाहिका शक्ति जला नहीं सकती, वैसे ही शेषावतार बलराम जी को शेषपत्नी वारुणी का नकारात्मक प्रभाव नहीं हो सकता है। ऐसे ही जैसा मैंने नारदपुराण के आधार पर बताया कि नारियल से मैरेय का निर्माण होता है, अतः यह सात्त्विक है। फिर सुश्रुतसंहिता के आधार पर इसका कृमिनाश आदि गुण बताया। रसकामेश्वरी के आधार पर बताया कि सात्त्विक मद्य गीत-वाद्य आदि के प्रसंग में लिया जाता है और विष्णुस्मृति के आधार पर बताया कि क्षत्रिय के लिये मैरेय का निषेध नहीं है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि कहीं से भी यह प्रसंग अमर्यादित एवं प्रक्षिप्त नहीं है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

उत्तरकाण्डको प्रामाणिक माननेमें हमें मिला क्या ? कुछ नहीं। सब कथाएँ तो वाल्मीकि जी ने युद्धकाण्डमें कह ही डालीं। यहाँ महर्षि अगस्त्य आते हैं और श्रीरामको ३६ अध्यायों में रावण - वधका वृत्तान्त सुना रहे हैं। जबकि इस रामायणके नायक हैं भगवान् राम और नायकके जन्मका वृत्तान्त महर्षि वाल्मीकिने बालकाण्डके १८ वें सर्ग लगभग १०-१५ छन्दोंमें ही गाया तो नायकके जन्मकी कथा तो १० या १५ छन्दोंमें गायी जाए और खलनायकके जन्मकी कथा ३६ सर्गोंमें कही जाए, यह कहाँतक उचित है ? ऐसा क्यों ? इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है, महर्षि वाल्मीकि का नहीं है।

दो और बातें यहाँ रोचक हैं। बालकाण्डके तृतीय सर्गमें वाल्मीकिजीने अपने वर्ण्य विषयोंकी सूची प्रस्तुत की है। सौभाग्य और संयोगसे वाल्मीकि सब कुछ तो कहा , पर शम्बूक - वधकी तो चर्चा ही नहीं की। बालकाण्डके तृतीय सर्गके ३८ वें श्लोकमें वे कह रहे हैं -

रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम्। स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम्॥

(वा ० रा ० १/३/३८)

अर्थात् भगवान् राम के रामाभिषेक अभ्युदय का वर्णन किया, सैन्यविसर्जन का वर्णन किया, राष्ट्र के रंजन का वर्णन किया और वैदेही के विसर्जन का वर्णन किया। यहाँ विसर्जन का अर्थ है क्या ? सामान्य टीकाकार विसर्जन का अर्थ करते हैं कि सीताजी को निर्वासित कर दिया और आज भी लोग यही कह रहे हैं, पर इनकी इस व्याकरणानभिज्ञता पर मुझे बहुत दया आ रही है। वि उपसर्ग पूर्वक सृज् धातुके दो अर्थ होते हैं- त्यागना और रचना करना । दोनोंका प्रयोग गीताजीमें है- (१) त्यागनेके अर्थमें विसृज्य सशरं चापम् (भ ० गी ० १.४७) , अर्थात् श्रीअर्जुन धनुष - बाण को छोड़कर रथके पीछे बैठ गये और (२) रचना करनेके अर्थमें- गीता ९ .७ और ९ .८ देखिये।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
(भ० गी० ९ / ७-८)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर इस जगत् को मैं कल्पके आदिमें बार - बार रचता हूँ। यहाँ विसृजामि का अर्थ है रचना । इसी वि पूर्वक सृज् धातुसे भावमें ल्युट् प्रत्यय करके गुणावदेश करके विसर्जनम् बना है। यहाँ भगवान् राम वैदेहीका त्याग नहीं कर रहे हैं। विसर्जन का अर्थ है कि वैदेही के जीवनमें मातृत्वका सृजन कर रहे हैं। अर्थात् भगवान् तो अच्युत हैं और सीताजी भी अच्युत हैं। वहाँ रज - शुक्र का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए वंशवृद्धि करने के लिए वैदेह्याः सीताजी के सम्बन्ध में विसर्जन अर्थात् विशेष प्रकार के मातृभाव का सृजन कर रहे हैं, जिससे सीताजी लव - कुश का पालन कर सकें, वैदेह्याश्च विसर्जनम् (वा ० रा ० १.३.३८) ।

सबसे रोचक विषय यहाँ यह है कि इस पूरे प्रकरणमें सभी विषयों की चर्चा करते हुए भी महर्षि वाल्मीकिने न तो सीता - भूमिप्रवेश की चर्चा की और न भगवान रामके सरयू में

समाधि लेनेको चर्चा की। इससे भी यह जाता है कि ये सब कुछ प्रक्षिप्त है। वैदेह्याश्च विसर्जनम् - सीताजी का वनवास हुआ ही नहीं। नहीं तो वैदेह्याश्च त्यजनम् कह देते। विसर्जनम् क्यों कहा ? क्योंकि वि पूर्वक सृज् धातु का अर्थ रचना करना होता है।

हम यह कह चुके हैं कि महर्षि वाल्मीकिने श्रीमद्रामायणम् में छह काण्ड लिखे। ये चिखण्डयिषु की स्तनन्धयता को प्रणाम अवश्य करूंगा कि उसको अध्याय और सर्ग का भेद भी बात नहीं है। काव्य में कभी अध्याय नहीं होते और वह बार - बार वाल्मीकीय रामायण में अध्याय की चर्चा करता है। सर्गबद्धं महाकाव्यम् (सा० द०) । महाकाव्य और आदिकाव्यमें सर्ग होते हैं, अध्याय नहीं। विडम्बना यह है कि उस व्यक्ति को इतना भी विवेक नहीं है कि वह किससे कर रहा है। पद्मविभूषण से और उस व्यक्तिसे, जिसकी अवस्था उससे कम से कम तीन गुणी बड़ी है, उस व्यक्ति से, जिसने चूडान्त व्याकरण, वेदान्त साहित्य और न्याय पड़ा है और उस व्यक्तिसे, जो एक घंटे में कम से कम सौ श्लोक बना सकता है। मैंने अपनी जगद्गुरुता तो प्रमाणित करदी और यह भी कह दिया कि मेरे जगद्गुरुत्वका समर्थन काशी विद्वत परिषद् ने, तीनों अखाड़ों ने, सभी आचार्यों ने किया है, पर चिखण्डयिषु के गुरुत्व को किसने प्रमाणित किया है ? किससे उसने अध्ययन किया होगा ? यह अपने लिए महामहिमका प्रयोग करता है , जबकि महामहिम केवल गवर्नर और राष्ट्रपतिके लिए किया जाता है, वो भी अब नहीं हो रहा है। जो भी हो। राग - द्वेषमें जब किसीको मरना है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है । मैं बालकोंके चापल्यपूर्ण भावपर बहुत ध्यान भी नहीं देता।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

उत्तरकाण्ड को प्रामाणिक मानना नहीं है, वह पहले से स्वतः सिद्ध प्रामाणिक है। उसे प्रामाणिक मानने से जिस निःश्रेयस् की सिद्धि होगी उसे आपके जैसा लोकैषणाग्रस्त कैसे समझ सकता है ? ऐसे भी पुरोडाश का आस्वादन तो अदिति के ही पुत्र करते हैं, सरमा के नहीं। वाल्मीकि जी ने सब कथा युद्धकाण्ड में कह डालीं, यह आपका अप्रामाणिक, अनर्गल कथन है। वाल्मीकि जी ने जितना उचित था, उतना युद्धकाण्ड में कहा और जितना शेष था सो उत्तरकाण्ड में कहा। रही बात उत्तरकाण्ड में अगस्त्य जी के द्वारा रावण

के चरित्र का वर्णन, तो वह भी प्रामाणिक ही है। आपको यह दिख रहा है कि नायक के जन्म की कथा कम शब्द में कही और खलनायक की अधिक शब्द में किन्तु यह नहीं दिख रहा है कि पूरे ग्रन्थ का ही नाम "रामायण" है, वर्ण्य विषय नायक का जीवन है, खलनायक का नहीं। साथ ही उन ३६ सर्गों में मात्र रावण के जन्म की कथा नहीं, अपितु पुलस्त्य, विश्रवा, कुबेर और हनुमानजी का भी आख्यान वर्णित है, देवासुरसंग्राम का भी उल्लेख है। अगस्त्य जी के द्वारा यह वृत्तान्त इसीलिए सुनाया गया क्योंकि वनवास के समय राक्षसों के वध हेतु उन्होंने रामजी को दिव्यास्त्र दिए थे। युद्धकाण्ड में भी उन्होंने आदित्यहृदय के उपदेश से मान्त्रिक सहयोग किया था।

रावण और उसके कुल के अत्याचारों से ऋषि महर्षि बहुत युगों से कष्ट पा रहे थे। बहुत प्रतीक्षा में थे कि इसका वध कब होगा। इसीलिए इतने बड़े संकट का निवारण होने पर वे हर्षातिरेक से झूम उठे और संकट कितना बड़ा था एवं रावण का वध संसार के लिये कितना महत्वपूर्ण है, रामजी का कार्य कितना दुष्कर है, यह बताने के लिए ही रावण की उपाख्यान कहा गया है। अग्निपुराण में जहाँ रामायण के "सातों काण्ड" (ध्यान देंगे - सातों काण्ड) के लिए अलग अलग अध्याय निश्चित हैं, उसमें ही उत्तरकाण्ड के अन्तर्गत अगस्त्य जी के द्वारा रावण के वृत्तान्त के वर्णन का उल्लेख भी है।

नारद उवाच

राज्यस्थं राघवं जग्मुरगस्त्याद्याः सुपूजिताः।
धन्यस्त्वं विजयी यस्मादिन्द्रजिद्विनिपातितः॥
ब्रह्मात्मजः पुलस्त्योभूद्विश्रवास्तस्यनैकषी। पुष्पोत्कटाभूत् प्रथमा तत्पुत्रोभूद्धनेश्वरः॥
नैकष्यां रावणो जज्ञे विंशद्बाहुर्दशाननः। तपसा ब्रह्मदत्तेन वरेण जितदैवतः॥
कुम्भकर्णः सनिद्रोऽभूद्धर्म्मिष्ठोऽभूद्विभीषणः।
स्वसा शूर्पणखा तेषां रावणान्मेघनादकः॥
इन्द्रं जित्वेन्द्रजिच्चाभूद्रावणादधिको बली।
हतस्त्वया लक्ष्मणेन देवादेः क्षेममिच्छता॥
इत्युक्त्वा ते गता विप्रा अगस्त्याद्या नमस्कृताः।

देवप्रार्थितरामोक्तः शत्रुघ्नो लवणार्दनः ॥
अभूत्पूर्मथुरा काचिद्रामोक्तो भरतोऽवधीत्। कोटित्रयञ्च शैलूषपुत्राणां निशितैः शरैः ॥
(अग्निपुराण, अध्याय – ११)

यह प्रमाण मैंने अग्निपुराण की लगभग १५० वर्ष प्राचीन प्रति से ग्रहण किया है। आपने जनता को दो रोचक बातें बतायीं। चलिये, उस रोचकता को मैं और बढ़ा देता हूँ। बालकाण्ड के तीसरे सर्ग में जो आप वर्ण्य विषयों की बात करके कहते हैं कि शम्बूक वध की चर्चा नहीं की है अतएव शम्बूक वध अप्रामाणिक है, तो बाबाजी ! चर्चा तो उसमें अहल्योद्धार की भी नहीं है, परशुराम प्रसङ्ग भी नहीं है, अयोमुखी-निग्रह की भी बात नहीं है, और तो और देवराज इन्द्र के द्वारा सीताजी के निमित्त दिव्य पायस निवेदित करना, हनुमानजी एवं विभीषण जी का लङ्का में मिलना, रावण का नकली रामशीर्ष दिखाकर सीताजी का भयादोहन करना, एवं सीताजी की अग्निपरीक्षा की भी चर्चा नहीं है। उत्तरकाण्ड से पहले इन सबका वर्णन वाल्मीकि जी ने किया है। तो क्या आप इन कथाओं को भी मिलावटी कहेंगे क्योंकि वाल्मीकि जी ने तीसरे सर्ग में सूचीबद्ध नहीं किया। और यदि इन कथाओं को आप सूची में न होने पर भी सही मानते हैं तो शम्बूक के पीछे क्यों पड़े हुए हैं ? आपने रामाभिषेकाभ्युदयं वाला श्लोक देकर जनता को तो मूर्ख बना लिया, हमें न बना पायेंगे। इतनी दूर पहुंच ही गये थे तो थोड़ा आगे एक श्लोक और बढ़ जाते। आपने जो श्लोक दिया है, मैं उसी सर्ग से उसके ठीक आगे वाला श्लोक, दे रहा हूँ।

अनागतञ्च यत्किञ्चिद्रामस्य वसुधातले।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग - ०३, श्लोक - ३९)

इसमें स्पष्ट कहते हैं - जो कुछ "अनागत" है, उसे वाल्मीकि जी ने उत्तरकाण्ड में लिखा। इसी के साथ आपके "कृत्स्नं" के आधार पर आगतानागतखण्डन का प्रतिखण्डन हो जाता है। अब आगे बात करते हैं - "विसर्जनम्" की। विसर्जन शब्द उसी श्लोक में दो बार आया है, एक बार सेना हेतु, एवं एक बार सीताजी के निमित्त। पहले वाले का अर्थ आप परित्याग ले रहे हैं तो दूसरे वाले का क्यों नहीं ? और यदि दूसरे वाले का अर्थ विशिष्ट

रचना से ले रहे हैं तो पहले वाले का क्यों नहीं ? यद्यपि एक ही श्लोक में एक ही शब्द अनेकों बार आकर अनेकों अर्थ को धारण कर सकते हैं, यह संस्कृतप्रातिभ से सिद्ध है किन्तु यहाँ आपने विसर्जन शब्द का अर्थ रचना से लगाकर अपनी अज्ञानता को ही सिद्ध किया है। किसी भी टीकाकार और आचार्य ने ऐसा अर्थ नहीं किया है। प्रतिभा को नहीं, शब्द को प्रमाण माना जाता है। किसी का भी प्रातिभज्ञान प्रमाण की दृष्टि से ग्रहण नहीं होता ऐसा श्लोकवार्तिककार का मत भी है। मुझे तो आप बालक मानते हैं, पूरा संसार बालक ही है क्या ? यदि विसर्जन शब्द का अर्थ गर्भाधान से मान भी लें तो सीताजी गर्भभ्रूण का अधिकरण हैं। वैदेह्यां होना चाहिए था, वैदेह्याः नहीं अन्यथा अर्थ हो जायेगा कि सीताजी की माताजी में आधान हो रहा है। आपने पूछा कि विसर्जन शब्द क्यों कहा, त्यजन शब्द क्यों नहीं ? तो मैं आपको बता दूँ कि विसर्जन का अर्थ त्याग भी होता है, इसीलिए अलग से त्यजन नहीं कहा। उन्हें पता होता कि भविष्य में आप जैसे अर्थज्ञानहीन जन होने वाले हैं तो सम्भवतः त्यजन ही लिखते। यदि वे ऐसा करते भी तो छन्दोभंग का आरोप लगाकर आप उसे भी प्रक्षिप्त कह देते। अस्तु, विसर्जन के इतर त्यजन के अर्थ में सीतात्याग का निम्न प्रमाण ग्रहण करें -

लोकापवादाच्च परं ततस्तत्याज तां प्रियाम्।
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध - ०४, अध्याय - २५)

लोकापवादात्संत्रस्तः सीतां तत्याज धर्मवित्।
(नारदपुराण, उत्तरार्ध, अध्याय - ७५)

सीतां तत्याज सहसा वने लोकापवादतः॥
(गर्गसंहिता, मथुराखण्ड, अध्याय – १०)

यथा सीता परित्यक्ता यथा सौमित्रिणा कृतः।
परित्यागः स्वकीयस्य संत्यक्तेन महात्मना॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय – १०३, श्लोक - २४)

उन्मत्तेव जगत्यस्मिन्नपवादपिशाचिका ।
अपि प्राणाधिका सीता त्यज्यते तृणवन्मया ॥
(रामायणमञ्जरी, उत्तरकाण्ड - ७७१)

यहाँ सर्वत्र त्यज् धातु ही है। इसके अतिरिक्त सीताजी स्वयं आपसे सहमत नहीं हैं। वे तो कहती हैं कि विसर्जन का अर्थ मातृत्व का आधान नहीं, त्यागना ही है। प्रमाण देखें, उन्होंने स्वयं वाल्मीकि जी से कहा है -

श्रृणु मे वाक्यमर्थोक्तं सर्वदुःखस्य कारणम्।
जानीहि मां भूमिपते रघुनाथस्य सेवकीम्॥
अपराधं विना त्यक्ता न जाने तत्र कारणम्।
लक्ष्मणो मां विमुच्यात्र गतवान्राघवाज्ञया॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५९)

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में शिवप्रोक्त विष्णुसहस्रनाम के अन्तर्गत श्रीरामावतार से सम्बन्धित घटनाओं से जुड़े नामों के वर्णन में राज्याभिषेक के बाद उत्तरकाण्डसम्बन्धी प्रसङ्गों से सन्दर्भित नामों पर ध्यान दें - श्वपक्ष्यादिन्यायदर्शी (नाम संख्या - ६५६) अर्थात् कुत्ते और पक्षी के प्रति भी न्याय का पालन करने वाले। आनन्दरामायण के अनुसार पक्षियों के द्वारा सीताजी को गर्भावस्था में पतिवियोग का श्राप सार्थक करके एवं कुत्ते के द्वारा उसके अनुपकारी ब्राह्मण को कालिञ्जर मठ का अधिपति बनवाकर रामजी ने इस नाम को चरितार्थ किया है। वधव्याजानुचितकृत्तारक (नाम संख्या - ६५८) अर्थात् वध के बहाने अनुचित कर्म करने वालों का उद्धार। शम्बूकवध के माध्यम से उस अनुचितकर्मा का उद्धार किया। प्रियात्यक्त (नाम संख्या - ६६१) सीतात्याग के माध्यम से इसे भी चरितार्थ किया। सत्यार्थत्यक्तसोदर (नाम संख्या - ६६७) काल के साथ हुए समझौते के अनुसार सत्य की रक्षा के लिए लक्ष्मण जी का परित्याग किया। अच्छा एक बात बतायें -

लोकापवादभीत्या च रामः शत्रुनिवारकः। दर्शयन्मानुषं धर्ममन्तर्वत्नीं नृपात्मजाम्॥
वाल्मीकेराश्रमे पुण्ये गङ्गातीरे महावने। विससर्ज महातेजा गर्भिणीं मुनिसंसदि॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय - २४४)

पूरे संसार में कोई प्रबुद्ध व्यक्ति इस सन्दर्भ में विसर्जन का अर्थ रचना नहीं लगाता। यदि आपके अर्थ को सही मान लें तो पद्मपुराण के उपर्युक्त श्लोक का आप क्या अर्थ करेंगे ? 'रामजी ने लोकापवाद के भय से अपनी पहले से गर्भवती पत्नी को गंगा किनारे वनस्थ वाल्मीकि के आश्रम में लाकर पुनः मातृत्व का सृजन किया ?' ये तो अद्भुत व्याकरणज्ञान है आपका। मैं मानता हूँ कि मेरी अवस्था आपसे कम है, आपने अधिक व्याकरण पढ़ा है मुझसे किन्तु उस वय एवं अध्ययन का क्या लाभ जो ऐसी शब्दार्थदुर्गति करे ? अध्याय और सर्ग वाले विषय पर मैं मानवीय भूल स्वीकार करता हूँ। जहाँ सैकड़ों ग्रंथों में अध्याय हैं, उसी के बीच में काव्यप्रमाण में असावधानीवश सर्ग न लिखकर अध्याय लिख देना मेरी मानवीय भूल है किन्तु वह दो कारणों से निरर्थक है क्योंकि एक तो मैंने सर्वत्र सर्ग को अध्याय नहीं लिखा है, कुछ स्थानों पर अध्याय तो कुछ में सर्ग लिखा है, उसे भी श्रीरंगनाथ मन्दिर, वृन्दावन के श्रीविष्वक्सेनाचार्य जी की आपत्ति के बाद अगले संस्करण में सुधार लिया गया है। दूसरी बात, शब्दकल्पद्रुम आदि में सर्ग एवं अध्याय को पर्याय ही माना है इसीलिये आपका यह आक्षेप निरर्थक है।

अब इस बात पर आते हैं कि मुझे विवेक नहीं कि मैं किससे बात कर रहा हूँ। मैं उस व्यक्ति से बात नहीं कर रहा जिसकी अवस्था मुझसे कम से कम तीन गुणी बड़ी है, या जिसने चूडान्त व्याकरण, वेदान्त साहित्य और न्याय पढ़ा है और जो एक घंटे में कम से कम सौ श्लोक बना सकता है। मैं उस व्यक्ति से बात कर रहा हूँ जो समुद्रोल्लंघनपूर्वक विदेशगामी होकर आरूढ़पतित हो चुका है, दण्डग्रहणहेतु अनधिकृत है और शास्त्रों की व्याख्या में मनमानी करते हुए अल्पमेधस् होने से जो समझ में न आये, उसे प्रक्षिप्त कह देता है।

आप पद्मविभूषण होने का जो धौंस हमें दिखा रहे हैं तो क्या पद्मविभूषण होने से व्यक्ति को शास्त्रप्रामाण्य की संसिद्धि हो जाती है ? इस हिसाब से तो पद्मविभूषण तो युसूफ़ खान

(दिलीप कुमार) को भी मिला हुआ है, तो हम क्या करें ? हमारी रांची की ही निर्मला जोशी थीं, ब्राह्मण थीं, २४ साल की अवस्था में टेरेसा के साथ मिलकर मिशनरी हो गयीं और फिर सभी जानते हैं कि मदर टेरेसा क्या करती थीं। उन्हें भी पद्मविभूषण मिला हुआ है। आपको पता है कि मेरे लिये आपके पद्मविभूषण का कितना महत्त्व है ? शून्य … क्योंकि हिन्दू देवी देवताओं की नग्न चित्रकारी करने वाले मकबूल फ़िदा हुसैन को भी पद्मविभूषण मिला हुआ है। ये सभी म्लेच्छजन आपसे अवस्था में बड़े थे, सबको पद्मविभूषण मिला हुआ है और आपके ही हिसाब से तो ये आपसे, त्रिदंडी भाष्यकार से भी श्रेष्ठ हुए।

अब जब पद्मविभूषण होने की इतनी भीषण महानता है फिर भारत-रत्न जिसे मिला हो, उसका कहना ही क्या। तो हमें इतना बस बता दें कि आप मनुस्मृति वाले विषय पर जो अम्बेडकर का विरोध करते हैं आपको इतना भी विवेक नहीं रहता कि आप विरोध किसका कर रहे हैं ? उस भीमराव अम्बेडकर का जो अवस्था में भी आपसे बड़े थे और पद्मविभूषण से बड़ा पुरस्कार भारत रत्न भी जिन्हें मिला हुआ है ?

काशीविद्वत्परिषत् वालों की लीला तो अद्भुत ही है। ये कब किसे जगद्गुरु बना दें, इन्हें स्वयं पता नहीं रहता। इनके पास तो जगद्गुरु पद की मान्यता की कोई परिभाषा तक नहीं है। इनके तो एक अधिकारी सार्वजनिक कहते हैं कि इस वर्ष आनन्द संवत्सर होगा और उन्हीं का विभाग राक्षस संवत्सर का पंचांग निकाल देता है। एक चुटकुला सुनाता हूँ जो पूर्णतया सत्य घटनाओं पर आधारित है। रामभद्राचार्य जी ने मेरे प्रतिखंडन में लिखी पुस्तक में कहा है कि जब मैंने उत्तरकाण्ड एवं संन्यासाधिकार वाली अपनी पूर्वलिखित पुस्तक पर रामभद्राचार्य जी के जगद्गुरु होने पर आपत्ति की तो इस विषय पर क्षुब्ध होकर काशी विद्वत् परिषत् ने अपनी वेबसाइट पर मेरे विरुद्ध लेखन किया क्योंकि उन्होंने ही रामभद्राचार्य जी को प्रस्थानत्रयीभाष्यकार होने के कारण जगद्गुरु की उपाधि दी थी।

अब काशी वालों ने क्या लिखा और क्या नहीं, ये तो हमने अभी तक देखा नहीं है और न देखने की इच्छा है लेकिन अब चुटकुला प्रारम्भ होता है यहां से … काशी विद्वत् परिषत् वालों ने कृपालु जी महाराज को पञ्चम जगद्गुरु की उपाधि दी थी। कृपालु जी न तो

प्रस्थानत्रयी भाष्यकार थे, न ही संन्यासी, फिर भी वे जगद्गुरु बनाये गए और उससे भी बढ़कर जगद्गुरूत्तम की उपाधि मिली। रामभद्राचार्य जी संसार में प्रस्थानत्रयीभाष्यकार और रामानन्द सम्प्रदाय के संन्यासी के रूप में विख्यात हैं, और उन्हें भी काशी वालों ने जगद्गुरु की उपाधि दी। काशी की इस परिषत् के पास जगद्गुरु बनाने का अधिकार कहाँ से आया एवं इसकी नियमावली या अर्हता क्या है, ये तो हमें पता नहीं, क्योंकि ये लोग गृहस्थ अभाष्यकार को भी जगद्गुरु बना देते हैं और संन्यासी भाष्यकार को भी।

अस्तु, अब चुटकुला आगे बढ़ता है। कृपालु जी को इन्होंने पञ्चम जगद्गुरु बनाया। उनसे पहले के चार जगद्गुरु के रूप में (सर्वश्री) शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य एवं मध्वाचार्य जी को गिना गया और पांचवें के रूप में कृपालु जी प्रतिष्ठित हुए। काशी वालों ने यहां स्वयं आद्यरामानन्दाचार्य जी को ही जगद्गुरु नहीं माना है किन्तु उनके सम्प्रदाय में 500 वर्ष के बाद आने वाले रामभद्राचार्य जी को जगद्गुरु मान लिया। काशी वाले रामानन्दाचार्य जी को जगद्गुरु मानते तो कृपालु जी पांचवें होते ही नहीं। और तो और कृपालु जी को जगद्गुरूत्तम बना दिया और इस प्रकार से शिव, शेष, अग्नि, सुदर्शन, वायु एवं श्रीरामावतार पूर्वाचार्य जगद्गुरुओं से भी श्रेष्ठ घोषित कर दिया।

कहने का मतलब ये है कि श्रीराम जी के अवतार रामानन्दाचार्य जी काशी वालों के लिए जगद्गुरु नहीं हैं किन्तु उनके सम्प्रदाय में बहुत पीछे आने वाले विदेशगामी प्रक्षिप्तवादी रामभद्राचार्य जी जगद्गुरु हैं। काशी वालों के लिए शिवावतार जगद्गुरु शंकराचार्य जी एवं शेषावतार जगद्गुरु रामानुजाचार्य जी जैसे यतिराज दण्डियों से श्रेष्ठ गृहस्थ जगद्गुरूत्तम कृपालु जी महाराज हैं। कुछ लोग कहते हैं कि परिषत् ने कृपालु जी को जगद्गुरु नहीं बनाया, उन्होंने दुष्प्रचार किया है इस बात का। यदि ऐसा है तो पचास वर्षों से परिषत् कहाँ सोयी हुई है ? आधिकारिक विरोध क्यों नहीं करती इस दुष्प्रचार का ?

काशी विद्वत् परिषत् वाले तो एक बार रासपञ्चाध्यायी को अश्लील मानकर उसे श्रीमद्भागवत से हटाकर प्रक्षिप्त घोषित कराने के लिए श्री करपात्री स्वामी जी के पास चले गए थे। भला हो स्वामिश्री का जो उन्होंने ऐसे विद्वानों को ज्ञानबल से अनुशासित किया। इन लोगों के पास न कोई परिभाषा है, न मापदण्ड। इनके लिए प्रक्षिप्तवादी जन ही

जगद्गुरु हो सकते हैं। इन लोगों ने तो स्वयं को प्रत्यक्ष प्रकट भगवान् घोषित करके अपना अक्षरधाम मन्दिर बनवाकर अपनी पूजा करवाने वाले स्वामिनारायण समुदाय के भाष्य और संस्थान को भी मान्यता दे रखी है। काशी से ही ऋग्वेद भी छप रहा है जिसमें मैक्समूलर को ऋषि मोक्षमूलर बताया जा रहा है। परिषत् के एक अधिकारी रामदेव बाबा का समर्थन करते हैं, दूसरे विरोध करते हैं। एक अधिकारी ने तो फेसबुक पर यह भी लिखा था कि सनातन धर्म इतना उदार है कि यहाँ महिला शंकराचार्य एवं किन्नर अखाड़ा भी है। अद्भुत ! इन लोगों को तो अशास्त्रीयता और उदारता में भेद तक पता नहीं, वैसे आपको भी कौन सा ज्ञात है। इसीलिए तो जो जगद्गुरु भी नहीं हो सकता ऐसे आपश्री को अशास्त्रज्ञों ने 'सार्वभौम वैष्णव जगद्गुरु' बना रखा है। एक करेला - दूजे नीम चढ़ा। सार्वभौम में क्या आता है ? सप्तद्वीपवती मही या केवल जम्बूद्वीप ? उसमें भी केवल भारतवर्ष या केवल चित्रकूट ? सार्वभौम क्या होता है ? केवल रामानन्द सम्प्रदाय के ही या अन्यों के भी ? पंचायत में जिसे कोई न पूछे वह सीधे राष्ट्रपति का ही चुनाव लड़ता है, जब हारना ही है तो प्रधानी में क्यों हारें, राष्ट्रपति में हारेंगे।

यदि काशी वाले रामानन्दाचार्य जी को जगद्गुरु नहीं मानते तो उनके सम्प्रदाय के आने वाले रामभद्राचार्य जी जगद्गुरु कैसे ? यदि काशी वाले रामानन्दाचार्य जी को जगद्गुरु मानते हैं तो कृपालु जी पञ्चम जगद्गुरु कैसे ? यदि काशी वाले कहें कि श्रीसम्प्रदाय में ही रामानन्दाचार्य जी से पहले रामानुजाचार्य जी के जगद्गुरु होने से रामानन्दाचार्य जी को जगद्गुरु नहीं मान सकते तो फिर उसी आधार पर उनके ही सम्प्रदाय में रामभद्राचार्य जी जगद्गुरु कैसे ? यदि कहें कि आनन्दभाष्य रामानन्दाचार्य जी की रचना नहीं है, किसी ने बाद में लिख दिया इसीलिए भाष्यलेखक न होने से उन्हें जगद्गुरु नहीं मान सकते किन्तु रामभद्राचार्य जी भाष्यकार हैं तो उन्हें मान सकते हैं, तो फिर भाष्यलेखक न होने पर भी कृपालु जी को जगद्गुरु कैसे बना दिया गया ?

१) काशी विद्वत् परिषत् रामभद्राचार्य जी को जगद्गुरु बना देती है।
२) रामभद्राचार्य जी काशी विद्वत् परिषत् के द्वारा समर्थित आनन्द सम्वत्सर को मान्यता दे देते हैं।
३) दृक्सिद्ध सिद्धान्त गणना से राक्षस सम्वत्सर ही होगा, आनन्द नहीं, ये शास्त्रसिद्ध बात

है लेकिन इनलोगों को शास्त्र की प्रतिष्ठा से मतलब रहे तब तो ...
४) इससे भी आनन्द की बात ये है कि काशी विद्वत् परिषत् के एक विद्वान्, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ज्यौतिष विभागाध्यक्ष हैं, उनके ही विभाग से निकलने वाले पञ्चाङ्ग में राक्षस सम्वत्सर छपा है।

किस अखाड़ा और संघ की बात करते हैं आप ? वही जो भगवान् राम को ब्रह्म नहीं, केवल मनुष्य या महापुरुष मानते हैं ? जिनके प्रवक्ताओं के अनुसार कोई भी भारत में रहे, चाहे कुछ खाये, कुछ करे और तो और वर्णाश्रम से भ्रष्ट होकर सबके साथ रोटी बेटी का संसर्ग करे, सब हिन्दू हैं ? वह संघ, जो रामजी को इमामे हिन्द कहकर शास्त्रों को बदलने की बात कहता है ? आप भी तो संस्कार चैनल में कह रहे थे कि सबको घर वापसी कराकर रोटी बेटी का सम्बन्ध करेंगे-कराएँगे, इसीलिए भगवान् ने आपको भेजा है। आरूढ़पतित वर्णाश्रमद्रोही सामान्य शिष्टजनों के समाज में भी पंक्तिबाह्य गिने जाते हैं श्रीरामभद्राचार्य ! जगद्गुरु बनने की बात तो बहुत दूर है, पहले सामान्य शिष्टता तो लायें।

संघ अपने संस्कार और विचारों को सनातनी या हिन्दू संस्कार क्यों नहीं कहता ? संघ संस्कार क्यों ? संघ की उत्पत्ति से बहुत पहले ही अनेकों दानी और उत्सर्जक हुए हैं वे तो संघ से नहीं थे। संघ ये त्याग की भावना कोई अपने से नया तो लेकर आया नहीं है, फिर क्यों नहीं उन्हें सनातनी संस्कार कहा जाए ? लोग कहते हैं कि हम सनातनी संघ से चिढ़ते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है। संघ हमसे चिढ़ता है। हमने आजतक नकली सरसंघचालक नहीं बनाए और न ही म्लेच्छों से कोई रोटी बेटी का संसर्ग रखा। संघ ने नकली धर्माचार्य भी बनाए और म्लेच्छों से संसर्ग करके उनके मंच भी बनाए। स्पष्ट है कि कौन किससे चिढ़ता है।

कौन सा हिंदुत्व है संघ का ? जो कहता है कि शूद्र को ब्राह्मण की बेटी और ब्राह्मण को शूद्र की बेटी से विवाह करना चाहिए ? श्रीराम अवतार नहीं, मात्र महापुरुष हैं ? सामान्य सामाजिक ऐक्य तो लंका और हस्तिनापुर वालों में भी था और वे भी स्वयं को हिन्दू ही कहते थे, कोई खतना करा कर आये नहीं थे। कौन सा हिन्दुत्व है यह जो कहता है कि शास्त्रों को बदलने की आवश्यकता आ गयी है, शास्त्र अब पुराने हो गए हैं। शास्त्र को

बदल डालो। यदि यही हिन्दुत्व है तो राजनैतिक पार्टियों के विलय के समान हिन्दुत्व का विलय ही इस्लाम या ईसाईयत में क्यों नहीं करने की मांग कर देते। शास्त्रों को बदल कर उपनयन शब्द को खतना और गंगाजल को आब-ए-जमजम कर देते हैं ! द्वंद्व ही समाप्त हो जाएगा। भगवान् श्रीराम को इमाम-ए-हिन्द घोषित कर ही चुके हैं ये लोग। संघ हिन्दू धर्म के ईसाई एवं इस्लाम जैसा न होने के कारण पछतावा होने से, वह कमी पूरी करने को अवतरित हुआ है। संघ कुरान और बाइबल को तो यथार्थ मानता है और सनातनी शास्त्रों को समयानुसार परिवर्तनीय। सनातनी मन्दिर, मठ, शास्त्र, आचार्य एवं सिद्धान्तों के ऊपर आक्षेप और प्रहार करने की कुचेष्टा संघ को ही आंतरिक क्षति पहुंचाएगी।

संघ के लोग हमें समझा रहे हैं कि संघ अपने राष्ट्रीय मुस्लिम मंच के माध्यम से कम से कम, इमाम ए हिन्द के नाम पर ही सही लेकिन श्रीराम का नाम तो कहवा रहा है क्योंकि इमाम का अर्थ मुखिया होता है। अब उन्हें कौन समझाए कि इमाम का अर्थ केवल मुखिया नहीं, अपितु इस्लाम के लोगों का मजहबी मुखिया होता है। होने को तो गिरोह का सरगना भी मुखिया ही होता है तो क्या आपको वह कह सकते हैं ? नहीं न ...

इस्लाम अल्लाह को एकमात्र एवं सर्वोच्च आदेशक एवं आराध्य मानता है। सनातन में श्रीराम की वेदोक्त ब्रह्म संज्ञा है। आप मुसलमानों से तो श्रीरामो ब्रह्म तारकः कहवा दें, तब जानें। या फिर यह कहवा दें कि जैसे श्रीराम इमाम (अल्लाह के उपासक मुसलमानों के मुखिया) हैं, वैसे ही अल्लाह भी श्रीरामभक्त हैं, तब न जानें। ऐसे बता दें कि इस्लाम तो अब्राहम, मूसा और ईसा को भी अपना पैगम्बर मानता है किन्तु इससे उसके यहूदियों और ईसाइयों के गला काटने पर कोई कमी नहीं आ जाती है। जब हमनबी और हमकिताबियों के साथ ये हाल है तो फिर तुमलोग तो काफिर और बुतपरस्त हो ही ... श्रीराम को इमाम - ए - हिन्द कहने वाले इन्द्रेश कुमार, शास्त्रों में बदलाव की बात करने वाले मोहन भागवत, गोमांस खाने का धर्म से लेना देना नहीं कहने वाले राम माधव, तथा और भी अन्य बहुत से संघ नेता जिन्होंने म्लेच्छों के साथ रोटी बेटी का संसर्ग कर रखा है, इनके द्वारा समर्थित एवं प्रायोजित धर्मगुरु एवं नेतागण कभी वास्तविकता में सनातन धर्म की रक्षा कर ही नहीं सकते हैं। आपदाओं की स्थिति में सहयोग सहकारिता हेतु संघ की स्थिति लोकदृष्टि से मान्य हो सकती है किन्तु धार्मिक विषयों पर धर्मगत निर्णयों में संघ या

उसके द्वारा प्रायोजित धर्मगुरु शास्त्रवाक्य के आलोक में अधिकृत नहीं हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि कोई अर्हता या मापदण्ड नहीं है आज जगद्गुरु बनाने के, राजनैतिक और आर्थिक लोलुपता में कोई भी किसी भी आधार के बिना ही जगद्गुरु बना दिया जा रहा है। श्रीशंकराचार्य जी से वल्लभाचार्य जी तक 2000 वर्षों से मात्र 6 जगद्गुरु आये किन्तु विगत 100 वर्षों में ही 1500 जगद्गुरु आ गए हैं। इस प्रसंग में मैंने सभी सम्प्रदायों के मान्य आचार्यों से सम्पर्क करके जगद्गुरु पद की कोई निश्चित योग्यता या शास्त्रोक्त परिभाषा पूछी किन्तु दुर्भाग्य से श्रेष्ठतम आचार्यगण भी कुछ न बता सके, सिवाय इधर उधर की बातों के। स्वयं लोकपितामह ब्रह्मा जी नारद मुनि से श्रीमद्भागवत के दूसरे स्कन्ध में कहते हैं कि -

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि। यन्मायया दुर्जयया मां वदन्ति जगद्गुरुम्॥

ब्रह्माजी कहते हैं कि भगवान् नारायण की माया से मोहित लोग मुझे जगद्गुरु कहते हैं। और एक ये महाशय हैं जिन्हें रोज सर पीटना है कि - मैं जगद्गुरु हूँ, मैं जगद्गुरु हूँ। ब्रह्माजी को स्वयं को जगद्गुरु कहलाने पर आपत्ति है और ये भड़के जा रहे हैं। जैसे कोई बालक खेल में स्वयं को पुलिस और अन्य को चोर समझकर रौब दिखाता है, वैसे ही इनका यह जगद्गुरुत्वदम्भ है। सौभाग्य से एक दिन अपने पुस्तकालय में शिवधर्मोत्तरपुराण की एक हस्तलिखित प्रति का अध्ययन करते हुए मुझे निम्न परिभाषा मिली -

उपायेन भयाल्लोभात् मूर्खान् सदानुबोधयेत् ।
मन्त्रौषधिक्रियाद्यैर्वा लुब्धान् धर्मे निवेशयेत् ॥
मन्त्रौषधिनिधिक्षेत्रं फलमूलरसक्रियाः। धर्ममार्गावताराय धर्मोऽष्टाङ्गः प्रकीर्तितः॥
प्रत्याय्याष्टाङ्गवादेन कामार्थाभिरतं नृपम्। शनैर्धर्मे नियुञ्जीत ज्ञानयोगे पुनः क्रमात्॥
एवं यः सर्वयत्नेन राजानं बोधयेद् बुधः। जगद्गुरुः स विज्ञेयः सर्वलोकानुकम्पकः॥
(शिवधर्मोत्तरपुराण, प्रथम अध्याय, श्लोक – ५५-५८)

अर्थात्, राजा को चाहिए कि वह मूढ़ लोगों के लिए भय, लोभादि से सदा बोध प्रदान

करने के उपाय करे। साथ ही मन्त्रविधि अथवा औषधक्रिया से भी लोभी जनों को धर्म के मार्ग में निवेशित करें। मन्त्र, औषध, कोश, खेत, फल - मूल, रस - क्रिया से लोक को धर्ममार्ग का अनुसरण कराएँ। इसी हेतु ये धर्म के अष्टांगवाद कहे गए हैं। यदि कभी कोई राजा धर्म के अष्टांगवाद से विमुख हो जाए और काम तथा अर्थ में अभिरत हो जाए तो उसे धीरे - धीरे धर्म की ओर जोड़ने का ज्ञानयोग से क्रमशः प्रयास करना चाहिए- इस प्रकार के सभी यत्नों से बुद्धिमान् राजा को समझाने वाले पण्डित ही जगद्गुरु कहलाते हैं और लोक पर अनुकम्पा करने वाले होते हैं। शिवधर्मोत्तरपुराण को शिवपुराण, स्कन्दपुराण, कूर्मपुराण, भविष्यपुराण, बृहद्धर्मपुराण आदि सभी मान्यता देते हैं।

हम बिना यथार्थ को समझे कुछ नहीं बोलते। आज कितने जगद्गुरु कहलाने वाले लोग हैं जो निर्भय होकर शासकों को धर्ममार्ग का उपदेश करते हैं ? यहाँ तो शासकों के पीछे पुरस्कार के लिये दौड़ने वाले जगद्गुरु हैं। कोई अखाडा सम्पत्ति हेतु हत्या करवाता है तो कोई अखाड़ा राधे मां को महामंडलेश्वर बना देता है। जब मुझे 'बोधगया शंकराचार्य मठ' का श्रीमहन्त बनाने की बात एक अखाड़ा वाले कर रहे थे तो प्रयागराज के एक अखाडा के गिरि बाबा की ओर से धमकी आयी थी कि जान से मरवा देंगे। अब चूंकि गिरि बाबा स्वयं हत्या/आत्महत्या के कारण नहीं रहे तो मैं पूरी बात नहीं कहूँगा। बात निकलेगी तो दूर तलक जायेगी, चुटकुला समाप्त।

महामहिम शब्द की बात पर यह कहूँगा कि पुराण-तन्त्रादिक में भी इस शब्द का प्रयोग है। पूर्वकाल में अनेक ग्रन्थकारों तथा शासकों के नाम के आगे यह लगता आया है। यह मेरे निजी साधनात्मक रहस्य का विषय है तो मैं ऐसे किसी व्यक्ति के समक्ष इसका प्रकाशन करूँगा जो या तो प्रबल शास्त्रनिष्ठ हो अथवा जातिस्मरत्व की सिद्धि से युक्त हो। आपके समक्ष मैं इसे प्रकाशित नहीं करूँगा, यद्यपि कर सकता हूँ। राष्ट्रपति और राज्यपाल तक यह सीमित है, यह कहना स्वयं सिद्ध कर देता है कि इस विषय में आप कितना जानते हैं। ये उपाधियाँ इस देश में राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के होने से बहुत पूर्व ही प्रयुक्त होती आ रही हैं। हाँ, मेरे नाम में 'गुरु' शब्द पर मैं अवश्य ही सारा वृत्तान्त प्रस्तुत करता हूँ। 1368 ई० से 1953 ई० तक नारायण राजवंश ने बिहार की सबसे बड़ी रियासत बनकर शासन किया। इनके कुलदेवता भगवान् वंशीधर श्रीकृष्ण हैं। रामगढ़ रियासत के

पहले राजा बाघदेव सिंह खरवार एवं अन्तिम शासक महाराजा कामाख्या नारायण सिंह बहादुर थे। इसकी पहली राजधानी सिसई, दूसरी राजधानी उरदा, तीसरी राजधानी बादम, चौथी राजधानी रामगढ़ एवं पांचवीं एवं वर्तमान राजधानी पद्मा है। कालांतर में शासकीय सुविधा हेतु रामगढ़ की राजधानी अल्पकाल हेतु विष्णुगढ़ एवं ईचाक में भी स्थापित की गयी थी। कुछ राज्यों में खरवार को अनुसूचित जाति या जनजाति के रूप में चिह्नित किया गया है किन्तु इसके शासक वंशों तथा विशेषकर बारहवीं सदी के खरवार शासक प्रताप धवलदेव के पुत्र महानृपति साहस धवलदेव आदि के संस्कृत में ताम्र अभिलेख एवं अन्य प्रमाण इन्हें सूर्यवंशी क्षत्रियों की खड्गवंशी शाखा से सम्बन्धित सिद्ध करते हैं।

खरवार नरेश कन्नौज के शासक महाराज जयचन्द (जयचन्द्र) के छोटे भाई राजा माणिकचन्द (माणिक्यचन्द्र) के जागीरदार थे जिन्होंने बाद में खैरागढ़ में अपना राज्य स्थापित किया। वर्तमान झारखण्ड के रातू राज्य के नागवंशी महाराज प्रतापकर्ण जब धरवार, सन्ध्या एवं तमाड़ के विद्रोही राजाओं के द्वारा अपने ही खुखरागढ़ स्थित किले में बन्दी बना लिए गए थे तो खैरागढ़ से महाराज बाघदेव ने अपने भाई सिंहदेव के साथ सैन्य सहायता भेजकर मुक्त कराया और तमाड़ राजा के पुत्र कप्परदेव को मारकर महुदीगढ़ को ध्वस्त कर दिया। इस सहयोग के बदले महाराज प्रतापकर्ण से उन्होंने कर्णपुरा का आधिपत्य पाया जिसके अन्तर्गत उन्होंने उरदा में अपनी राजधानी स्थापित की। खरवार नारायण वंश के प्रधान राजशासकों की परम्परा निम्न है -

१) महाराज बाघदेव खरवार - 1368-1402 ई०
२) महाराज कीरत सिंह - 1402-1459 ई०
३) महाराज रामसिंह (प्रथम) - 1459-1537 ई०
४) महाराज माधव सिंह - 1537-1554 ई०
५) महाराज जगत सिंह - 1554-1601 ई०
६) महाराज हिम्मत सिंह - 1601-1661 ई०

इनके समय में नारायण राजवंश की राजधानी बादम में स्थापित की गयी थी।

७) महाराज रामसिंह (द्वितीय) - 1661-1667 ई०
८) महाराज दलेर सिंह - 1667-1724 ई०

इनके समय में नारायण राजवंश की राजधानी रामगढ़ में स्थापित की गयी थी।

९) महाराज विष्णु सिंह - 1724-1763 ई०

कहते हैं कि 1740 ई० में जब हिदायत अली खान ने रामगढ़ पर आक्रमण किया तो बची खुची प्रजा को लेकर ये कुछ समय के लिए वहाँ से दूर चले गए थे और विष्णुगढ़ की स्थापना की थी। विष्णुगढ़ में विवाहिता हुई मेरी बड़ी बुआ विमला देवी बताती हैं कि महाराज विष्णु सिंह को भगवती की प्रत्यक्ष सिद्धि थी और भगवती ने इन्हें एक तलवार दी थी जिसके बल पर इन्होंने मुगलों के आक्रमण से अपने राज्य की रक्षा की थी। बाद में धोखे से इनकी हत्या कर दी गयी एवं राजवंश के लोगों ने पुनः कुछ समय बाद रामगढ़ पर अधिकार स्थापित किया था।

१०) महाराज मुकुन्द सिंह - 1763-1772 ई०
इनके समय में अंग्रेजों ने रामगढ़ पर आक्रमण किया और महाराज अपने नवजात राजकुमार के साथ मृत्यु को प्राप्त हुए।

११) महाराज तेज सिंह बहादुर - 1772-1774 ई०

इन्हें अंग्रेजों ने 2 वर्ष के लिए रामगढ़ का सामन्त घोषित किया एवं इन्होंने नारायण राजवंश की राजधानी रामगढ़ से ईचाक में स्थानान्तरित की।

१२) महाराज पारसनाथ सिंह बहादुर - 1774-1784 ई०
१३) महाराज मणिनाथ सिंह बहादुर - 1784-1811 ई०
१४) महाराज सिद्धनाथ सिंह बहादुर - 1811-1835 ई०
१५) महाराज लक्ष्मीनाथ सिंह बहादुर - 1835-1841 ई०

१६) महाराज शम्भुनाथ सिंह बहादुर - 1841-1862 ई०
१७) महाराज रामनाथ सिंह बहादुर - 1862-1866 ई०
१८) महाराज त्रिलोकनाथ सिंह बहादुर - 1866-1866 ई०

ये अपने राज्याभिषेक के दो मास बाद ही स्वर्गवासी हो गए थे।

१९) महाराज नामनारायण सिंह बहादुर - 1866-1899 ई०

इनके समय में 1873 ई० में नारायण राजवंश की राजधानी पन्ना में स्थानान्तरित की गयी थी।

२०) महाराज रामनारायण सिंह बहादुर - 1899-1913 ई०
२१) महाराज लक्ष्मीनारायण सिंह बहादुर - 1913-1919 ई०
२२) महाराज कामाख्या नारायण सिंह बहादुर - 1919-1970 ई०

महाराज कामाख्या नारायण सिंह ने नेपाल राजवंश के महाराजकुमार सिंह शमशेर जंगबहादुर राणा की बड़ी पुत्री महारानी ललिता राज्यलक्ष्मी से विवाह किया था। इनका राज्याभिषेक 3 वर्ष की अवस्था में ही हो गया था एवं इन्होंने 25 वर्ष की अवस्था में ही भारत की शिक्षा एवं संस्कृति के उत्थान के लिए दस लाख रुपये दान किये थे। स्वतन्त्र भारत के सबसे बड़े भूदाता रहे। इन्होंने ढाई लाख एकड़ भूमि का दान किया था। दूसरे स्थान पर दरभंगा के महाराजाधिराज कामेश्वर सिंह, तीसरे स्थान पर रंका गढ़ के अधिपति महाराज गिरिवर प्रसाद सिंह, चौथे स्थान पर रातू गढ़ के महाराज चिन्तामणि नाथ शाहदेव एवं पांचवें स्थान पर चैनपुर नरेश राजा बृजदेव नारायण सिंह थे। राइट टू रिकॉल एवं सुपररिच टैक्स की धारणा को महाराजश्री ने ही जन्म दिया था। भारतीय चुनावों में हेलीकॉप्टर का प्रयोग करने वाले पहले राजा थे। इन्होंने प्रचार के मध्य ब्राह्मणों को दान की हुई भूमि पर हेलीकॉप्टर नहीं उतारा था। वल्लभभाई पटेल के अनुरोध पर 1946 ई० में ही भारत में अपने राज्य के विलय की घोषणा करने वाले पहले शासक थे।

पद्मा राजदरबार के द्वारा गया के शाक्त साधक एवं शाकद्वीपीय ब्राह्मण कौण्डिन्य गोत्र - खण्टवार पुर के श्री भैयाराम जी एवं उनके पुत्र जयजयराम, महादेवराम आदि को "गुरु" उपाधि दी गयी थी। गुरु उपाधि के पहले प्रधानता से दास-गुरु या इन्द्र-गुरु लगाया जाता है। अधुना आनन्द-गुरु, कान्त-गुरु अथवा सामान्यतः गुरु भी लगाए जा रहे हैं। पद्मा राजदरबार के द्वारा हमारे पूर्वजों को जमींदारी दान की गयी थी। भैयाराम गुरु के ज्येष्ठ पुत्र जयजयराम गुरु की ज्येष्ठ परम्परा में आगे रंगलालदास गुरु हुए जिनके ज्येष्ठ पुत्र रघुनाथदास गुरु, उनके कनिष्ठ पुत्र श्रीप्रसाददास गुरु, उनके ज्येष्ठ पुत्र आचार्यश्री शंकरदास गुरु एवं उनका ज्येष्ठ पुत्र मैं श्रीभागवतानंद गुरु हूँ।

तीन वर्ष पूर्व मेरे पास एक व्यक्ति आये थे, साठ लाख मांग रहे थे और कहा कि रामानंद सम्प्रदाय से जगद्गुरु घोषित करवा देते हैं आपको। मैं अखाड़ों और मठों की क्षमता या सही शब्दों में कहूँ तो 'औकात' से बहुत अच्छे से अवगत हूँ, हमें मत सिखाइए ये सब। मठ क्या होता है ? क्यों होता है ?

मकारः कल्मषः प्रोक्तः ठकारस्तन्निवारकम्। कल्मषप्रतिहन्तृत्वान्मठमित्यभिधीयते॥
(चिन्त्यागम, मठप्रतिष्ठाविधि)

कल्मष, पाप, अज्ञान का नाश करने वाला संस्थान मठ है, ऐसा शैवागमों का वचन है। किन्तु आज क्या हो रहा है ? कौन सा मठ सरकार से अनुदान लेने के लिये किसकी चापलूसी करता है, कोरोना के नाम पर फंड जमा करके कहाँ खर्च करता है, ये सब उजागर करने पर हमें विवश न करें। मठ-मन्दिरों के प्रति जनता की जो थोड़ी बहुत आस्था बची है, उसे क्यों नीलाम करवा रहे हैं आप ?

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

यहाँ इतना कहना मैं पर्याप्त मानता हूँ कि महर्षि वाल्मीकि श्रीराममन्त्र की व्याख्या कर रहे हैं, क्योंकि प्रायः ग्रन्थकार का नियम होता है कि वह किसी न किसी मन्त्र की व्याख्या के आधार पर किसी न किसी ग्रन्थ का प्रणयन करता है। जैसे श्रीमद्भागवतम् में ॐ नमो

भगवते वासुदेवाय मन्त्र के आधार पर बारह स्कन्ध लिखे गये, उसी प्रकार राममन्त्र के छः अक्षरों के आधार पर श्रीमद्रामायणम् प्रस्तुत किया गया।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

यदि यह अनिवार्य नियम है कि 'ग्रन्थकार किसी न किसी मन्त्र की व्याख्या के आधार पर किसी न किसी ग्रन्थ का प्रणयन करता है', तो विलक्षण ज्ञान आपको मिला कहाँ से ? साथ ही श्रीमद्भागवत में द्वादशाक्षर मन्त्र के ही आधार पर बारह स्कन्ध क्यों लिखा ? अष्टाक्षर मन्त्र में क्या जंग लग गया था जो आठ स्कन्ध नहीं लिखे ? अथवा द्वापरयुग में प्रधान मन्त्र - 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' के आधार पर स्कन्ध लिख देते। द्वादशाक्षर के ही आधार पर क्यों लिखे ? और चलो, मान लिया कि किसी एक मन्त्र को चुनना था तो उन्होंने द्वादशाक्षर चुना। तो फिर श्रीमद्देवीभागवत में उन्होंने बारह स्कन्ध क्यों लिख दिए ? वहाँ तो नवार्णमन्त्र के आधार पर नौ स्कन्ध ही लिखने चाहिए थे। अच्छा, फिर शिवपुराण में शिवपञ्चाक्षर के अनुसार पांच संहिता ही लिखनी थी, और विष्णुपुराण में उन्हें द्वादशाक्षर या अष्टाक्षर के आधार पर बारह या आठ अंश लिखने थे। ये कैसा नियम है कि एक स्थान पर ऐसा होगा और बाकी कहीं नहीं होगा ? और रही बार यह मानने की कि षडक्षर मन्त्रराज के आधार पर छः काण्ड ही लिखे तो हम यह क्यों न माने कि जैसे द्वादशाक्षर मन्त्र प्रणवयुक्त है, वैसे ही 'रां रामाय नमः' से पूर्व भी उन्होंने प्रणव लगाकर उसे सप्ताक्षर करके सात काण्ड लिखे ? हम यह बात इसीलिए कह रहे हैं कि जैसे नमः शिवाय (पञ्चाक्षर) में प्रणव लगाने से वह षडक्षर बन जाता है वैसे यह रां रामाय नमः मन्त्र आदि या अन्त में प्रणव लगा देने से सप्ताक्षर बन जाता है, श्रुतिप्रमाण देखें -

रामसप्ताक्षरो मन्त्र आद्यन्ते तारसंयुतः।
(श्रीरामरहस्योपनिषत्)

और भी देखें, जहाँ अधिकारी को प्रणव लगाकर षडक्षर जपने को कहा गया है -

मुमुक्षूणां विरक्तानां तथा चाश्रमवासिनाम्।
प्रणवत्वात्सदा ध्येयो यतीनाञ्च विशेषतः॥
(श्रीरामरहस्योपनिषत्)

इस प्रकार आपके षडक्षर तर्क को मानने पर भी प्रणवयोजित होने से वह सप्ताक्षर बनकर महर्षि वाल्मीकि के द्वारा सप्तकाण्डों वाली रामायण की रचना का ही निमित्त बन जायेगा।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

गोस्वामी जी ने सात काण्ड जो प्रस्तुत किये हैं, वहाँ उन्होंने काण्ड का नाम लिखा ही नहीं है। खण्डक महोदय को गोस्वामीजी के श्रीरामचरितमानस जी का भी अध्ययन कर लेना चाहिए। वहाँ उन्होंने सोपान लिखे हैं और प्रत्येक सोपान का कोई न कोई नाम लिखा है।

यह शुभ शंभु उमा संवादा। सुख संपादन शमन बिषादा॥
भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥
राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन के कछु नाहीं॥
(मा ० ७ / १३० / १-३)

गोस्वामी तुलसीदासजीने प्रत्येक सोपानका नाम लिखा है - (१) सुख संपादन - सुखसम्पादनं नाम प्रथम सोपानम्, (२) शमन बिषादा - बिषादशमनं नाम द्वितीय सोपानम्, (३) भव भंजन - भवभञ्जन नाम तृतीयं सोपानम्, (४) गंजन संदेहा - सन्देहगञ्जनं नाम चतुर्थ सोपानम्, (५) जनरंजन - जनरञ्जननाम पञ्चमं सोपानम्, (६) सज्जन प्रिय - सज्जनप्रियं नाम षष्ठं सोपानम्, (७) राम उपासक - रामोपासकं नाम सप्तमं सोपानम्। इस प्रकार (१) सुखसम्पादनम् - बालकाण्ड , (२) विषादशमनम् अयोध्याकाण्ड, (३) भवभञ्जनम् - अरण्यकाण्ड, (४) सन्देहगञ्जनम् - किष्किन्धाकाण्ड, (५) जनरञ्जनम् - सुन्दरकाण्ड, (६) सज्जनप्रियम् - युद्धकाण्ड , (७) रामोपासकप्रियम् - सप्तम सोपान । गोस्वामीजीने प्रतिज्ञामें भी कहा है -

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥
(मा ० १/३७/१)
उत्तरकाण्डमें भी रहते हैं -
एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पन्थाना॥
(मा ० ७/१२९/३)

उन्होंने सोपान लिखा है, काण्डों का नाम नहीं लिया है। फलतः महर्षिवाल्मीकि के श्रीमद्रामायणम् में मात्र छह काण्ड हैं। सबसे गुणात्मक पक्ष यह है कि दाक्षिणात्यों ने जो वाल्मीकीय रामायणकी नवाह पारायणकी विधि प्रस्तुत की है , उसमें भी सबसे प्रामाणिक नवाह पारायणकी विधि, जो ध्वनिबद्ध भी है घनान्ती जी की, उसमें युद्धकाण्डपर्यन्त ही नवाह पारायणकी विधि कही गयी है , उत्तरकाण्डकी नहीं। इससे भी सिद्ध होता है कि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

आपने लम्बी चौड़ी बात यह सिद्ध करने में लगायी कि गोस्वामीजी ने काण्ड का नाम लिखा ही नहीं है। उसके बाद आपने सभी सोपानों के नाम लिखने के बाद स्वयं ही 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना' वाली चौपाई से पहले लिखा - 'उत्तरकाण्ड में भी रहते हैं' ? (टंकण दोष होगा, रहते शब्द के स्थान पर कहते शब्द होगा)

तो एक ओर आपने स्वयं ही सिद्ध करना चाहा कि गोस्वामीजी ने काण्ड के नाम नहीं लिखे किन्तु आप स्वयं सन्दर्भ देते समय उत्तरकाण्ड शब्द का प्रयोग करने लगते हैं। मुझे तो आप अध्याय और सर्ग का भेद न जानने वाला कह देते हैं, इस विषय में आपको मैं क्या कहूँ ? अस्तु, गोस्वामीजी ने 'सप्त प्रबन्ध' शब्द लिखा है, उसी का तात्पर्य सात काण्ड से है। वर्गश्च एकजातीयसमवायः काण्डः काव्यादिग्रथनं प्रबन्धः। इस प्रकार यहाँ प्रबन्ध शब्द से काण्ड का ही लक्षण ग्राह्य करना चाहिए। दूसरी बात आपने जो नवाह पारायण

की विधि कही, उसमें मैं बताना चाहूंगा कि हो सकता है अमुक विद्वान् की परम्परा में यह बात होगी, तो सकाम भेद से उतने अंश का पाठ ही प्रयोग में मान्य है। जैसा कि सप्तशती पाठ की रहस्यविधि में भी वर्णन है -

एकेन वा मध्यमेन नैकेनेतरयोरिह। चरितार्धं तु न जपेज्जपञ्छिद्रमवाप्नुयात्॥

तो सकामबुद्धि के प्रयोगों में ऐसा देखने को मिलता है कि अमुक अंश का पाठ करे या फिर न करे। कई बार तो निष्काम विधि में भी पाठक्रमभेद मिल जाते हैं। जैसा कि पण्डित आत्मदेव ने श्रीकृष्ण को प्राप्त करने हेतु श्रीमद्भागवत के मात्र दशम स्कन्ध का ही आश्रय लिया -

युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्ययासौ, श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात्॥

इससे यह थोड़े ही सिद्ध हो जाता है कि शेषभाग प्रक्षिप्त हो गये। अग्निपुराण में श्रीरामायण के प्रत्येक काण्ड के लिए सात अलग अलग अध्याय निश्चित हैं, सातों काण्डों के निमित्त। बृहद्धर्मपुराण में उत्तरकाण्ड के सकाम पाठ और फलश्रुति का भी वर्णन है। साथ ही ब्रह्मदेव ने बृहद्धर्मपुराण के रामायण कवच के अन्त में स्पष्ट कहा है - रामायणं कुरु सप्तकाण्डम्। सात काण्डों वाली रामायण की रचना करो। अतः इससे भी सिद्ध होता है कि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त 'नहीं' है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

और कथावस्तु देखी जाए, तो क्या कहना ! उसकी कोई कथावस्तु ही नहीं है। सब कथाएँ वाल्मीकीय रामायणमें कहीं गयीं। उसीका पिष्टपेषण है। श्लोकों में भी देखा जाए, तो कहीं २८ श्लोक, कहीं २० श्लोक, कहीं २५ श्लोक। साथ ही जो भाषा विगत छह काण्डों में है वह भाषा उत्तरकाण्डमें है ही नहीं। और जैसाकि हम पूर्व में कह चुके हैं कि ब्रह्माजीने वाल्मीकिजीको आदेश दिया है -

धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः। वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्॥
(वा ० रा ० १ / २ / ३२- ३२-२.५)

अर्थात् उसी प्रकार भगवान्, श्रीमान्, धर्मात्मा, प्रभु श्रीरामके चरित्रका श्लोकबद्ध वर्णन करो। और वो कैसे ? यथा ते नारदाच्छ्रुतम् अर्थात् जैसे तुमने नारदसे सुना है। सौभाग्य और संयोग यह है कि वाल्मीकीय रामायणके बालकाण्डके प्रथम सर्ग, जिसे हम मूल रामायण कहते हैं, उसमें सीता - वनवासकी किसी प्रकार की चर्चा नहीं है। खण्डक महोदयने एक पूर्वपक्ष उठाया कि तब तो बालकाण्डकी भी चर्चा नहीं है। मैं विनम्र निवेदन करता हूँ कि महोदय ! आपको पढ़ना चाहिए। बालकाण्डके लिए टीकाकारों ने सङ्केत किया है, जैसे भगवान् के ६७ गुणों की चर्चा मूल रामायण में आयी है -

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः। आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः। रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता। वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः। आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥
(वा ० रा ० १ / १ / ८-१६)

इस प्रकार भगवान् के ६७ गुणोंकी चर्चा करके अब बालकाण्डका सङ्केत करते हैं -

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः। समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमावानिव॥
(वा ० रा ० १/१/१७)

स च सर्वगुणोपेतः - रामजी सर्वगुणोपेत हैं। माँका क्या नाम है ?
कौसल्यानन्दवर्धनः- ये कौसल्याजीका आनन्द बढ़ा रहे हैं। गम्भीर इतने कि समुद्र एव गाम्भीर्ये- इसलिए बाल्यकालमें कोई चञ्चलता नहीं की। धैर्येण हिमवानिव - धैर्यमें रामचन्द्रजी हिमालयके समान हैं, इसलिए विश्वामित्रके प्रसङ्गमें पितासे बिछुड़ते समय भी रामजीने धैर्य नहीं छोड़ा।

विष्णुनासदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः॥ कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः॥
(वा ० रा ० १/१/१८)

विष्णुना असदृशो वीर्ये - पराक्रम में विष्णु भी उनके समान नहीं हैं, इसलिए शिवधनुषको तोड़ा। बालकाण्ड ! सोमवत्प्रियदर्शनः - उनका दर्शन सोमवान् शिवजीको भी प्रिय है, इसलिए धनुष तोड़ने पर उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। सोमवत् प्रियदर्शनं यस्य। कालाग्निसदृशः क्रोधे - क्रोधमें भगवान् राम कालाग्निके समान हैं, इसीलिए परशुरामजी की कटूक्तियों पर उनको क्रोध नहीं आया। क्षमया पृथिवीसमः- क्षमामें भगवान् राम पृथ्वीके समान हैं। परशुराम के सारे अहङ्कारों को दूर कर दिया।

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः। तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्॥
(वा ० रा ० १ / १ / १९)

धनदेन समस्त्यागे - त्यागमें भगवान् राम धनद कुबेरके समान हैं। सत्ये धर्म इवापरः - भगवान् राम सत्यमें अपरधर्म ही हैं, बालकाण्डकी कथा तो रामायणमें सङ्केतित है। आप कह सकते हैं कि बालकाण्ड में अहल्या की कथा मूलरामायण में कहाँ सङ्केतित है ? इसका मैं बहुत विनम्रता से उत्तर दे रहा हूँ। मूल रामायणका दसवाँ श्लोक पढ़िये

महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः। आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥
(वा ० रा ० १/१/२०)

महोरस्को- भगवान् रामका वक्षःस्थल महान है, महेष्वासो - भगवान् का धनुष महान है, इसलिए शैव - धनुषको तोड़ा। गूढजत्रुः - भगवान् राम गूढ़जत्रु हैं, उनकी हड्डियाँ नहीं दिखतीं। अरिन्दमः - भगवान् राम शत्रुओंका दमन करते हैं। मारीच, सुबाहु, ताटकाका दमन किया। आजानुबाहुः - भगवान् राम की लम्बी - लम्बी भुजाएँ हैं, सुशिराः - उनका सिर बहुत सुन्दर है, सुललाटः - उनका मस्तक भी बहुत अद्भुत है, सुविक्रमः - प्रभुके चरणकी गति बहुत मनोहर है, इसलिए तो भगवान् के चरणका स्पर्श करते ही अहल्या जैसी पतित महिला का उद्धार हो गया। इस प्रकार जिस उत्साहसे महर्षि वाल्मीकि ने बालकाण्डका व्यञ्जनवृत्या सङ्केत किया, उस उत्साह से मूलरामायण के अन्तिम भागमें सीताजी के वनवासका कहीं सङ्केत भी नहीं आया।

लोग कहते हैं कि धोबी अपनी पत्नीको डाँट रहा था- "तुम मेरे बिना पूछे दूसरेके घर कैसे चली गयी ? मैं तुम्हें नहीं स्वीकारूंगा , स्त्रीलोभी रामजी भले सीताजीको स्वीकारें।" पर यह केवल वितण्डावाद है। वाल्मीकीय रामायणके बालकाण्डके प्रथम सर्गके ९१ वें श्लोकमें ही दोनों प्रश्नों का प्रत्याख्यान हुआ है -

न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः॥
(वा ० रा ० १ / १ / ९१)

अर्थात् रामराज्यमें कहीं भी कोई भी पुरुष पुत्रका मरण नहीं देखेंगे। जब पुत्रके मरणकी बात देखने में ही नहीं आती, तो ब्राह्मण मरे हुए शवको अयोध्याके द्वारपर कैसे ले आया? न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् - इस वाक्य से शम्बूक - वध की कथा का निरसन हो जाता है। नार्यश्चाविधवा नित्यम् - रामराज्यमें कोई नारी विधवा नहीं होगी। इसीलिए तो दशरथजी रावण - वध के पश्चात् लङ्कामें आये और लङ्कामें आये तो सिद्ध हो गया - माताओं ! आप विधवा नहीं हैं, आपके पति अभी भी इन्द्रलोकमें विराज रहे हैं। कैकेयीकी कटूक्तिके कारण भारतमें नहीं आते। आप विधवा नहीं हैं। भविष्यन्ति पतिव्रताः - नारी यहाँ पतिव्रता होंगी। तो जब प्रत्येक नारी पतिव्रता होगी ही , तो धोबीकी पत्नी उससे बिना पूछे दूसरेके घर में कैसे चली गयी ? नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः - इसी वाक्यखण्डसे धोबीके प्रसङ्गका अपने - आप निरसन हो जाता है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

आपको वाल्मीकीय रामायण में कोई कथावस्तु मिलती ही नहीं है और जो कुछ है, सब पहले का ही पिष्टपेषण है ? अद्भुत। फिर आप जो रामागस्त्य संवाद, सीतात्याग, लवणासुर वध, शम्बूक वध, रामाश्वमेध की स्वर्णसीता, काललक्ष्मण संवाद आदि सभी विषयों को नकारते हैं, तो या तो ये सभी कथाएं पहले का ही पिष्टपेषण होने से मान्य हो जाएंगी और यदि आपको ये कथाएं पहले के काण्डों में नहीं मिलती हैं (जो कि हैं भी नहीं), तो आपकी यह बात निरस्त हो जायेगी कि उत्तरकाण्ड की कोई कथावस्तु है ही नहीं।

श्लोकसङ्ख्या से आपको क्या मतलब है ? क्या कोई ऐसा नियम है कि ग्रन्थ के सभी सर्गों के श्लोक समान अनुपात या मात्रा वाले हों ? ये तो ग्रन्थकार की इच्छा है कि वो कितने श्लोकों में कौन सा सर्ग लिखता है और कहाँ उसे श्लोक न लिखकर गद्यात्मक लिख देना है, श्रीमद्भागवत के पञ्चम स्कन्ध के समान। और आपको उत्तरकाण्ड की भाषा में क्या विसंगति दिख गयी ? क्या उसमें संस्कृत छोड़कर लैटिन और फ्रेंच लिख दिया गया,

अथवा क-ख-ग-घ के स्थान पर अलिफ़-बे-पे मिल गया आपको ? जो संस्कृत भाषा और अनुष्टुप्छन्दादि पहले हैं, सो इसमें भी हैं।

अब आपका जो प्रलाप है कि श्लोक सङ्ख्या में कहीं २० श्लोक हैं तो कहीं २५ श्लोक, तो मैं यथासम्भव विनम्रता के साथ यह कहूंगा कि आपको बालकाण्ड का ही ढंग से अध्ययन करना चाहिए। उदाहरणस्वरूप उसके प्रारम्भिक बारह सर्गों को ही ले लीजिए। (गीताप्रेस संस्करण) प्रथम सर्ग - १०० श्लोक, द्वितीय सर्ग - ४३ श्लोक, तृतीय सर्ग - ३९ श्लोक, चतुर्थ सर्ग - ३६ श्लोक, पञ्चम सर्ग - २३ श्लोक, षष्ठ सर्ग - २८ श्लोक, सप्तम सर्ग - २४ श्लोक, अष्टम सर्ग - २४ श्लोक, नवम सर्ग - २० श्लोक, दशम सर्ग - ३३ श्लोक, एकादश सर्ग - ३१ श्लोक, द्वादश सर्ग - २२ श्लोक। इस प्रकार से बालकाण्ड के ही प्रारम्भ बारह सर्गों में सौ श्लोक वाले सर्ग भी हैं तो बीस श्लोक वाले भी। अतः श्लोकसङ्ख्या के आधार प्रक्षिप्त का निर्णय करना भी घोर अज्ञानता का परिचायक है।

अब आते हैं आपके अगले कुतर्क पर। दुग्ध की मदिरा बनाने के समान श्रीरामजी के बड़े सुन्दर गुणों की बड़ी विकृत चर्चा आपकी लेखनी ने की। कौशल्यानन्दवर्द्धन शब्दमात्र से आपने घोषित कर दिया कि देखो देखो, बालकाण्ड की चर्चा है, कौशल्या जी का आनन्द बढ़ा रहे हैं। और अगले ही वाक्य में आप समुद्र इव गाम्भीर्ये का अर्थ करते हुए कहते हैं कि भगवान् ने बाल्यकाल में कोई चञ्चलता नहीं की। ये तो विचित्र बात कर दी आपने। कौन सी ऐसी माता है जिसका बालक अपनी बालसुलभ चञ्चलता को छोड़कर गम्भीर हो जाए और उसकी माता का आनन्द इससे बढ़ने लगे ?

अजी, इसी बाललीला को देखने तो शिवजी और काकभुशुण्डि जी रूप बदल बदल कर आते हैं, बार बार भगवान् के साथ खेलते हैं। इसी बाललीला के सुख हेतु द्रोण और धरा नन्द-यशोदा बनकर आए और आपका अद्भुत ज्ञान कहता है कि बाल्यकाल में भगवान् ने कोई चञ्चलता नहीं की और कौशल्या जी के आनन्द को भी बढ़ाया। हे तुलसीपीठाधीश्वर ! कम से कम आपने तुलसीदास जी की वाणी ही पढ़ ली होती कि भगवान् कितने मधुरतम चाञ्चल्य के साथ बाललीला करते हुए कौशल्या आदि के आनन्द को बढ़ाते हैं -

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमकु ठुमकु प्रभु चलहिं पराई॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥
धूरस धूरि भरें तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए॥
भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा - २०३)

अब आपके अगले बिन्दु का समाधान करते हैं। वाल्मीकि जी ने लिखा है - 'विष्णुना सदृशो वीर्ये', भगवान् श्रीराम पराक्रम में विष्णु के समान हैं। और आप सर्वथा उल्टा अर्थ करके दीर्घसन्धिपूर्वक लिखते हैं - 'विष्णुनासदृशो वीर्ये', असदृशो, पराक्रम में विष्णु भी उनके समान नहीं हैं। महोदय ! आपको इतना तो बोध होना ही चाहिए कि इस प्रकार श्लोकों में किसी की प्रशंसा हेतु उसकी तुलना अन्य तत्त्व के गुणों से करते हैं। प्रसङ्ग में भगवान् श्रीराम के दिव्य गुणों की अन्य तत्त्वों से समतुल्यता दिखाने का विषय है जो अन्य श्लोकों से भी स्पष्ट है। फिर आप लिखते हैं, सोमवत्प्रियदर्शनः, और इसका अर्थ आप करते हैं - उनका दर्शन सोमवान् शिवजी को भी प्रिय है, इसीलिए धनुष तोड़ने पर उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ।

महोदय ! मुझे आपके व्याकरणज्ञान पर हंसी आती है। यहाँ मतुप् वाला सोमवान् शब्द नहीं है, कि आपने सोम शब्द में तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (पाणिनीय अष्टाध्यायी, पञ्चम अध्याय, द्वितीय पाद, सूत्र - ९४) लगाकर मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (पाणिनीय अष्टाध्यायी, अष्टम अध्याय, द्वितीय पाद, सूत्र - ०९) से उसके मकार को वकार कर दिया और अर्थ कर दिया - चन्द्रमा को धारण करने वाले शिव। सही अर्थ है, सोम (चन्द्रमा) के समान प्रियदर्शन है जिसका, वह सोमवत्प्रियदर्शनः है। जैसे चन्द्रमा के दर्शन से व्यक्ति आह्लादित होता है, वैसे ही भगवान् के दर्शन से आह्लाद होता है। यहाँ सोमेन तुल्यमस्ति

सोमवत्, 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः ।' (पाणिनीय अष्टाध्यायी, पञ्चम अध्याय, प्रथम पाद, सूत्र - ११५) वाला सोमवत् शब्द है। वतिप्रत्ययाधिकरण का अवलोकन करें। मैंने आपके जितना व्याकरण नहीं पढ़ा है किन्तु इतना सामान्यतम ज्ञान मुझे भी है। चूड़ान्त व्याकरण पढ़ने का दावा करने वाले आपने क्या सूत्रों की कोई तमोबुद्धि वाली पैशाची टीका पढ़ रखी है जो प्रत्येक शब्द और श्लोक का सर्वथा विपरीत अर्थ लगाकर समाज को भ्रमित करते हैं - सर्वार्थान्विपरीतांश्च ?

इसके आगे चर्चा करते हैं सुविक्रम शब्द की। कितनी चतुरता से आपने सुविक्रम शब्द का अर्थ अपने मन से कल्पना करके लगा दिया कि प्रभु के चरणों की गति मनोहर है जिससे अहल्या का उद्धार हो गया। मुझे तो लगता है कि आप रामानन्द सम्प्रदाय के नहीं, भानुमती सम्प्रदाय के हैं। तभी तो कहीं का ईंट रोड़ा जोड़कर समाज को इतने वर्षों से मूर्ख बना रहे हैं और लोग आपकी स्वकल्पित विद्वत्ता के पीछे लोटे जा रहे हैं। सुविक्रम का अर्थ यदि आपको नहीं पता तो किसी विद्वान् से पूछना चाहिए, अपने मन से कुछ भी नहीं अर्थ कर देना चाहिए। सुविक्रम का अर्थ है जिसका बल, पराक्रम बहुत उच्चस्तरीय हो। सुविक्रम शब्द का लक्षण तब दिखता है जब श्रीरामजी धनुषभंग करते हैं, अकेले ही पञ्चवटी में चौदह सहस्र राक्षसों को मार देते हैं, दुन्दुभि की अस्थि का प्रक्षेपण करते हैं, वालि का संहार करते हैं, आदि आदि। और आपने क्या किया ? जापान की बात अमेरिका ले जाकर उसे रूस सिद्ध कर दिया कि सुविक्रम शब्द का अर्थ अहल्या का उद्धार है, इसीलिए बालकाण्ड का वर्णन मूल रामायण में है। कुछ भी ? मतलब कुछ भी ?

अब देखिए कि उत्तरकाण्ड के प्रसङ्ग का वर्णन आपके ही द्वारा प्रस्तुत किए गये भगवान् के किस गुण में मिलता है। धर्मज्ञः - धर्म को जानते हैं, अतः राजधर्म क्या है, इसका बोध उन्हें है। प्रजानां च हिते रतः एवं रक्षिता जीवलोकस्य - प्रजा के हित की रक्षा करने वाले हैं, जीवों की रक्षा करते हैं, अतएव शम्बूक का वध करके प्रजा की अकालमृत्यु से रक्षा की। स्मृतिमान् - अच्छी स्मृति वाले हैं, इसीलिए उन्हें ज्ञात है कि सीताजी को पक्षियों के द्वारा गर्भावस्था में पतिवियोग का श्राप मिला है, उसे सार्थक करना है। सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः - सभी शास्त्रों के अर्थ को तत्त्वतः जानते हैं, अतएव अश्वमेध यज्ञ में

स्वर्णमयी सीता का प्रयोग करके प्रतिनिधिविधान का पालन करके एकपत्नीव्रत की रक्षा करते हैं। समः एवं सर्वसमः - समदर्शी हैं, अतः दरबार में आये कुत्ते तक को यथेच्छ न्याय प्रदान करते हैं। इस प्रकार से आपके द्वारा प्रस्तुत किए गये मूलरामायणोक्त सद्गुणों की संगति मैंने उत्तरकाण्ड के साथ सिद्ध कर दी, वह भी आपके सुविक्रमः और सोमवत्प्रियदर्शनः के समान विकृत व्याख्या किए बिना।

अब धोबी वाले प्रसङ्ग की चर्चा करते हैं। वितण्डावाद का आपको अर्थ भी ज्ञात है, ऐसा मुझे नहीं लगता क्योंकि आप आजीवन वही तो करते आये हैं। आप जो पिता के द्वारा पुत्रमरण न देखने की बात कर रहे हैं, उसका बहुत विस्तृत समाधान मैं अपनी पूर्व पुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' में पहले ही कर चुका हूँ, पाठक वहाँ से प्रमाण ग्रहण कर सकते हैं। ऐसे तो श्रीरामजी के ही पूर्वज राजा सगर के राज्य के विषय में भी यही बात कहते हैं कि बच्चे नहीं मरते थे -

न सति स्थविरे बालं मृत्युरभ्युपगच्छति। सर्ववर्णेषु भूपाले महीं तस्मिन्प्रशासति॥
(ब्रह्माण्डपुराण, मध्यभाग, अध्याय - ५०, श्लोक - ०४)

किन्तु उन्हीं राजा सगर के साठ हज़ार पुत्र सगर के जीते जी ही अकालमृत्यु को प्राप्त हुए। स्वयं सगर के पुत्र असमञ्जस ने ही कितने बच्चों को मार डाला था। तो क्या यह श्लोक प्रक्षिप्त हो गया ? नहीं। ऐसे प्रसंगों में अर्थ होता है कि सामान्यतः जब तक कोई बाहरी संकट न हो, ऐसे ही कोई नहीं मर जाता था, सामान्यतः अकालमृत्यु नहीं होती थी। कोई मार दे तो फिर अलग बात है। तो ऐसे ही सामान्यतः बच्चे रामराज्य में नहीं मरते थे किन्तु शम्बूक की आसुरी तपस्या से मरने लगे तो भगवान् ने उसका निवारण किया।

यदि सामान्यतः भी बच्चे मरते तो शम्बूक की तपस्या के अभिचार से बच्चों के मरने पर किसी को सन्देह नहीं होता। चूंकि सामान्यतः नहीं मरते थे इसीलिए तो सबको चिन्ता हुई कि अवश्य इसके पीछे कोई कारण है, क्योंकि ऐसा होना तो नहीं चाहिए।

अनेकानेक प्रमाणों और ग्रन्थ सन्दर्भों को मैं पहले ही बता चुका हूँ, उन सबकी उपेक्षा करके मात्र न पुत्रमरणं के श्लोक का मनमाना अर्थ लगाकर, इस आधार पर शम्बूक वध को अमान्य मानने वाले श्रीरामभद्राचार्य का प्रक्षिप्तवाद -

अनागतञ्च यत्किञ्चिद्रामस्य वसुधातले। तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः॥
(वाल्मीकीय रामायण, सर्ग - ०३, अन्तिम श्लोक)

एवं षट्काण्डानि तथोत्तरम् से भी निरस्त हो जाता है, इस बात पर इनका ध्यान क्यों नहीं जाता ? अब विधवा वाले विषय पर आते हैं। लोकोत्तर ज्ञानी श्रीरामभद्राचार्य कहते हैं कि - माताओं ! आप विधवा नहीं हैं। अब जरा देखें कि स्वयं वाल्मीकि जी ने क्या लिखा है। भरत जी कहते हैं -

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता। पतिष्यति महाघोरे निरये जननी मम॥
तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्त्तुमर्हसि। अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव॥
इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः। त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्त्तुमर्हसि॥
(वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग - १०४, श्लोक - ०७-०९)

भरत जी कहते हैं - मेरी यह शोक से व्याकुल 'विधवा' माता (कैकयी) राज्योपभोग को न प्राप्त करके घोर नरक में गिरेगी। मैं आपका दास बनकर आया हूँ, मुझपर कृपा करें। आप आज ही इन्द्र के समान अपना राज्याभिषेक करायें। ये सब प्रकृति (मन्त्री, सेना, प्रजा आदि) और ये सब जो 'विधवा' माताएं हैं, ये आपके पास आए हैं, आप इनपर कृपा करें।

अब पाठक स्वयं निर्णय करें कि श्रीरामभद्राचार्य जी अपने अहङ्कार को पुष्ट करने हेतु कितनी बार शास्त्रों के सत्य वाक्यों के साथ मनमाना छेड़छाड़ करेंगे ? जिन रानियों के पति पुत्रशोक में तड़प तड़प कर मर गये, पुत्र आदि जिनके पति राजा दशरथजी का श्राद्ध तर्पण कर रहे हैं, सारी प्रजा शोकाकुल है, उन्हें ये कह रहे हैं कि आप 'विधवा' नहीं हैं क्योंकि राजा दशरथ इन्द्रलोक में हैं। महोदय ! ऐसे तो फिर आत्मा के अमर होने से कोई कभी

नहीं मरता। न जायते म्रियते वा कदाचित् (श्रीमद्भगवद्गीता, दूसरा अध्याय) प्रत्येक जीव किसी न किसी योनि और देह से किसी न किसी लोक में सदैव रहता ही है तो फिर कोई कभी विधवा/विधुर होगा ही नहीं। वाल्मीकि जी ने स्वयं जो लिखा, उसे भी ये स्वयम्भू जगद्गुरु नकार रहे हैं। धोबी की पत्नी के पातिव्रत्य की बात रही तो उसका पातिव्रत्य खण्डित नहीं हुआ था। उसकी चरित्रहीनता का कोई वर्णन नहीं मिलता। इस शास्त्रार्थ में पूर्वकाल में मैं पद्मपुराणोक्त प्रमाण से बता चुका हूँ कि वह धोबी पिछले जन्म में पक्षी था जिसने सीताजी को अपने अपकार का बदला लेने के लिए शाप दिया था कि मैं गर्भावस्था में तेरे पति से वियोग कराऊंगा। बस इसी को सार्थक करने हेतु अपनी पत्नी के निर्दोष होने पर भी उसने जानबूझकर ऐसी लोकापवादपरक बातें कहीं जिससे सीतात्याग सम्भव हो सके। अतः भविष्यन्ति पतिव्रताः की बात का कोई विरोधाभास नहीं है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

सीताजीकी कभी निन्दा हुई ही नहीं ! स्वयं श्रीरामचरितमानसमें मानसकार कहते हैं -

उमा रमा ब्रह्मानि बंदिता। जगदम्बा संततमनिंदिता॥
(मा ०७ / २४ / ९)

सीताजी सदैव अनिन्दिता हैं। सीताजीकी किसीने निन्दा की ही नहीं। रामजीकी निन्दा की जा सकती है, रावणने भी रामजीकी निन्दा की -

जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा । क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥
(मा ० ६/३२ / १)

रामजीकी निन्दा तो हुई, पर राजराजेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, कीर्तिविजित, निलिम्पनिर्झरी, ज्ञानगुम्फितचेतस्वति भास्वतीतत्रभवतीभगवती, वासुन्धरेयी, जनकनन्दिनी जानकीजीकी किसी ने कभी निन्दा की ही नहीं। क्योंकि वाल्मीकि के नवावतार गोस्वामी तुलसीदास जी का वचन है- जगदम्बा सन्ततमनिन्दिता (मानस ७/२४/९) अर्थात्

वाल्मीकि साक्षात् परमात्माके विग्रह स्वरूप हैं। जब वे कह रहे हैं कि सीताजीकी कहीं निन्दा नहीं हुई, फिर धोबी निन्दा करेगा कैसे? जब सीताजी अग्रिमें प्रवेश कर रही थीं, तो सीताजीको सबने अग्रिमें प्रवेश करते हुए देखा। वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्डके ११६ वें सर्ग में स्वयं सीताजी प्रतिज्ञापूर्वक कहती हैं -

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
(वा ० रा ०६ / २१६ / २५)

यदि मेरा हृदय एक क्षणके लिए भी श्रीराम से अलग नहीं हो रहा हो, तो सम्पूर्ण लोकों के साक्षी अग्नि मेरी रक्षा करें।" इस प्रकार के निःशङ्क मनसे जगज्जननी सीताजी अग्रिमें प्रवेश कर रही हैं। यहाँ महर्षिने स्पष्ट कहा कि सीताजीको अग्रिमें प्रवेश करते हुए किस - किसने देखा। यहाँ वाल्मीकिजीने सीताजीको चार रूपों में देखा -

ददृशुस्तां विशालाक्षीं पतन्तीं हव्यवाहनम्।
सीतां सर्वाणि रूपाणि रुक्मवेदिनिभां तदा॥
(वा ० रा ० ६/११६/३२)

उस समय स्वर्णकी वेदिकाकी भाँति विशाल नेत्रोंवाली सीताजीको अग्नि में प्रवेश करते हुए सर्वाणि रूपाणि ददृशुः - सम्पूर्ण रूपवान् व्यक्तियों ने देखा। यदि सम्पूर्ण रूपवान् व्यक्तियोंने देखा, तो क्या श्रीअवधके धोबीने उनको अग्नि में प्रवेश करते हुए नहीं देखा होगा ? निश्चित देखा। जब अग्नि में प्रवेश करते हुए देखा, तो फिर वह निन्दा कैसे कर सकता है? उसने देख लिया कि सीताजी अग्नि में प्रवेश कर रही हैं और उनकी साड़ीका एक सूत भी नहीं जल रहा है। इतना ही नहीं ! और आगे देखिये -

ददृशुस्तां महाभागां प्रविशन्तीं हुताशनम्। ऋषयो देवगन्धर्वा यज्ञे पूर्णाहुतीमिव॥
(वा ० रा ० ६/११६/३३)

उन महाभाग्यशालिनी सीताजीको अग्निमें प्रवेश करते हुए ऋषियोंने देवताओंने, गन्धर्वोंने उसी प्रकार देखा, मानो यज्ञमें यह पूर्णाहुति हो। राम-रावणके समर-यज्ञकी सीताजी पूर्णाहुति बन गयीं। पूर्णाहुतिके पदार्थ तो जल जाते हैं, पर ये नहीं जलीं और वस्तुतः इस कलङ्क को मिटाने में भी वे पूर्णाहुति बन गयीं। इतना ही नहीं सीताजीको वसोर्धाराकी भाँति देखा गया -

प्रचुक्रुशुः स्त्रियः सर्वास्तां दृष्ट्वा हव्यवाहने। पतन्तीं संस्कृतां मन्त्रैर्वसोर्धारामिवाध्वरे॥
(वा०रा०६/११६/३४)

सभी स्त्रियों ने अग्निमें प्रवेश की हुई सीताजीको उसी प्रकार देखा, जैसे मन्त्रोंसे संस्कृत वसोर्धारा अग्निमें प्रवेश करती है। इतना ही नहीं ! और स्पष्ट कहा -

ददृशुस्तां त्रयो लोका देवगन्धर्वदानवाः। शप्तां पतन्तीं निरये त्रिदिवाद्देवतामिव॥
(वा ० रा ० ६/११६/३५)

अर्थात् अग्नि में प्रवेश करते हुए सीताजीको देवताओंने, गन्धर्वोंने, दानवोंने तो देखा, और त्रयो लोकाः - तीनों लोकोंने देखा। जब तीनों लोकोंने सीताजीको अग्निमें प्रवेश करते हुए देखा। उसी प्रकार देखा, जैसे शापित हुई कोई देवता अग्निमें प्रवेश कर रही हो। शप्तां का अर्थ यहाँ शाप नहीं। श्रीरामकी कटूक्तियोंको ही सीताजीने शाप मान लिया। तो जब सबने सीताजीको अग्निमें प्रवेश करते हुए देखा ही, तो फिर धोबीकी बात आयी कहाँ से और कैसे ? धोबीकी कल्पना की कहाँसे गयी ? यद्यपि वाल्मीकीय रामायणमें नहीं है, इसलिए भी उत्तरकाण्डका कोई आधार ही नहीं है। और जैसाकि मैं कह चुका हूँ कि वाल्मीकीय रामायणमें बालकाण्डकी कथाके पूरे सूत्र मिल जाते हैं, सभी टीकाकारों ने उनका समर्थन किया है। परन्तु संयोग और सौभाग्यसे जब युद्धकाण्ड की कथाका महर्षि वाल्मीकिने प्रारम्भ किया, मूल रामायणके ९० वें श्लोकमें वहाँ कथाका वर्णन किया है - श्रीरामने सीताजीको प्राप्त कर लिया -

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः। निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः॥
(वा० रा० १ / १ / ९०)

सम्पूर्ण संसार प्रसन्न हो गया, मुदित हो गया, सन्तुष्ट हो गया, पुष्ट हो गया, धार्मिक हो गया। कोई आमय उसके मनमें नहीं है, कोई रोग नहीं है, वहाँ दुर्भिक्ष नहीं है, भय नहीं है, सब कुछ आनन्द है। न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित् (वा ० रा ० १.१.९१) - राम-राज्यमें कोई पुरुष पुत्रका मरण नहीं देखेगा। तो जब पुत्रका मरण किसीने नहीं देखा, तो ब्राह्मण ने पुत्रका मरण देख कैसे लिया ? इसीसे शम्बूक - वध निरस्त हो जाता है। नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः (वा ० रा ० १.१.९१) - अयोध्यामें कोई नारी विधवा नहीं होगी, कोई अपतिव्रता नहीं होगी। जब नारियाँ पतिव्रता हैं, तो धोबीकी पत्नी उससे बिना पूछे दूसरे के घर गयी कैसे ? यदि यह कथा मान ली जायेगी, तो वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्डके इस वचन का क्या होगा ? अप्रामाणिकता हो जायेगी। आर्षवचन है, हमारा - आपका वचन नहीं है। यहाँ तक जब वर्णन करने लगे, तो उन्होंने कहा -

न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।
न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं यथा॥
(वा ० रा ० १ / १ / ९२)

वहाँ अग्नि से भय किसीको नहीं है, कोई जलमें नहीं डूबेगा, किसीको वातका भय नहीं है, किसीको ज्वरका भय नहीं है।

न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा। नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च॥
(वा ० रा ० १ / १ / ९३)

किसीको क्षुधाका भय नहीं है , किसीको तस्करका भय नहीं है । नगर और राष्ट्र धन - धान्यसे युक्त हैं।

नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा। अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ॥
(वा ० रा ० १ / १ / ९४)

जैसे कृतयुगमें लोग प्रसन्न रहते हैं, उसी प्रकार सब लोग यहाँ प्रसन्न हैं। अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः आप एक अश्वमेध यज्ञ की बात करते हैं। एक अश्वमेध के लिए रामचन्द्रजी ने विवाह किया कि मेरी स्वर्णमयी प्रतिमा ले आओ - इसका मैंने खण्डन किया है कि पत्नी कभी पतिका प्रतिनिधि नहीं बनती, वो भी यजमान होती है। पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (पा.अ.सू. ४.१.३३)। यदि पत्नी चली गयी हो या विदेशमें हो या शरीर छूट गया हो , तब कथञ्चित् कोई प्रतिमा प्रतिनिधि बनती, पर स्वर्णमयी प्रतिमा तो किसी की प्रतिनिधि बन ही नहीं सकती। द्वितीय विवाह यदि कोई करे, तो उसकी पत्नी प्रतिनिधि बनती है, यह तो बन नहीं सकती। तो सीताजी की प्रतिनिधि स्वर्णमयी प्रतिमा कैसे बनेगी ? तिलक टीकाकार ने कहा- वस्तुतस्तु नैषां स्वर्णमयी प्रतिमा प्रतिनिधिः (वा ० रा ० ति ० टी ० ।) स्वर्णमयी प्रतिमा प्रतिनिधि नहीं बन सकती , उसमें देवता का आरोप होता है और जब भी किसीकी भी प्राण प्रतिष्ठा होगी , तो उसमें देवताका आरोप होगा -

अस्यै प्राणाः प्रतिष्ठन्तु अस्यै प्राणाः क्षरन्तु च।
अस्यै देवत्वमर्चायै मामेहति च कश्चन॥

तो यदि देवत्व उसमें नहीं आया तो प्राण की प्रतिष्ठा नहीं होगी तो हजारों स्वर्णकी प्रतिमाएँ बनाते रहें वो प्रतिनिधि नहीं बन सकतीं और जब प्राण - प्रतिष्ठा होगी, तो उनमें देवत्व आ जायेगा, तब भी प्रतिनिधि नहीं बन सकतीं। यहाँ उभयतः पाशारज्जुन्याय है। इसका समाधान कोई बड़बड़ करके तो नहीं कर सकता। बड़बड़ करना अलग विषय है और शास्त्रीय समाधान अलग विषय है। उसके लिए तो शास्त्रीय तर्क चाहिए। शास्त्रका जितना अध्ययन हम लोगों ने किया होगा, शास्त्र पढ़ते - पढ़ते वृद्धावस्था आ गयी, उतना शास्त्रका

अध्ययन स्तनन्धय व्यक्ति क्या करेगा ? इसलिए भी यह सब कुछ अप्रामाणिक जैसा लगता है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

सीताजी को अनिन्दिता सिद्ध करने के चक्कर में ये जगद्गुरु जी ने यहाँ तक लिख दिया कि रामजी की निन्दा की जा सकती है, रावण ने भी रामजी की निन्दा की। अच्छा जी ? जैसे रावण ने रामजी की निन्दा की, इससे सिद्ध होता है कि रामजी की निन्दा की जा सकती है, तो उसी प्रकार से धोबी ने भी सीताजी की निन्दा की, इसमें क्या समस्या हो गयी आपको ? और यदि चौपाई के संततमनिंदिता शब्द से आपको लगता है कि सीताजी की निन्दा हुई ही नहीं, तो मूल रामायण में श्रीरामजी के प्रति आये हुए 'यशस्वी एवं सर्वलोकप्रियः' गुणों के कारण आपको ऐसा क्यों नहीं लगा कि जो सबों का प्रिय और यशस्वी हो, उसकी निन्दा भी नहीं हो सकती। मैं तो आपसे आशा कर रहा था कि इस आधार पर आपको रावण द्वारा की गयी रामनिन्दा का भी खण्डन करना चाहिए। आप तो मेरी आशा से अधिक चतुर निकले, स्वयं नाम में रामभद्र लगाकर, रामनिन्दा की जा सकती है, ऐसी अभद्रता कर दी। भगवान् मध्वाचार्य जी लिखते हैं कि परोक्षरूप से भी भगवान् की निन्दा करने वाले की जिह्वा काट लेनी चाहिए -

निन्दां हरेस्तु विदधाति परोक्षगोऽपि यस्तं प्रगृह्य करवाणि विजिह्वमेव।
(महाभारततात्पर्यनिर्णय)

और श्रीमद्भागवत का भी कथन है कि हरि या हरिभक्त की निन्दा को चुपचाप सहने वाला व्यक्ति भी पुण्यकीर्ति से च्युत होकर नीचे गिरता है।

निन्दां भगवतः श्रृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥
(श्रीमद्भागवतमहापुराण, स्कन्ध - १०, अध्याय - ७४, श्लोक - ४०)

और इनसे मिलिए, ये हैं, रामानन्दाचार्य भगवान् की उत्तम परम्परा में न जाने किस षड्यन्त्र के आधार पर घुसे हुए वैष्णव जगद्गुरु, जो लिखते हैं कि रावण ने रामजी की निन्दा की, इसीलिए रामजी की निन्दा की जा सकती है। अब आपके अनिन्दिता शब्द पर आते हैं। अनिन्दिता का अर्थ है कि जिनकी निन्दा नहीं हुई, धोबी ने निन्दा की, किन्तु निन्दा हो नहीं गयी, भगवती सीताजी की कीर्ति नष्ट नहीं हुई, आजतक वह बनी हुई है, धोबी के निन्दा कर देने से सीताजी निन्दिता हो नहीं गयीं। लक्ष्मणजी भगवान् श्रीराम से पूछते हैं -

सीतामनिन्दितां को नु त्यजति श्रुतवान्भवान्।
आकारयामि रजकं परिपृच्छामि तं प्रति॥
कथं त्वया निन्दिता सा जानकी योषितां वरा।
तव देशे बलात्कश्चिद्बाध्यते न जनोऽल्पकः॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५८, श्लोक - २९-३०)

हे प्रभो ! आप अनिन्दिता सीताजी का परित्याग न करें, मैं धोबी को बुलाकर पूछता हूँ कि स्त्रियों में श्रेष्ठ जानकी जी की तुम निन्दा क्यों करते हो ? आपके राज्य में बलपूर्वक किसी भी व्यक्ति को थोड़ी भी बाधा नहीं दी जाती है। तब श्रीरामजी ने उत्तर दिया -

कथं तु मां ब्रवीषि त्वं मा त्यजैनामनिन्दिताम्।
लोकापवादात्त्यक्ष्येऽहं जानन्नपि विपापिनीम्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५८, श्लोक - ३५)

लक्ष्मण ! तुम मुझसे ऐसा क्यों कह रहे हो कि 'अनिन्दिता' सीता का परित्याग मत कीजिए, मैं लोकापवाद के कारण, सीता को निष्पाप जानकर भी त्याग कर रहा हूँ। जगद्गुरु जी को संस्कृत का ज्ञान होगा तो स्पष्ट श्लोक में देखें - 'अनिन्दितां त्यक्ष्ये' शब्द आया है।

तो सीताजी जब निष्पाप थीं तो ऐसा क्यों हुआ ? रावण की ओर से तो निष्पाप थीं किन्तु बाल्यकाल में पक्षीराज का जो गर्भावस्था में पतिवियोग का शाप मिला था, उससे मुक्त नहीं हुई थीं, इसीलिए वे धोबी के द्वारा निन्दिता और त्यक्ता हुईं।

तज्जातं रजकोक्त्यासौ निन्दिता च वियोगिता।
रजकस्य च शापेन वियुक्ता सा वनं गता॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५७, श्लोक - ६६)

पद्मपुराण के प्रमाण को, स्वयं श्रीरामवचन को न मानने वाला व्यक्ति स्वयं को वैष्णव जगद्गुरु कहने का दुःसाहस कैसे कर सकता है ? आप कहते हैं कि गोस्वामी जी ने कहा - 'सीताजी की कहीं निन्दा नहीं हुई', तो फिर आपको फिर से श्रीरामचरितमानस का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि गोस्वामीजी ने स्वयं लिखा है कि प्रभु अपने नगरवासियों से इतना प्रेम करते थे कि सीताजी की निन्दा करने वालों को भी भगवान् ने विशोकसंज्ञक लोक में स्थान दिया है, अथवा उन्हें शोकरहित किया है -

प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥
सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए॥
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा - १६ से पूर्व)

आपका अगला कुतर्क, जिसमें आपने कहा कि वाल्मीकि जी ने सीताजी को चार रूपों में देखा, सम्पूर्ण लोगों ने देखा तो क्या धोबी ने नहीं देखा ? अपितु अवश्य देखा, फलतः उसने कोई निन्दा नहीं की, सो सीतात्याग की घटना प्रक्षिप्त है। महोदय ! अग्निपरीक्षा का वृत्तान्त मात्र वहीं उपस्थित लोगों ने देखा, पूरे विश्व के एक एक व्यक्ति ने नहीं देखा। यदि पूरे विश्व के एक एक व्यक्ति ने देखा होता तो कौसल्या, जनक, भरत आदि ने भी देखा होता। वे तुरन्त किसी न किसी बहाने से वहाँ पहुंच कर श्रीरामजी को रोकने का प्रयास करते, किन्तु उधर की घटनाओं का अवलोकन अन्यत्र स्थित जनों ने नहीं किया, इसीलिए अयोध्यावासियों को यह सब उसी क्षण ज्ञात नहीं हुआ। यदि अयोध्यावासियों को ज्ञात

होता ही, तो भरत आदि को भी होता और इस प्रकार हनुमानजी का भरत को आकर रावण वध का समाचार देना सर्वथा अनुपयुक्त होता क्योंकि सीताजी तो रावण वध के बाद ही श्रीरामजी को प्राप्त हो सकती थीं।

और व्यवहार में भी यह सम्भव नहीं है। वाल्मीकि जी ने देखा, क्योंकि उन्हें भगवान् की लीलाओं का सम्पूर्ण बोध होगा, ऐसा ब्रह्मदेव ने वरदान दिया था। ऋषि भरद्वाज ने अपने तपोबल से बैठे बैठे देखा, ऐसा उन्होंने स्वयं श्रीरामजी को बताया है। किन्तु क्या सीताग्निप्रवेश कोई विश्वरूपदर्शन के समान पूरे ब्रह्माण्ड में प्रसारित हो रहा था जो धोबी ने देख लिया ? कदापि नहीं। मात्र वहाँ घटनास्थल पर जो लोग उपस्थित थे, उन्होंने ही इस घटना को देखा -

जनश्च सुमहाँस्तत्र बालवृद्धसमाकुलः। ददर्श मैथिलीं दीप्तां प्रविशन्तीं हुताशनम्॥
(वाल्मीकीय रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग - ११६, श्लोक – ३०)

तत्र समाकुलः शब्द पर ध्यान दें - जो वहाँ उपस्थित थे, मात्र उन्होंने ही देखा। अब आप कहेंगे कि ददृशुस्तां त्रयो लोका, तीनों लोकों ने देखा तो इस उक्ति का क्या करेंगे ? तो इसका उत्तर श्लोक के अगले ही चरण में है - देवगन्धर्वदानवाः - देव, गन्धर्व और दानव, इन तीन जनसमुदायों ने देखा। फिर दूसरा अर्थ यह भी है कि ऋषयो देवगन्धर्वाः - भूर्लोकवासी ऋषियों ने, भुवर्लोकवासी गन्धर्वों ने तथा स्वर्लोकवासी देवों ने, ऐसे तीनों लोकों ने देखा। फिर तीसरा अर्थ यह भी है कि स्वर्गलोक के देवताओं ने, मर्त्यलोक के ऋषियों ने एवं पाताललोक के दानवों ने देखा। अव्याप्तिदोष, दृष्टिप्रतिहता आदि के कारण त्रयो लोकाः का अर्थ यह कदापि नहीं है कि तीनों लोकों के प्रत्येक जीव ने देखा।
आप स्वयं के द्वारा प्रस्तुत श्लोकों में तो कह देते हैं कि हमारा - आपका वचन नहीं, आर्षवचन है। किन्तु मेरे द्वारा जब आर्षवचन प्रस्तुत किए जाते हैं तो आप उन्हें अभद्रता से तोड़मरोड़कर अमान्य कर देते हैं, यह घोर दम्भ का परिचायक है। पुत्रमरण देखना, नारियों का अविधवा और पतिव्रता होना आदि से सम्बन्धित आपके कुतर्कों का कई कई बार इससे पूर्व समाधान कर चुका हूँ।

स्वर्णमयी प्रतिमा के प्रतिनिधित्वसम्बन्धी आपकी शङ्का का समाधान तन्त्रवार्तिक, हिरण्यकेशिसूत्र, कात्यायनस्मृति, पद्मपुराण, गर्गसंहिता आदि के प्रमाणों से कर चुका हूँ, पूर्वलेखों का पुनः अवलोकन करें। मुख्य प्रमाण देखें -

मृतायामपि भार्यायां वैदिकाग्निं न हि त्यजेत्।
उपाधिनापि तत्कर्म यावज्जीवं समापयेत्॥
रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्।
ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरच्युतः॥
(बृहत्कात्यायनस्मृति, खण्ड - २०, श्लोक – ०९-१०)

इसके आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं - भार्या मरणमापन्ना देशान्तरगतापि वा। सीताजी देशान्तर में ही तो थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वर्णप्रतिमा वाली बात प्रामाणिक है और श्रीरामभद्राचार्य के कुतर्क का निग्रह होता है। पहले आप कहते हैं कि सीताजी जीवित हैं, इसीलिए उनकी प्रतिमा नहीं बन सकती और प्राण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, दूसरी ओर आप स्वयं उन्हें परमात्मशक्ति चिन्मयी जगदम्बा कहते हैं, फिर आप इस बात पर आपत्ति करते हैं कि प्रतिमा की प्रतिष्ठा होने से उसमें देवत्त्व आ जाएगा। तो बन्धु ! जो श्रीसीतारामजी स्वयं परब्रह्म हैं, उनकी प्रतिमा के देवत्व में आपको क्या समस्या हो रही है ? एक बात पर स्थित रहिए न। और यह किसने कहा कि पत्नी प्रतिनिधि प्रतिमा में देवत्व का आधान करना है ? उसमें प्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं। नर्मदेश्वर और शालग्रामशिला में भी तो आप बिना प्रतिष्ठा के ही अर्चन करते हैं क्योंकि ऐसा विधान नहीं है, उनमें नित्य देवत्व है। वैसे ही प्रतिनिधित्व करने वाली प्रतिमा में भी भूतत्व स्थित होने से उसकी देववत्प्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं है।

जीवनभर मञ्च से बड़बड़ करने के बाद आप आज कह रहे हैं कि बड़बड़ करना अलग विषय है और शास्त्रीय समाधान अलग विषय है। आप वृद्धावस्था की बात करते हैं, जैसा आपका वक्तव्य, लेखन और शास्त्रों को समझने की क्षमता देख रहा हूँ, मुझे विश्वास है कि

आप अभी दस बीस जन्म और लेंगे तब भी आपको शास्त्रवाक्य का सदर्थ ज्ञात न होगा। मेरी दैहिक अवस्था आपसे अवश्य ही बहुत अधिक कम है किन्तु ध्यान रखियेगा, अर्जुन की अवस्था पितामह भीष्म और द्रोण से क्रमशः ५२० एवं ३२० वर्ष कम थी किन्तु अकेले दोनों को कई बार पराजित किया था। शास्त्रज्ञान इष्टकृपा और निष्ठा का विषय है, दम्भ और वयोवार्द्धक्य का नहीं।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

किं बहुना ! यदि वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्डके प्रथम सर्गको देखें -

गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम्।
असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः॥
(वा ० रा ० १ / १ / ९५)

रामजीके लिए महायशाः कहा। रामजी महायशस्वी हैं और यदि सीताजी का त्याग करेंगे, तो इससे बड़ा अपयश क्या होगा ? जैसाकि भवभूति कहते हैं -

अयि कठोर यशः किल ते प्रियं किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः कथय नाथ कथं बत मन्यसे॥
(उ ० रा ० ३/२७)

“अरे कठोर ! यदि तुमको यश ही प्रिय है, तो इससे बड़ा अपयश क्या होगा कि एक गर्भिणी महिलाको कारण बताये बिना निर्वासित कर दिया जाए ?" जैसाकि गोस्वामीजी कहते हैं -

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता कर मन बानी॥

रहै करम बश परिहरि नाहू ।सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू ॥
(मा० २ / १४५ / १-२)

कुलीन पत्नी का त्याग कितना बड़ा पाप होता है। इसलिए भी वाल्मीकी रामायण का उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। इतना ही नहीं ! जब अग्निपरीक्षा हो रही थी, तो सीताजीकी साडीका एक सूत भी नहीं जला, सीताजी के मुखपर पसीनेकी एक बूँद भी नहीं झलकी और सीताजी अग्निमें खेलती रहीं। तब अग्निदेवने स्वयं उस चिताको बुझाया और भगवान् रामको आज्ञा दी- " राघवेन्द्र ! आप परमात्मा हैं, पर आपके जन्मका कारण बननेके कारण मैं आपका पितृतुल्य हूँ। मैं आपको आज्ञा देता हूँ कि अब सीताजीकी कोई परीक्षा नहीं ली जायेगी, अब सीताजीको कहीं निष्कासित नहीं किया जायेगा। " उदाहरण के लिए मैं वाल्मीकि के युद्धकाण्ड के ११८ वें सर्ग के उन श्लोकों को भी प्रस्तुत कर रहा हूँ। इतने पर तो खण्डक महोदय को सन्तोष हो जाना चाहिए। श्लोक देखिए -

अब्रवीत् तु तदा रामं साक्षीलोकस्य पावकः ।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥५॥

उस समय लोकसाक्षी अग्नि ने श्रीराम से कहा- "श्रीराम ! यह आपकी धर्मपत्नी विदेहराजकुमारी सीता है, इसमें कोई पाप या दोष नहीं है।

नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वा मत्यचरच्छुभा ॥६॥

उत्तम आचार वाली इस शुभलक्षणा सती ने मन, वाणी, बुद्धि अथवा नेत्रों द्वारा भी आपके सिवा किसी दूसरे पुरुष का आश्रय नहीं लिया। इसने सदा सदाचारपरायण आपका ही आराधन किया है।

रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥७॥

अपने बल, पराक्रम का घमण्ड रखने वाले राक्षस रावण ने जब इसका अपहरण किया था, उस समय ये बेचारी सती सूने आश्रम में अकेली थी आप इसके पास नहीं थे, अतः यह विवश थी।

क्रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥८॥

रावण ने इसे लाकर अन्तःपुर में कैद कर लिया। इस पर पहरा बिठा दिया। भयानक विचारों वाली भीषण राक्षसियाँ इसकी रखवाली करने लगीं। तब भी इसका चित्त आप में ही लगा रहा। यह आप ही को अपना परम आश्रय मानती रही।

प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेन नान्तरात्मना ॥९॥

तत्पश्चात् तरह - तरह के लोभ दिए गए। इस मिथिलेशकुमारी पर डांट फटकार भी पड़ी परन्तु इसकी अन्तरात्मा निरन्तर आपके ही चिन्तन में लगी रही। इसने उस राक्षस के विषय में एक बार भी नहीं सोचा।

विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥१०॥

अतः इसका भाव सर्वथा शुद्ध है । यह मिथिलेशनन्दिनी सर्वथा निष्पाप है। आप इसे सादर स्वीकार करें। मैं आपको आज्ञा देता हूँ, आप इससे कोई कठोर बात न कहें।

ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वैवं वदतां वरः।
दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा हर्षव्याकुललोचनः ॥११॥

अग्निदेव की यह बात सुनकर वक्ताओं में श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीराम का मन प्रसन्न हो गया। उनके नेत्रों में आनन्द के आँसू छलक आए। वे थोड़ी देर तक विचार में डूबे रहे।

एवमुक्तो महातेजा धृतिमानुरुविक्रमः।
उवाच त्रिदशश्रेष्ठं रामो धर्मभृतां वरः ॥१२॥

तदनन्तर महातेजस्वी, धैर्यवान्, महान् पराक्रमी तथा धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीराम ने देवशिरोमणि अग्निदेव से उनकी पूर्वोक्त बात के उत्तर में कहा।

अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावनमर्हति।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तः पुरे शुभा ॥१३॥

भगवन् ! लोगों में सीताजी की पवित्रता का विश्वास दिलाने के लिए इनकी यह शुद्धिविषयक परीक्षा आवश्यक थी, क्योंकि शुभलक्षणा सीता को विवश होकर दीर्घकाल तक रावण के अन्तःपुर में रहना पड़ा है।

बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः।
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि ॥१४॥

यदि मैं जनकनन्दिनी की शुद्धि के विषय में परीक्षा न करता तो लोग यही कहते कि दशरथपुत्र राम बड़ा ही मूर्ख और कामी है।

अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम्।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥१५॥

यह बात मैं भी जानता हूँ कि मिथिलेशनन्दिनी जनककुमारी सीता का हृदय सदा मुझ में ही लगा रहता है, मुझसे कभी अलग नहीं होता। ये सदा मेरा ही मन रखतीं हैं मेरी इच्छा के अनुसार चलती हैं।

इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः ॥१६॥

मुझे यह भी विश्वास है कि जैसे महासागर अपनी तटभूमि को नहीं लाँघ सकता, उसी प्रकार रावण अपने ही तेज से सुरक्षित इन विशाललोचना सीता पर अत्याचार नहीं कर सकता था।

प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः।
उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥१७॥

तथापि तीनों लोकों के प्राणियों के मन में विश्वास दिलाने के लिए एकमात्र सत्य का सहारा लेकर मैंने अग्नि में प्रवेश करती हुई विदेहकुमारी सीता को रोकने की चेष्टा नहीं की।

न शक्तः सुदुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम्।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥१८॥

मिथिलेशकुमारी सीता प्रज्वलित अग्निशिखा के समान दुर्धर्ष तथा दूसरे के लिए अलभ्य है। दुष्टात्मा रावण मन के द्वारा भी इन पर अत्याचार करने में समर्थ नहीं हो सकता था।

नेयमर्हति वैक्लव्यं रावणान्तःपुरे सती।
अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा ॥१९॥

ये सती-साध्वी देवी रावण के अन्तःपुर में रहकर भी व्याकुलता या घबराहट में नहीं पड़ सकती थीं, क्योंकि ये मुझसे उसी तरह अभिन्न हैं जैसे सूर्यदेव से उनकी प्रभा।

विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा॥

मिथिलेशकुमारी जानकी तीनों लोकों में परम पवित्र हैं। जैसे मनस्वी पुरुष कीर्ति का त्याग नहीं कर सकता उसी तरह मैं भी इन्हें नहीं छोड़ सकता।

अवश्यं च मया कार्यं सर्वेषां वो वचो हितम्।
स्निग्धानां लोकनाथानामेवं च वदतां हितम्॥२१॥
(वा ० रा ० ६ / ११८ / ५-२१)

आप सभी लोकपाल मेरे हित की ही बात कर रहे हैं और आप लोगों का मुझ पर बड़ा स्नेह है अतः आप सभी देवताओं के हितकर वचन का मुझे अवश्य पालन करना चाहिए।

अग्निदेवने अपने अधिकारका प्रयोग करते हुए यह कहा- "राघव ! मेरे चरुसे आपका जन्म हुआ है, मैं आपका पिता भी हूँ । मैं आज आज्ञा देता हूँ कि जिनका भाव पवित्र है, जिनके जीवनमें कोई पाप नहीं, ऐसी सीताजीको अब आप फिर स्वीकार कीजिये। इनको आप कुछ भी नहीं कहेंगे , मैं आपको यह आज्ञा देता हूँ।" और भगवान् रामने भी कह दिया "अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा (वा ० रा ० ६ / ११८ / १९) अर्थात् मैं भी जानता हूँ कि सीताजी मुझसे उसी प्रकार अभिन्न हैं, जैसे सूर्यनारायणसे उनकी प्रभा।" भगवान् ने अग्निके समक्ष प्रतिज्ञा की -

विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा॥
(वा ० रा ० ६/११८/२०)

"तीनों लोकोंमें सीताजी पवित्र हैं। जनकनन्दिनी सीताजीकी पवित्रतामें कोई सन्देह नहीं

है। हे अग्निदेव ! मैं आपको वचन देता हूँ कि जिस प्रकार यशस्वी व्यक्ति अपनी कीर्तिको त्याग नहीं सकता, इसी प्रकार मैं सीताजीका कभी त्याग नहीं करूंगा।" जब श्रीराम अग्निके समक्ष सीताजीको स्वीकारनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उनके त्यागका निषेध कर रहे हैं, तो फिर धोबीके कहने से रामजी सीताजीका त्याग करेंगे कैसे ? यदि करेंगे, तब तो उनमें नास्तिकता आ जायेगी। इसलिए भी जहाँ सीताजीका त्याग वर्णित है, अतः उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

प्रथम तो आप यह कहते हैं कि श्रीरामजी के लिए श्लोक में महायशाः शब्द आया है इसीलिए ऐसे महायशस्वी यदि सीताजी का त्याग करेंगे तो इससे बड़ा अपयश क्या होगा ? किन्तु महोदय ! आपने प्रक्षिप्तवादियों की दृष्टि से ऐसा अनुमान लगाया। श्रीरामजी के राजधर्म की दृष्टि से देखते तो यह ज्ञात होता कि यदि श्रीरामजी ने गुप्तचरों से यह जानकर भी, कि समाज में सीताजी को लेकर अनुचित लोकापवाद लगाए जा रहे हैं, यदि उन्हें वन नहीं भेजा होता तो क्या उनका यश अक्षुण्ण रहता ? राजा के पक्षपाती और दोषी होने के कलङ्क से बचने हेतु ही उन्होंने ऐसा किया था।

दूसरी बात कि अग्निदेव ने जो आज्ञा दी थी कि आप सीता को निर्दोष जानें और इन्हें ग्रहण करें तो इस सन्दर्भ में मैं आपको मैंने पुनः बताया है कि श्रीरामजी ने यदि सीताजी को दोषी माना होता तब न अग्निदेव के समक्ष की गयी उनकी प्रतिज्ञा खण्डित होती। किन्तु उन्होंने क्या कहा ? यही कहा न कि मैं जानता हूँ, सीता अनिन्दिता और निर्दोष है किन्तु लोकापवाद के कारण मैं उसे छोड़ रहा हूँ। इसका अर्थ है कि श्रीरामजी के मन में तो उनकी पवित्रता को लेकर कोई सन्देह था ही नहीं।

कथं तु मां ब्रवीषि त्वं मा त्यजैनामनिन्दिताम्।
लोकापवादात्त्यक्ष्येऽहं जानन्नपि विपापिनीम्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५८, श्लोक - ३५)

अब रही बात कि जब भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी कि परित्याग नहीं करूंगा तो क्यों छोड़ा ? इस सन्दर्भ में पहले तो मैं बहुत बार पद्मपुराण में पक्षियों के शाप वाला प्रमाण दे ही चुका हूँ, पाठक उसे पुनः देख लें, सो उसे भी सार्थक करना था। और दूसरे कि भगवान् ने मन से परित्याग नहीं किया था, लोकशिक्षण हेतु ऐसा अभिनयमात्र किया। सीताजी की स्वयं भी गर्भावस्था में वन जाने की इच्छा थी। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं पूछा -

स्त्रीणां सीते सगर्भाणां वाञ्छितं वाञ्छिते मनः।
का ते वाञ्छा वदस्व त्वं तत्ते दास्यामि निश्चितम्॥

सीते ! अच्छा ये बताओ, गर्भवती स्त्रियों को कभी कभी कुछ विशेष इच्छाएं होती हैं। यदि तुम्हारी भी कोई इच्छा हो तो उसे बताओ, मैं अवश्य तुम्हारी उस इच्छा को पूरा करूँगा।

इति रामवचः श्रुत्वा भाविकार्येण यन्त्रिता।
सा प्राह राघवं रामं नगांस्तीरस्थितान् तरून्॥
मुनीनामाश्रमाँश्चापि ऋषिपत्नीश्च तद्वनम्।
वाञ्छते मे मनो द्रष्टुं शीघ्रं प्रेषय तत्र माम्॥

रामजी की इस बात को सुनकर सीताजी ने भविष्य की लीलाओं की प्रेरणा समझते हुए कहा - हे राघव ! मैं पहाड़, नदी, वृक्ष, मुनियों के आश्रम, ऋषियों की पत्नियों से भरे हुए वन को देखना चाहती हूँ। यही मेरी इच्छा है तो आप मुझे शीघ्र ही वन में भेजें। रामजी ने राजा जनक के माध्यम से सारा प्रबन्ध करा ही दिया था सो अगले दिन वैसा ही किया। चूंकि प्रबंध पूरा था, इसीलिए ...

यथा पूर्वं तु साकेते सुखमाप विदेहजा। तथा मुनेराश्रमेऽपि सुखमाप पतिव्रता॥
(वाल्मीकीयानन्द रामायण, जन्मकाण्ड, तृतीय सर्ग)

जैसे पतिव्रता सीताजी पहले अयोध्या में सुखपूर्वक रहती थीं वैसे ही मुनि (वाल्मीकि) के आश्रम में भी सुखपूर्वक रहने लगीं।

यहां दो शंकाएं होती हैं। एक तो जब सब बात बढ़िया से तय ही थी तो सीताजी ने दुःख क्यों दिखाया ? रोती क्यों थी ? क्योंकि रामजी ने समाज को यह रहस्य नहीं बताया था। उन्होंने लोकापवाद की बात से ही सीतात्याग किया, यही प्रदर्शित किया। इसीलिए सीताजी ने भी यह लीला की कि उन्हें बड़ा कष्ट है। यदि वे प्रसन्न भाव दिखातीं तो लोग फिर कहते कि रामजी के द्वारा त्यागे जाने पर भी वे प्रसन्न क्यों हैं, अवश्य कोई बात है।

पूर्वजन्म के पक्षी का शाप भी सार्थक करना था इसीलिए भगवान् ने धोबी के मन को प्रेरणा देकर सीताजी की निन्दा करवायी। वन में भेजने हेतु लोकापवाद का बहाना बनाएंगे, ये तो सीतारामजी की निजी लीला का ही विषय है। भगवान् से सीताजी को पहले ही बताया -

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥
त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
(अध्यात्म रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग – ०४, श्लोक - ४१-४२)

रामजी कहते हैं, हे देवि ! मैं सब उपाय जानता हूँ, वो तुम्हें बता रहा हूँ। तुमसे सम्बन्धित लोकनिन्दा को कल्पित करके मैं साधारण मनुष्यों के समान लोकापवाद से भयभीत होने का नाटक करके तुम्हें वाल्मीकि जी के आश्रम में छोड़ दूंगा, वहीं तुम दोनों पुत्रों को जन्म दोगी। (इसी प्रमाण के साथ रामभद्राचार्य जी का वक्तव्य खण्डित होता है कि लवकुश का जन्म वन में नहीं, अपितु अयोध्या में घर पर हुआ था।)

वस्तुतः सीतात्याग का पूरा प्रकल्प रामजी, सीता मैया और राजा जनक, तीनों की गुप्त योजना के अंतर्गत था। कभी आपने विचार किया कि जिस गर्भवती सीता के त्याग के कारण आज तक समाज वाले महिला आयोग और मानवाधिकार का ढोल पीट रहे हैं उसपर स्वयं सीता जी के पिता राजा जनक, या सीताजी ने भी कुछ बोला ही नहीं ! आखिर क्यों ऐसा ? एक साधारण सा पिता भी ऐसे में दामाद को कम से कम टोकता तो अवश्य, पर राजा जनक तो मौन साधे रहे। कारण मैं बताऊं ?

जनकाद्य त्वया तत्र निजपत्न्या सुमेधया। वाल्मीकेराश्रमं गत्वा स्थेयं वर्षाणि पञ्च वै॥
तथेत्यङ्गीचकाराथ जनकोऽपि सुमेधया। सीताप्यङ्गीचकाराथ विहस्य तद्वचः पतेः॥
(आनन्द रामायण, जन्मकाण्ड, सर्ग – ०२, श्लोक - ४३-४४)

राम जी ने कहा - हे महाराज जनक ! आपको अपनी पत्नी सुमेधा के साथ वाल्मीकि के आश्रम में ही ये पांच वर्ष रहना चाहिए। रामजी की इस बात को राजा जनक और रानी सुमेधा ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, साथ ही सीता जी ने भी हंसते हुए अपने पति की इस बात का समर्थन किया। अतः इस प्रकार से हम देखते हैं कि उत्तरकाण्ड समेत जहाँ जहाँ सीतात्याग का उल्लेख है, वह पूर्वापरविचार से मान्य, प्रामाणिक एवं शिष्टसम्मत है। भगवान् को अग्निदेव के समक्ष ली गयी प्रतिज्ञा का खण्डन नहीं करना पड़ा।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

अब यहाँ मैं एक और शास्त्रीय युक्ति प्रस्तुत करता हूँ। खण्डक महोदयने भिन्न - भिन्न पुराणों के प्रमाण मेरे समक्ष प्रस्तुत किये और उनसे जितना हो सका, बालचापल्यके कारण मेरे लिए अपमानित शब्दोंका भी प्रयोग किया। कदाचित् उनके शब्दकोश में अपमानित शब्द अब नहीं रह गये होंगे, पर एक बात मैं बहुत विनम्रतासे कहने जा रहा हूँ। हमारे सनातनधर्मकी परम्परामें दो प्रकार के प्रमाणों की चर्चा है, जिनकी चर्चा शङ्करदिग्विजयमें भी की गयी है। जब मण्डनमिश्र के परिचयकी बात आयी, तो वहाँके लोगोंने आद्यशङ्कराचार्यजी से कहा -

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा जानीहि तन्मण्डन मिश्र धाम॥
(श ० दि ०८ / ६)

“हे संन्यासिन् ! जहाँ तोते और मैना भी स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाणकी बात करते हैं, ऐसे सरस्वतीजीके निवास से जिनका अग्रिम भाग सुशोभित है, उसी भवनको तुम मण्डनमिश्रका भवन जान लो !" क्या चिखण्डयिषु स्वतःप्रमाण और परतः प्रमाणके सम्बन्धमें कुछ जानते हैं ? स्वतः प्रमाण किसे कहते हैं ? परतः प्रमाण किसे कहते हैं ? जो स्वयंमें प्रमाण होता है, जिसको सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती, वही स्वतः प्रमाण होता है और जिसकी प्रामाणिकताको सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा होती है, वह परतः प्रमाण होता है। वेदको हम लोग स्वतःप्रमाण मानते हैं और वेदानुमोदित पुराण, इतिहास, स्मृतियाँ, आर्ष ग्रन्थ - सबको हम परतः प्रमाण मानते हैं। इतरप्रमाण निरपेक्षत्वे सति स्वयं प्रमाजनकत्वं स्वतः प्रमाणत्वम् अर्थात् इतर प्रमाणकी अपेक्षाके बिना जो स्वयं प्रमाका जनक होता है, वही स्वतः प्रमाण होता है और इतरप्रमाण सापेक्षत्वे सति प्रमाजनकत्वं परतः प्रमाणत्वम् अर्थात् दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा करके जहाँ प्रमाजनकता होती है, उसे परतः प्रमाण कहते हैं। वेद स्वतः प्रमाण हैं।

जैसे सूर्यनारायणके अस्तित्व के लिए किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, पर आँख के प्रमाणके लिए सूर्यनारायणकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वेदों के वाक्यों को प्रमाणित करनेके लिए किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, वेद स्वतः प्रमाण होते हैं। किन्तु पुराण में जो कुछ कहा गया है या स्मृतियोंमें जो कुछ कहा गया है या इतिहासमें जो कुछ कहा गया है या काव्यनाटकोंमें जो कुछ कहा गया जबतक उनपर वेदके प्रमाणकी मोहर नहीं लगती, तबतक वे प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। इसलिए वेद स्वतः प्रमाण हैं और सौभाग्यसे अन्य रामायणोंकी चर्चा मैं नहीं कर रहा हूँ। महोदय ! यह भी आपको ठीक - ठीक जान लेना चाहिए कि वाल्मीकीय रामायणके पूर्व किसी रामायणकी रचना हुई ही नहीं थी। यह प्रथम रामायण है -

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
(वा ० रा ० १/२/१५)

यही प्रथम कविता है। केवल मर्त्यलोक ही नहीं, सम्पूर्ण जीवमात्रके लिए है। तीनों लोकोंमें सर्वप्रथम रामायण वाल्मीकीय रामायण ही है और इसके पहले पुराण छन्दोबद्ध नहीं थे। कथाएँ थीं, पर छन्दोबद्ध पुराण नहीं थे। छन्दोबद्ध कुछ नहीं था, केवल स्मृतियाँ छन्दोबद्ध थीं, वो भी अनुष्टुप् में। वेद के मन्त्र थे, उनको समझने के लिए स्मृतियाँ थीं, परन्तु कोई और श्लोक ग्रन्थ नहीं था। सौभाग्यसे वाल्मीकीय रामायणको भी नारदजीने वेदोंके समान बताया -

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्। यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(वा ० रा ० १ / १ / ९८)

नारदजी कहते हैं- “यह रामचरित यह वाल्मीकीय रामायणम् वेदोंके समान है।" यदि वेदोंके समान है , तो वेदतुल्य हो गया। यहाँतक कि अगस्त्य संहितामें कह दिया -

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥
(अ ० सं ०)

वेदवेद्य परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीने जब दशरथजीके यहाँ प्राकट्य स्वीकार किया , तो स्वयं महर्षि वाल्मीकि प्राचेतसको माध्यम बनाकर वेद भगवान् ही रामायणके रूप में अवतरित हो गये। तो जब वेद ही रामायण हैं, रामायण और वेदमें कोई अन्तर नहीं है, तो वेदकी भाँति वाल्मीकीय रामायण भी स्वतः प्रमाण है और उसमें भी मूल रामायण, प्रथम सर्ग, क्योंकि - यथा ते नारदाच्छ्रुतम् (वा ० रा ० १.२.३३)।

यदि वाल्मीकीय रामायणके प्रथम सर्गमें सीताजी का निर्वासन और शम्बूक - वध नहीं है, तो कितने भी पुराणोंके उद्धरण आप देते रहिये, कितने भी संहिताओं के उद्धरण आप देते रहिये, वे प्रमाण कोटिमें नहीं आयेंगे, नहीं आयेंगे, नहीं आयेंगे। वेद भगवान् ने जो कह दिया, वो प्रमाण है। जो वेदके विरुद्ध है, वो अप्रमाण है। यदि वेद भगवान् ने उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कह दिया, वाल्मीकिजीने सीताजीका निर्वासन नहीं माना, शम्बूकका वध नहीं माना, तो कितने भी पुराण कहते रहें, कहने दीजिये। वे हमारे प्रमाण कोटि में नहीं आते। यद्यपि यह संयोग ही हो सकता है कि विष्णुपुराणमें, हरिवंशपुराणमें सीताजी के निर्वासनकी कथा नहीं है। और भी बहुतेरे पुराण हैं, जहाँ सीताजीके निर्वासनकी कथा नहीं है। यदि कहीं है, तो रहती रहे। क्योंकि पुराण परतःप्रमाण हैं और वेद स्वतः प्रमाण हैं। और वेदके समान वाल्मीकीय रामायण भी स्वतः प्रमाण है। इनको सिद्ध करनेके लिए किसी पुराणकी हमें कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः (वा ० रा ० १.४.६), वेदोंका उपवृंहण करने के लिए वाल्मीकिजीने लव - कुशको रामायणजी पढ़ाई, यह नहीं लिखा- वेदप्रामाणिकतायै तावप्राहयत प्रभुः। वेदको प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए नहीं किया। इस युक्तिसे मैं निर्भ्रान्त होकर कह रहा हूँ कि आप हजारों प्रमाण दे डालिये हम भी सुनते रहेंगे। जिसको जितना कहते बने, ब्रह्माजीने वाल्मीकिजीसे कहा- "वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम् (वा ० रा ० १.२.३३) अर्थात् उसी प्रकार तुम भगवान का चरित्र कहो, जैसे तुमने नारदसे सुना है।" यदि वाल्मीकिजीने नारदजीसे सीताजीका वनवास सुना ही नहीं, तो वे सीताजीके वनवास की चर्चा करेंगे कैसे ? यह तो स्वयं समझना चाहिए। इससे और स्पष्ट हो गया कि न तो मूलरामायणमें सीताजीके वनवासकी चर्चा है और न वाल्मीकिजी ने जिन प्रसङ्गों की सूची दी है, उनमें सीताजी के वनवास की चर्चा है।

जैसाकि मैंने बताया कि वि पूर्वक सृज् धातुका अर्थ त्यागना भी होता है और रचना करना भी होता है। इसका उद्धरण मैं आपको दे चुका हूँ । विपूर्वक सृज् धातुका रचना करना अर्थ कहाँ लिखा है ? गीता अध्याय ९ के सातवें आठवें श्लोक में -

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
(भ ० गी ० ९ / ७)

कल्पके क्षयमें सम्पूर्ण जीव मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं और कल्पके आदिमें मैं उनका विसर्जन करता हूँ, उनकी रचना करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनःपुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
(भ ० गी ० ९ / ८)

अर्थात् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके मैं इस सम्पूर्ण जीव जगत् की बार - बार रचना करता हूँ ।

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् (वा ० रा ० १.३.३८) में वैदेह्याः में सम्बन्धमें षष्ठी है । भगवान् श्रीरामने राज्याभिषेकके पश्चात् दस हजार वर्षतक राज्य शासन चलानेके पश्चात् राष्ट्रका रञ्जन करते हुए वैदेहीमें विसर्जन - सीताजी की एक विशिष्ट प्रकारकी रचना की अर्थात् सीताजीको माँ बनानेका सोच लिया। अच्युत होनेपर भी अपने सङ्कल्पसे सीताजीमें दो पुत्रों का गर्भाधान किया। तो विसर्जनम् का अर्थ है- विशेषेण सर्जनम्, न तु - त्यागम्। उन्होंने सीताजीका त्याग नहीं किया, सीताजीकी सर्जना की। इसलिए उत्तरकाण्डको प्रामाणिक माननेकी कोई आवश्यकता नहीं।

इतना ही नहीं ! आप लवणासुरके वधके सम्बन्धमें कहेंगे ! पुराणों में पढ़ लीजिये। शम्बूक - वधका तो प्रश्न ही नहीं उठता, सीताजीके निर्वासनका तो कोई प्रश्न ही नहीं और रोचक बात यह है कि जहाँ प्रसङ्गों की सूची वाल्मीकिजीने दी है, वहाँ भी शम्बूक - वधकी चर्चा नहीं की है। बालकाण्डके तृतीय सर्गके ३९ श्लोकोंमें महर्षि वाल्मीकिजीने सूची दी है कि यह यह मैंने कहा। वहाँ सब कुछ वर्णन आया है। जन्म का भी वर्णन आया है, पर शम्बूक - वधका वर्णन नहीं आया और वैदेह्याश्च विसर्जनम् आया है, तो इसका अर्थ मैंने

आपको बता ही दिया कि भगवान् राम ने वैदेहीकी विशेष रूपसे सर्जना की अर्थात् सीताजीको अपने सङ्कल्पसे लव - कुश की माँ बना दिया। विसर्जनका यहाँ त्याग अर्थ नहीं है।

सारे प्रसङ्गों के होने पर भी एक सबसे भयङ्करतम प्रसंग वाल्मीकि उत्तरकाण्डमें है कि सीताजी ने पृथ्वीमें प्रवेश कर लिया। यह कितनी दुःखद बात है ! महिलाका कितना बड़ा अपमान है ! जब अग्निके समक्ष रामजीने परीक्षा ले ही ली, तो अब परीक्षाकी बात क्या आ गयी ? कहते हैं - पृथ्वी फट गयी और सीताजीने पृथ्वीमें प्रवेश कर लिया। ऐसा कुछ नहीं है । सीताजीने पृथ्वीमें प्रवेश ही नहीं किया। सीताजी निरन्तर श्रीरामके साथ हैं। सीतारामजीका शरीर कभी छूटता ही नहीं। इसीलिए सबका श्राद्ध होता है, पर श्रीसीतारामजी का श्रद्धा भी नहीं होता, क्योंकि शरीर ही नहीं छूटा, तो श्राद्ध कैसे हो जायेगा ?

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

हे महानुभाव ! आप जो मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य जी का उदाहरण दे रहे हैं, सो थोड़ा सा उनके आंशिक समकालीन आचार्य कुमारिलभट्ट की ओर भी दृष्टि डाल लेते, जहाँ पर वे लोकापवाद के कारण सीतानिर्वासन और श्रीरामजी के द्वारा स्वर्णमयी सीता प्रतिमा के द्वारा यज्ञ पूर्ण करने की बात को स्वीकृत करते हैं।

अपत्नीकस्य च रामवत्क्रतुप्रयोगः। हिरण्मयसीताकरणञ्च लोकापवादभिया त्यक्तसीतागतानृशंस्यभावाशङ्कानिवृत्यर्थम्। न हि मानुषीष्वेवमुपपद्यते तेनातीतमानुषमित्युक्तम्।
(तन्त्रवार्तिक में श्रीकुमारिलभट्ट)

आप मुझे स्वतः और परतः प्रमाण समझा रहे हैं, किन्तु दोनों प्रकार के प्रमाण को प्रमाण ही कहा जाता है, परतः प्रमाण भी प्रमाण ही है, 'अप्रमाण' नहीं। परतः प्रमाण के साथ केवल उसी स्थिति में अप्रमाणत्व आयेगा जब उसमें स्पष्ट श्रुतिविरोध होगा, अन्यथा नहीं।

प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्। प्रमीयतेऽर्थोऽनेनेति प्रमाणम्। तदेव सम्यग्ज्ञानम्, सन्देहविपर्यासदोषरहितत्वात्।

इसीलिए जगद्गुरु मध्वाचार्य जी ने अपने लघु ग्रन्थ प्रमाणलक्षणम् के प्रारम्भिक सूत्रों में ही लिखा - यथार्थं प्रमाणम्। आपने तो पढ़ ही लिया होगा। न पढा हो तो पढ़ लें, दस मिनट भी नहीं लगेंगे। आप कहते हैं कि सूर्यनारायण के अस्तित्व को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। मैं आपसे सहमत हूँ मान्यवर किन्तु क्या करें, इस संसार में ब्रह्माजी ने कुछ उल्लुओं की भी सृष्टि की है, उन्हें सूर्यनारायण के विषय में आवश्यक न होने पर भी कितना ही प्रमाण दे लो, वे उन्हें प्रमाण में गिनते ही नहीं। वैसे ही हम मात्र अप्रमाण को ही परतः प्रमाण मानते हैं क्योंकि उन्हें वेदादि पर आश्रित रहना है, समस्त आर्ष ग्रन्थ आप्तोपदिष्ट होने से हमारे मत में स्वतः प्रमाण ही स्वीकृत हैं।

अब रही बात कि वेदों से समर्थित होकर ही पुराणों की प्रामाणिकता मान्य है, तो इसमें मुझे कोई समस्या नहीं किन्तु वेदों का प्राधान वर्ण्य विषय आख्यान नहीं हैं। आख्यान तो इतिहास-पुराणों का ही विषय है। हां, कुछ सूत्ररूप में वेद भी अवतारों का तथा अन्य आख्यानों का सङ्केत कर देते हैं किन्तु उन्हें आख्यान ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। उदाहरणस्वरूप - श्रीहरि के कूर्मावतार का वर्णन विस्तार से लिंगपुराण, नृसिंह उपपुराण, श्रीमद्भागवत महापुराण, महाभारत के आदिपर्व, तथा पद्मपुराण के ब्रह्मोत्तर खंड में प्राप्त होता है। समुद्र मंथन के समय मंदराचल धारण करने के लिए, राजा इन्द्रद्युम्न को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के लिए तथा रसातलगामिनी वसुन्धरा के स्थैर्य के लिए कूर्मावतार का उद्देश्य सनातन साहित्यों में परिलक्षित किया गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में यह संकेत है कि सृष्टि संवर्धन हेतु प्रजापति ही कूर्म का रूप धारण कर पानी में संचरण करता है।

स यत्कूर्मो नाम एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत।
(शतपथ ब्राह्मण)

तैत्तरीय आरण्यक के अनुसार कर्तृत्वाभिमान से युक्त हो ब्रह्मा ने कूर्म को विचरण करते हुए

देखकर उसे अपने अंश के रूप में सम्बोधित किया :- मम वै त्वङ्गांसा। समभूत् ..

प्रत्युत्तर में कूर्म नारायण ने उपहास करते हुए कहा :- पूर्वमेवाहमिहासमिति। जो तुमने कहा वह सही नहीं है ,मैं तो पहले से ही था अर्थात् केवल कूर्म शरीर तुम्हारे त्वक् मांसादि से उत्पन्न हुआ। और फिर कूर्म नारायण ने ब्रह्मा जी को अपना विश्वरूप दिखाया।

मत्स्यावतार की कथा शतपथब्राह्मण में लघु प्रारूप में मिलती है। अनेकों कल्पों में अनेकों बार मत्स्यावतार हुआ है और आगे भी कल्पभेद से ऐसा अवश्य ही होगा। शतपथ ब्राह्मण और श्रीमद्भागवत महापुराण के मत्स्यावतार की कथा में बहुत समानताएं हैं। राजा सत्यव्रत को दर्शन देकर मत्स्य नारायण का आविर्भाव तथा पुनः विशाल नौका के साथ राजा, सप्तर्षि एवं प्रजातिबीजों की रक्षा करके दैत्यदमनपूर्वक वेदों का उद्धार करने की बात सर्वमान्य है।

श्रीमद्भागवत में वेद का हरण करने वाले दैत्य को हयग्रीव (ग्रंथान्तर से हरिण या हरिण्य) कहा गया है और पद्मपुराण में उसे कश्यप तथा दिति का पुत्र मकरासुर कहा गया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार श्वेतवाराह कल्प के छठे और सातवें मन्वन्तर के सन्धि काल में मत्स्यावतार हुआ तथा मत्स्यपुराण के अनुसार यह एक बार ब्रह्मा के पच्चीसवें कल्प के अंत में भी हुआ। पद्मपुराण आदि में मत्स्यावतार द्वारा शंख नामक असुर को मारने के उल्लेख आते हैं। शंखासुर ने ब्रह्मा के वेदों का हरण कर लिया था। पद्मपुराण में ही मत्स्य अवतार द्वारा मकर दैत्य के वध की कथा भी आती है।

अग्नि, वायु, आकाश आदि एक – दूसरे की तन्मात्राओं का भक्षण करते हैं और अन्त में निर्विकल्प समाधि की स्थिति शेष रह जाती है । भूमि की तन्मात्रा गन्ध को आपः अपने में लीन कर लेता है। इससे भूमि नष्ट हो जाती है। आपः की तन्मात्रा रस को अग्नि अपने में लीन कर लेता है । इससे आपः नष्ट हो जाता है। अग्नि की तन्मात्रा तेज को वायु, वायु की तन्मात्रा स्पर्श को आकाश और आकाश की तन्मात्रा शब्द को भूतादि ग्रस लेता है। पुराणों में इस स्थिति का वर्णन प्रलय के अन्तर्गत किया गया है ।

तेषां परिगृहीतानां यथा क्षुद्रा मत्स्या अक्ष्योरक्ष्यतिशीयेरन्नेवमेव ये क्षुद्राः पशव आसुस्ते अतिशेरुः।
(जैमिनीय ब्राह्मण २.११०)

छान्दोग्य श्रुति १.४.३ में एक छोटा सा आख्यान है कि देवों ने मृत्यु से बचने के लिए ऋक्, यजुष् व साम में प्रवेश किया तथा अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया। लेकिन जैसे जल में मत्स्य दिखाई दे जाता है, वैसे ही मृत्यु ने उन्हें वहां देख लिया। तब देवों ने ऋक्, यजुष् व साम से ऊपर उठ कर स्वर में प्रवेश किया और अमृतत्व को प्राप्त कर लिया। यह स्वर प्रणव है। इस आख्यान से संकेत मिलता है कि मत्स्य के परितः जो उदक् है, वह ऋक्, यजुष् व साम का प्रतीक है। इस स्थिति में मत्स्य के लिए मृत्यु से छुटकारा नहीं है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा :- त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता अस्य सृष्टाः पराभवन्।
स द्वितीया असृजत। ता अस्य परैवाभवन्। ते मत्स्या अभवन्।
(जै.ब्रा. १.१८७, २.२२८)

प्रजाओं का बद्धरूप भी मत्स्य कहा गया है। और वह मृत्युरूपी कैवर्त से जीवनदान की प्रार्थना करता है।

अथ बृहती प्रत्यौहद्विराजं शक्करीं रेवतीमिति। तानीमान्यत्यायन्। तानि देवा अन्वपश्यन् यथा मत्स्यमूर्म्या यन्तमनुपश्येदेवम्। तानि सप्तमेऽहन् समुदमज्जन् यथा मत्स्यास्समुन्मज्जयुरेवम्। तान्येतानि छन्दोमेषु सर्वाणि रूपाणि संसृज्यन्ते।
(जै.ब्रा. ३.३२९)

शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध के संदर्भ में कथन है कि पारिप्लव कृत्य के १० दिनों में से ८वें

दिन जिस वाक्य का उच्चारण किया जाता है, वह यह है –

मत्स्यः साम्मदो राजेत्याह। तस्योदकेचरा विशः। त इम आसत इति। मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति। इतिहासो वेदः सोऽयमिति। कंचिदितिहासमाचक्षीत। एवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति। न प्रक्रमान् जुहोति।

तैत्तिरीय संहिता २.६.६.१ में एक आख्यान है कि अग्नि के तीन ज्येष्ठ भाई थे जो देवों के लिए हवि का वहन करते – करते मर गए। तब अग्नि डर कर जल में जाकर छिप गये। तब मत्स्य ने देवताओं को अग्नि के छिपने का स्थान बता दिया। इस पर अग्नि ने मत्स्य को शाप दिया कि – धियाधिया त्वा बध्यासुर्यो मा प्रावोच इति तस्मान्मत्स्यं धियाधिया घ्नन्ति शप्तो हि। इस वाक्य का सायणाचार्य द्वारा भाष्य इस प्रकार किया गया है कि जालधारी कैवर्तों का जब जब मारने को मन करेगा, रात्रि हो या दिन, तब – तब वे वध करेंगे। तैत्तिरीय संहिता के कथन में धियाधिया शब्द ध्यान देने योग्य है। मत्स्य शब्द में भी कहीं मति छिपी होने का संकेत है। जब साधना में मद की, हर्ष की, अत्यन्त आनन्द की स्थिति उत्पन्न होती है तो उस मद पर नियन्त्रण करना आवश्यक है। उस मद का बुद्धि में, धी में, मति में अवशोषण करना पडता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में कुछ आख्यान तो सूत्ररूप में हैं किन्तु उनका वास्तविक विस्तृत रूप पुराणों के बिना ज्ञात नहीं हो सकता है।

अब आपकी उस बात पर आते हैं, जहाँ आपने कहा कि आप सौभाग्य से अन्य रामायणों की चर्चा नहीं कर रहे। अजी, आप करके तो देखें - आनन्द रामायण, अध्यात्म रामायण आदि में भी आपको सीतात्याग का उल्लेख विस्तार से मिलेगा। अब हास्यास्पद बात यह है कि कल मैं आपके द्वारा लिखित अध्यात्म रामायण के अपाणिनीय सन्दर्भ वाली पीएचडी के पत्र देख रहा था तो उसमें आपने अध्यात्म रामायण के उत्तरकाण्ड से कई श्लोक उद्धृत किए हैं। अब जब मैं अध्यात्म रामायण के उसी उत्तरकाण्ड से सीतात्याग का प्रमाण देता हूँ तो आप कहते हैं कि ये प्रमाण मैं मानूंगा नहीं।

आपका यह दावा कि वाल्मीकि रामायण से पूर्व किसी रामायण की रचना हुई ही नहीं थी, इस बात पर मैं कहूंगा कि रामतापिन्युपनिषत् में जो वेदोक्त रामायण है, और जो अनुष्टुप्छन्द में छन्दोबद्ध है उसका क्या ? वाल्मीकीय रामायण को पौरुषेय ही माना जाएगा, अपौरुषेय नहीं अपौरुषेय वेदोक्त रामायण तो रामतापिन्युपनिषत् में ही सूत्ररूप से वर्णित है।

अब आपके उस गर्दभराग का मर्दन करते हैं जो आप प्रारम्भ से बजाये जा रहे हैं - यथा ते नारदाच्छ्रुतम्। जो ब्रह्मदेव ने कहा कि - वाल्मीकि ! तुम वैसा ही लिखो, जैसा नारद के मुख से सुना। लेकिन महाशय ! जब ब्रह्माजी ने आदेश दिया कि 'तुम लिखो', तो उसी क्षण रामायण पौरुषेय ग्रन्थ हो गया, स्मृतिकोटि का हो गया। और आप यथा ते नारदाच्छ्रुतम् में जाकर रुक क्यों गये ? आगे भी तो बताईये -

वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम्। रहस्यञ्च प्रकाशञ्च यद्वृत्तं तस्य धीमतः॥
रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानाञ्च सर्वशः। वैदेह्याश्चैव यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः॥
तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।
न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति॥
(वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग - ०२, श्लोक - ३३-३५)

ब्रह्माजी कहते हैं - धीर रामजी का चरित्र जैसा तुमने नारद जी के मुख से सुना, वैसा लिखो। जो उनकी लीला में प्रकट बात है और जो रहस्य लीला है, वैसे ही बुद्धिमान् भगवान् राम का लक्ष्मण के साथ चरित्र लिखो, और सभी राक्षसों का भी लिखना। (इसीलिए तो उत्तरकाण्ड में रावण आदि का भी वर्णन किया) सीताजी का भी जो वृत्तान्त प्रकट या गुप्त है, वह सब तुम्हें ज्ञात हो जाएगा, तुम्हारी वाणी (लेखनी) असत्य नहीं होगी।

तो अ(ति)बुद्धिमान् बन्धो ! यदि वाल्मीकि जी को केवल वही और उतना ही लिखना था, जो उन्होंने नारद जी के मुख से सुना था, फिर ब्रह्माजी को इसके बाद यह क्यों कहना पड़ा

कि प्रकट और अप्रकट रहस्यों को तुम जान जाओगे, सीताजी का भी रहस्यवृत्तान्त जान जाओगे, आदि आदि। आप स्पष्ट लिखते हैं "यदि वेद भगवान् ने उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कह दिया, वाल्मीकि जी ने सीताजी का निर्वासन नहीं माना, शम्बूक का वध नहीं माना तो कितने भी पुराण कहते रहें, कहने दीजिये।" महोदय ! वेद भगवान् या वाल्मीकि जी ने कहीं नहीं कहा कि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। यह तो शास्त्रज्ञान से हीन "आप" जैसे दम्भियों का प्रलाप है, जिसका आरोपण आप वेदों के ऊपर कर रहे हैं। शतकोटिप्रविस्तरम् में अन्य बहुत से मान्य रामायण आते हैं।

१- महारामायण- इसमें ३,५०,००० श्लोक हैं। शङ्कर-पार्वती के संवादरूप इस रामायण में कनकभवनविहारी राम की ९९ रासलीलाओं का वर्णन है।
२- संवर्त रामायण- नारदकृत इस रामायण में २४,००० श्लोक हैं। इसमें स्वायम्भुव मनु और शतरूपा की तपस्या तथा उनका दशरथ कौसल्या के रूप में आविर्भाव वर्णित है ।
३- लोमश रामायण ३२,००० श्लोकों की यह लोमश ऋषि की कृति है। इसमें राजा कुमुद और वीरवती के दशरथ कौसल्या के रूप में जन्म का वर्णन है ।
४- अगस्त्य रामायण - यह १६,००० श्लोकों का ग्रन्थ है। इसमें प्रतापभानु की कथा है तथा राजा कुन्तल और सिन्धुमती का दशरथ कौसल्या के रूप में जन्म वर्णित है।
५- मञ्जुल रामायण - सुतीक्ष्ण कृत १,२०,००० श्लोकों की यह कृति है। इसमें भी प्रतापभानु की कथा तथा शबरी के प्रति राम द्वारा नवधा भक्ति का वर्णन है।
६- सौपद्म रामायण - अत्रि कृत इस रामायण में ६२,००० श्लोक हैं। इसमें पुष्पवाटिका प्रसङ्ग वर्णित है ।
७- महामाला रामायण - शिव-पार्वती संवादरूप यह रचना ५६,००० श्लोकों की है। इसमें भुशुण्डि द्वारा गरुड-मोह का निवारण किया गया है ।
८- सौहार्द्र रामायण – शरभङ्ग मुनि की यह कृति ४०,००० श्लोकों की है । इसमें राम और लक्ष्मण के द्वारा वानरी भाषा समझने और बोलने का उल्लेख है ।
९- मणिरत्न रामायण - ३६,००० श्लोकों की इस कृति में वसिष्ठ और अरुन्धती का संवाद है। इसमें श्रीराम द्वारा मिथिला-अयोध्या में वसन्तोत्सव मनाने का उल्लेख है।
१०- सौर रामायण - ६२,००० श्लोकों की इस कृति में हनुमान् का संवाद वर्णित है। इसमें शुकचरित्र तथा शुकपक्षीका रजक बनकर सीतात्याग में कारण बनना वर्णित है। इसका

समर्थन पद्मपुराण में भी है।

११- चान्द्र रामायण - ७५,००० श्लोकों वाली इस कृति में केवट के पूर्वजन्म की कथा विशेषरूप से वर्णित है।

१२- मैन्द रामायण - इसमें ५२,००० श्लोक तथा मैन्द-कौरव का संवाद है। इसमें भी पुष्पवाटिका प्रसङ्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

१३- स्वायम्भुव रामायण - १८,००० श्लोकों की इस रामायण में ब्रह्मा नारद का संवाद है। इसमें मन्दोदरी के गर्भ से सीता के जन्म का वर्णन है। यही सीता बाद में जनकपुर की भूमि में दबा दी गयी थी।

१४- सुब्रह्म रामायण - इसमें ३२,००० श्लोक हैं ।

१५- सुवर्च रामायण - इसमें १५,००० श्लोक तथा सुग्रीव-तारा का संवाद है। इसमें सुलोचना की कथा, रजक-रजकीसंवाद, रावण के चित्र के कारण शान्ता की चुगली और शान्ता के प्रति सीता का शाप, उसे पक्षी योनि की प्राप्ति एवं महारावण का वध वर्णित है।

१६- देवरामायण- इन्द्र और जयन्त के संवादरूप इस रामायण में १,००,००० श्लोक हैं।

१७- श्रवण रामायण- इसमें इन्द्र-जनक संवाद तथा १,२५,००० श्लोक हैं । इसमें मन्थरा की उत्पत्ति तथा चित्रकूट में भरत की यात्रा के समय जनक का आगमन वर्णित है।

१८- दुरन्त रामायण - इसमें ६१,००० श्लोक तथा वसिष्ठ-जनक संवाद है। इसमें भरत की महिमा वर्णित है।

१९ - रामायण चम्पू - १५,००० श्लोकों की इस कृति में शिव नारद का संवाद है। इसमें शीलनिधि राजा के यहां नारद-विश्वमोहिनी स्वयंवर का वर्णन है।

२० - पुराकल्प रामायण – जाम्बवान्-श्रीराम संवाद के इस लघु रामायण में राजा दशरथ की कौसल्या, सुमित्रा, सुरूपा एवं सुवेषा, चार पत्नियों का वर्णन है।

२१ - कौशिक रामायण - विश्वामित्र और देवरात् संवाद के इस रामायण में शम्बूक का चरित्र विस्तार से वर्णित है।

२२ - भुशुण्डि आदिरामायण – ३६,००० श्लोकों की इस रामायण में ब्रह्मा और काकभुशुण्डि का संवाद है। इसमें श्रीराम और लक्ष्मण की वृन्दावन में की गयी गुप्त बाललीलाओं और रासलीलाओं का वर्णन है। इसके अतिरिक्त शैवरामायण, अद्भुत रामायण, आग्निवेश्य रामायण आदि अनेकों प्रामाणिक रामायण हैं। अनन्त रामायणों और उनकी प्रामाणिकता का समर्थन स्वयं ब्रह्मदेव करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि समाधि में

भली प्रकार से देखकर वाल्मीकि उसका वर्णन करेंगे। मात्र नारद जी के मुख से सुनना पर्याप्त होता तो ऐसा कहना क्यों पड़ता ?

अनन्तं चरितं तस्य वक्तुं नो पारये द्विज।
समाधौ तु सकृद्दृष्ट्वा वाल्मीकिः कथयिष्यति॥
मयापि भवते वाच्यं समाधावुपलभ्य हि।
विना समाधिसंयोगं कथं वक्तुं क्षमोऽस्म्यहम्॥
वाल्मीकिनोदितं दिव्यं रामायणमुदाहृतम्। अन्यत्तु रामानुक्रीडं तद्रामायण मेव हि॥
(भुशुण्डि आदिरामायण, पूर्वखण्ड, नवम अध्याय, श्लोक - १२-१४)

और आगे देखें -

हयग्रीवेण यत्प्रोक्तं यच्च वल्मीकजेन च।
मया त्वया च यत्प्रोक्तं वशिष्ठेन तथोदितम्॥
तदंशमात्रकं विद्धि रामायणमनन्तकम्॥
(भुशुण्डि आदिरामायण, पूर्वखण्ड, नवम अध्याय, श्लोक – २९-३०)

अब आपने जो वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के तीसरे सर्ग में वर्णित कथासूची की चर्चा की है, तो ऐसा करके आपने अपना ही पक्ष ध्वस्त किया है। आपने क्या कहा ? नारद जी के मुख से जो बात वाल्मीकि जी ने नहीं सुनी, वो कैसे लिख सकते हैं। जबकि वाल्मीकि जी बालकाण्ड के तीसरे सर्ग के ग्यारहवें श्लोक में लिखते हैं -

नाना चित्राः कथाश्चान्या विश्वामित्रसहायने।
जानक्याश्च विवाहञ्च धनुषश्च विभेदनम्॥

अब बतायें, विश्वामित्र सहायता, सीताविवाह और धनुषभङ्ग की कथा क्या मूलरामायण में नारद जी ने वर्णित की है ? आगे देखें -

रामरामविवादञ्च गुणान् दाशरथेस्तथा।

क्या परशुरामजी और श्रीरामजी का विवाद मूलरामायण में वर्णित है ? आगे अठारहवें श्लोक में देखें -

अनसूयासमाख्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम्॥

क्या अनसूया-सीता-संवाद नारद जी ने मूलरामायण में वाल्मीकि जी को बताया है ? सत्ताईसवें और अट्ठाईसवें श्लोक में देखें -

समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्य च दर्शनम्॥
राक्षसीतर्जनं चैवच्छायाग्राहस्य दर्शनम्। सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम्॥

सुन्दरकाण्ड में वर्णित मैनाक प्रसङ्ग, सिंहिकावध और लङ्का के वैभव का दर्शन नारद जी ने बताया है ?

राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम्।

राक्षसियों के द्वारा सीताजी को डराना और त्रिजटा का स्वप्न देखना, ये सब मूलरामायण में वर्णित है ? पैंतीसवें श्लोक से आगे देखें -

विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम्॥

विभीषण का श्रीरामजी से मिलना, रावण के वध का उपाय बताना आदि वर्णित हैं क्या ?

कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम्।

कुम्भकर्ण और मेघनाद के वध का वर्णन नारद जी ने मूलरामायण में किया है क्या ? किन्तु तृतीय सर्ग के अन्तिम श्लोकों को देखें -

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम्॥
अनागतं च यत् किञ्चिद्रामस्य वसुधातले।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः॥

तो इस प्रकार से सीताजी का विसर्जन अर्थात् परित्याग, और भविष्य की अनागत घटनाओं का वर्णन वाल्मीकि जी ने उत्तरकाण्ड में किया है, इस बात का वर्णन स्पष्ट मिलता है। चतुर्थ सर्ग में षट्काण्डानि तथोत्तरम् कहकर इस बात को पुष्ट किया गया।

अब आप कहेंगे कि शम्बूक वध ? तो जैसे मूलरामायण में नारद जी ने वाल्मीकि जी को अहल्या-उद्धार तथा अयोमुखीनिग्रह की कथा नहीं बतायी, साथ ही तीसरे सर्ग की कथासूची में भी वाल्मीकि जी ने न तो अहल्योद्धार और न ही अयोमुखीप्रसङ्ग की चर्चा की, फिर भी आगे प्रसङ्गवश वर्णन किया है, तो उसी प्रकार शम्बूकवध का उल्लेख भले ही नारद जी ने मूलरामायण में नहीं किया और तीसरे सर्ग की कथासूची में भी नहीं है, तो भी प्रसङ्गवश वाल्मीकि जी ने इसका वर्णन उत्तरकाण्ड में किया। उत्तरकाण्ड को वेद या वाल्मीकि प्रक्षिप्त नहीं कह रहे, आप कह रहे हैं।

अब हम आपकी उस बात पर आते हैं जहाँ आपने वैदेह्याश्च विसर्जनम् शब्द की व्याख्या में अज्ञानवमन किया है। आचार्य कुमारिलभट्ट कहते हैं कि प्रचलित सिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रचलित असिद्ध अर्थ की कल्पना व्याख्याकारों को नहीं करनी चाहिए।

प्रसिद्धहानिः शब्दानामप्रसिद्धे च कल्पना।
न कार्या वृत्तिकारेण सति सिद्धार्थसम्भवे॥
(श्लोकवार्तिक, प्रतिज्ञासूत्र, श्लोक - ३५)

आपके द्वारा जो विसर्जन शब्द का अर्थ गर्भाधान लगाया जा रहा है, उसका पोस्टमार्टम मैं पहले ही कर चुका हूँ, पुनः कर देता हूँ। विसर्जन शब्द उसी श्लोक में दो बार आया है,

एक बार सेना हेतु, एवं एक बार सीताजी के निमित्त। पहले वाले का अर्थ आप परित्याग ले रहे हैं तो दूसरे वाले का क्यों नहीं ? और यदि दूसरे वाले का अर्थ विशिष्ट रचना से ले रहे हैं तो पहले वाले का क्यों नहीं ? यद्यपि एक ही श्लोक में एक ही शब्द अनेकों बार आकर अनेकों अर्थ को धारण कर सकते हैं, यह संस्कृतप्रातिभ से सिद्ध है किन्तु यहाँ आपने विसर्जन शब्द का रचना से लगाकर अपनी अज्ञानता को ही सिद्ध किया है और साथ ही, प्रतिभाप्रमाण भी किसी दर्शन या मत में ग्रहण नहीं किया जाता। किसी भी टीकाकार और आचार्य ने ऐसा अर्थ नहीं किया है। यदि विसर्जन शब्द का अर्थ गर्भाधान से मान भी लें तो सीताजी गर्भभ्रूण का अधिकरण हैं। वैदेह्यां होना चाहिए था, वैदेह्याः नहीं अन्यथा अर्थ हो जायेगा कि सीताजी की माताजी में आधान हो रहा है। आप स्वयं कहते हैं कि यहाँ षष्ठी है किन्तु अर्थ सप्तमी का लगाकर भ्रम फैला रहे हैं।

आपने पूछा कि विसर्जन शब्द क्यों कहा, त्यजन शब्द क्यों नहीं ? तो मैं आपको बता दूँ कि विसर्जन का अर्थ त्याग भी होता है, इसीलिए अलग से त्यजन नहीं कहा। उन्हें पता होता कि भविष्य में आप जैसे अर्थज्ञानहीन जन होने वाले हैं तो सम्भवतः त्यजन ही लिखते। यदि वे ऐसा करते भी तो छन्दोभंग का आरोप लगाकर आप उसे भी प्रक्षिप्त कह देते। अस्तु, विसर्जन के इतर त्यजन के अर्थ में सीतात्याग का निम्न प्रमाण ग्रहण करें -

लोकापवादाच्च परं ततस्तत्याज तां प्रियाम्।
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध - ०४, अध्याय - २५)

लोकापवादात्संत्रस्तः सीतां तत्याज धर्मवित्।
(नारदपुराण, उत्तरार्ध, अध्याय - ७५)

यथा सीता परित्यक्ता यथा सौमित्रिणा कृतः।
परित्यागः स्वकीयस्य संत्यक्तेन महात्मना॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय – १०३, श्लोक - २४)

सीतां तत्याज सहसा वने लोकापवादतः ॥
(गर्गसंहिता, मथुराखण्ड, अध्याय – १०)

उन्मत्तेव जगत्यस्मिन्नपवादपिशाचिका ।
अपि प्राणाधिका सीता त्यज्यते तृणवन्मया ॥
(रामायणमञ्जरी, उत्तरकाण्ड - ७७१)

यहाँ सर्वत्र त्यज् धातु ही है। इसके अतिरिक्त सीताजी स्वयं आपसे सहमत नहीं हैं। वे तो कहती हैं कि विसर्जन का अर्थ मातृत्व का आधान नहीं, त्यागना ही है। प्रमाण देखें, उन्होंने स्वयं वाल्मीकि जी से कहा है -

श्रृणु मे वाक्यमर्थोक्तं सर्वदुःखस्य कारणम् ।
जानीहि मां भूमिपते रघुनाथस्य सेवकीम् ॥
अपराधं विना त्यक्ता न जाने तत्र कारणम् ।
लक्ष्मणो मां विमुच्यात्र गतवान्राघवाज्ञया ॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५९)

एक ओर आप कहते हैं कि कुश और लव का जन्म घर में ही हुआ, न कि जंगल में। दूसरी ओर वेदोपबृंहणार्थाय आदि शब्दों से आप ही कहते हैं कि वाल्मीकि जी ने लवकुश को रामायण पढ़ाई। फिर आप कहते हैं कि लवकुश क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण नहीं इसीलिए रामजी उनसे रामायण नहीं सुन सकते। फिर आप श्लोक में 'राजपुत्रौ' होने पर भी यही कहते हैं कि 'गन्धर्वपुत्र' रामजी को रामायण सुनाने आये, जबकि ब्राह्मण तो गन्धर्वपुत्र भी नहीं होते। फिर आप कहते हैं कि मैं केवल वेदों की बात मानूंगा, मैं पुराणों को प्रमाण नहीं मानता हूँ, इसके बाद आपको लवणासुरवध की कथा को प्रक्षिप्त भी मानना है -

द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम् । लवणासुरहन्तारं सुमित्रातनयं भजे ॥
(श्रीरामरहस्योपनिषत्, अध्याय - ०२, श्लोक - ११४)

इस प्रकार से वेदों में ही शत्रुघ्न जी के द्वारा लवणासुर के वध का वर्णन होने पर आप वेदों को भी नहीं मानते। आपने अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में ही लिखा है - यन्न भारते, तन्न भारते। जो महाभारत में घटना वर्णित नहीं हुई है, वो कभी हुई ही नहीं, अतः जो महाभारत में नहीं, उसे मैं नहीं मानता। लेकिन महाभारत में प्रतापभानु की कथा और सती के द्वारा श्रीराम जी से छल की बात न होने पर भी श्रीरामचरितमानस के आधार पर आप उसे प्रमाणित मानकर प्रवचन करते हैं। किन्तु उसी श्रीरामचरितमानस में जब गोस्वामीजी मानस का समर्थन वेदों से पहले पुराणों से दिलाते हैं - नानापुराणनिगमागमसम्मतं कहते हैं तो आप अब कह रहे हैं कि मैं पुराणों को प्रामाणिक नहीं मानता, नहीं मानता, नहीं मानता।

अच्छा, वेदों को प्रामाणिक और स्वतः प्रमाण कहने के बाद आप अपने प्रवचन में वेदमन्त्रों को ही बदल कर द्यौ: शान्तिः से हटाकर द्यौः क्रान्तिः करने की बात करने लगते हैं। और हास्यास्पद बात यह है कि जब मैं सात काण्डों के समर्थन में उमा संहिता और गर्ग संहिता से प्रमाण देता हूँ तो एक ओर आप स्वयं कहते हैं कि चाहे सैकड़ों संहिताओं से प्रमाण ले आओ, मैं मानूंगा ही नहीं, वो प्रमाण में नहीं गिने जाएंगे। और दूसरे ही पल निर्लज्जता की निकृष्टतम सीमा पर उतरकर आप स्वयं ही मेरे विरुद्ध अगस्त्य संहिता का प्रमाण प्रस्तुत कर बैठते हैं। मुझे यह समझ नहीं आ रहा है कि आपका मानसिक सन्तुलन ठीक तो है ? अच्छा चलो, कम से कम मेरे विरुद्ध आपने जो अगस्त्य संहिता का प्रमाण दिया है, उससे यह तो सिद्ध होता है कि आप बाकी संहितादि को भले नहीं, किन्तु अगस्त्य संहिता को तो प्रमाण में गिनेंगे ही।

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु यो यो नियम उच्यते।
यस्य यस्याश्रमन्यायो न मोक्तव्यो मुमुक्षुभिः॥
(अगस्त्य संहिता, अध्याय - ०२, श्लोक - ०९)

श्रुति, स्मृति और पुराणों में आश्रम के अनुरूप जिसका जो नियम बताया गया है, उसका

परित्याग मुमुक्षुओं को नहीं करना चाहिए। इस प्रकार आपके द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत अगस्त्य संहिता से ही सिद्ध होता है कि पुराणों की प्रामाणिकता कितनी अधिक है। क्या हुआ ? मन नहीं भरा ? और प्रमाण लीजिए -

ऋग्यजुःसामसूक्तैश्च स्मार्तैः पौराणिकैरपि। मन्त्रैरागमिकैश्चैव वैष्णवैर्देवमर्चयेत्॥
(अगस्त्य संहिता, अध्याय - १७, श्लोक - २१)

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के सूक्तों से, स्मृति और पुराणों में कहे गये मन्त्रों से तथा वैष्णवागम में बताये गये विधान से देव (श्रीराम) की पूजा करे। इस प्रकार आपके द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत अगस्त्य संहिता से ही सिद्ध होता है कि पुराणों की प्रामाणिकता कितनी अधिक है। क्या हुआ ? मन नहीं भरा ? और प्रमाण लीजिए -

श्रुतिस्मृतिपुराणार्थनिश्चयज्ञानवित्तम। सन्देहं छिन्धि पृच्छामि तातत्रानुग्रहं कुरु॥
(अगस्त्य संहिता, अध्याय - १९, श्लोक - १६)

सुतीक्ष्ण जी कहते हैं - अगस्त्य जी ! आप वेद, स्मृति, पुराण, के ज्ञान को निश्चयपूर्वक जानते हैं अतः मैं आपसे प्रश्न करता हूँ, आप मेरे सन्देह का नाश करें और कृपा करें।

ऋषि अगस्त्य जी वेदों, स्मृतियों और पुराणों के ज्ञान को तत्त्वतः जानते थे इसीलिए उनकी इतनी महत्ता थी। जो पुराणों की कथा को नहीं जानता, वह भला वेदों को कैसे जान सकता है ? शब्दापशब्दविवेककार ने इसीलिए लिखा है - यः पुराणकथाभिरपरिचितः स वेदार्थं कथमुपबृंहयेत् ? (शब्दापशब्दविवेक) इस प्रकार आपके द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत अगस्त्य संहिता से ही सिद्ध होता है कि पुराणों की प्रामाणिकता कितनी अधिक है। क्या हुआ ? मन नहीं भरा ? और प्रमाण लीजिए -

वैष्णवागमसिद्धान्तश्रवणं मननं तथा।
श्रुतिस्मृतिपुराणादिमध्यान्तोदर्कदर्शनम्॥

सिद्धान्तश्रवणं ह्येतत् प्रोच्यते तत्त्वदर्शिभिः।
(अगस्त्य संहिता, अध्याय - १९, श्लोक - ६०)

तत्त्वदर्शियों के द्वारा किस क्रिया को सिद्धान्तश्रवण कहा गया है ? वैष्णवागम के सिद्धान्त, वेद, स्मृति, पुराण के प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त में जो 'उदर्क' अर्थात् कर्मपरिणाम वर्णित है, उसका श्रवण और मनन करना। इस प्रकार आपके द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत अगस्त्य संहिता से ही सिद्ध होता है कि पुराणों की प्रामाणिकता कितनी अधिक है। क्या हुआ ? मन नहीं भरा ? और प्रमाण लीजिए -

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सर्वत्र प्रतिपादितम्। सर्वात्मनापि चैतन्यं सर्वमात्मनि नापरम्॥
(अगस्त्य संहिता, अध्याय - २३, श्लोक - १२)

वेद, स्मृति और पुराणों में, सर्वत्र यह बात कही गयी है कि आत्मा की प्रतिष्ठा चैतन्यता में है और चैतन्यत्व आत्मा में प्रतिष्ठित है, दोनों भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार आपके द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत अगस्त्य संहिता से ही सिद्ध होता है कि पुराणों की प्रामाणिकता कितनी अधिक है। क्या हुआ ? मन नहीं भरा ? और प्रमाण लीजिए -

प्रतिमायां विशेषेण अर्चयेद्रघुनन्दनम्। पौराणस्तोत्रपाठैश्च वेदपारायणेन च॥
(अगस्त्य संहिता, अध्याय - २८, श्लोक - ३९)

विशेषकर प्रतिमा में श्रीरामजी की पूजा पुराणों में बताये गये स्तोत्रों से तथा वेद के पारायण से करे। इस प्रकार आपके द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत अगस्त्य संहिता से ही सिद्ध होता है कि पुराणों की प्रामाणिकता कितनी अधिक है। क्या हुआ ? मन नहीं भरा ? और प्रमाण लीजिए - और हां, अब ये प्रमाण कोई सामान्य प्रमाण नहीं है। स्वयं भगवान् आद्यरामानन्दाचार्य जी ने पुराणों का अध्ययन किया -

आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः।

रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धरणकारणः ॥
अष्टमेऽब्दे चोपवीतं जातं तस्य तदा ह्यसौ ।
ब्रह्मचर्यं गृहीत्वा तु विद्याभ्यासं करिष्यति ॥
वर्षे (तु) द्वादशे जाते काश्यां गत्वा पुनः स्वयम् ।
वेदवेदाङ्गशास्त्राणि पुराणानि पठिष्यति ॥
(अगस्त्य संहिता, भविष्यखण्ड, अध्याय - १३२, श्लोक - १३-१५)

दूसरे सूर्य के समान तेजस्वी, संसार के उद्धार के निमित्त महायोगी रामानन्द का जन्म हुआ। आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत होने के बाद वे ब्रह्मचर्यव्रत का आश्रय लेकर विद्याध्ययन करेंगे। बारह वर्ष के होने पर स्वयं काशी जाकर वेद, वेदाङ्ग शास्त्र एवं पुराणों को पढ़ेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं भगवान् रामानन्दाचार्य जी ने पुराणों का अध्ययन किया क्योंकि पुराणों के बिना वेदों का तात्पर्य समझ नहीं आ सकता।

अब मैं आपके उस बात का खण्डन करता हूँ जिसमें आपने पुराणों को तो परतः प्रमाण कहकर नकार दिया किन्तु **वेदैश्च सम्मितम्** कहकर वाल्मीकीय रामायण को वेदों के समान स्वतः प्रमाण बता दिया। तो लीजिये, यदि **वेदैश्च सम्मितम्** शब्द से ही आपको यह बोध होता है कि अमुक ग्रन्थ वेदतुल्य होकर स्वतः प्रमाण हो गया है तो इस हिसाब से अब मैं पुराण को भी वेदसम्मित शब्दमात्र के आधार पर आपके ही तर्क के अनुसार वेदतुल्य स्वतःप्रमाण सिद्ध कर दूंगा। और हाँ, ये मत कहिएगा कि पुराणों ने ये बात स्वयं कही है, स्वयं तो कोई भी अपने बारे में अच्छा ही कहेगा। ऐसा इसीलिए क्योंकि **वेदैश्च सम्मितम्** वाली बात आपने वाल्मीकीय रामायण से ही उद्धृत की है तो मैं भी पुराणों से ही ग्रहण करूँगा। और जो आप कहें कि आपने अगस्त्य संहिता से भी प्रमाण दिया है तो मैं यह कहूंगा कि आप स्वयं लिखित रूप से कह चुके हैं कि आप संहिताओं के प्रमाण को प्रमाण मानते ही नहीं। एवं या तो आप इस अनुसार अगस्त्य संहिता के प्रमाण को भी नहीं मान सकते या फिर उत्तरकाण्ड के समर्थन में मेरे द्वारा उमासंहिता और गर्गसंहिता के प्रमाण को भी स्वीकार करें। वैसे अगस्त्य संहिता के आधार पर मैं पुराणों की प्रामाणिकता सिद्ध तो कर ही चुका हूँ किन्तु यदि वेदसम्मित शब्द ही प्रधान है तो वह भी ग्रहण करें -

ब्रह्मपुराण के प्रथम अध्याय, श्लोक - २९ में कहते हैं - **गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेदसम्मितम्।** श्रीमद्देवीभागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध, प्रथम अध्याय, श्लोक - १६ में कहते हैं - **तत्र भागवतं पुण्यं पञ्चमं वेदसम्मितम्।** वायुपुराण के पूर्वार्द्ध, अध्याय - ०४ के श्लोक ११ में कहते हैं - **पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि मारुतं वेदसम्मितम्।** वहीं पहले अध्याय के नवें श्लोक में भी कहा है - **पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि ब्रह्मोक्तं वेदसम्मितम्।** शिवपुराण की विश्वेश्वरसंहिता, अध्याय – ०२, श्लोक - ४८ में कहते हैं - **तदिदं शैवमाख्यातं पुराणं वेदसम्मितम्।** पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के प्रथम अध्याय के नवम श्लोक में भगवान् शिव कहते हैं - **श्रृणु नारद वक्ष्यामि पुराणं वेदसम्मितम्।** और इसी पद्मपुराण से मैंने सीतात्याग, स्वर्णसीता, शम्बूकवध आदि सिद्ध किया है। भगवान् श्रीराम की इन कथाओं के बाद क्या कहते हैं ? पद्मपुराण के उत्तरखण्ड के अध्याय २५४ में कहते हैं - **इति ते रामचन्द्रस्य माहात्म्यं वेदसम्मितम्।** ऐसे ही ब्रह्माण्ड और ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि में भी वर्णन है। आप कहते हैं कि आपको रामायण को जानने हेतु पुराणों की आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वयं भगवान् शिव क्या कहते हैं ? पहला प्रमाण सात काण्ड का और दूसरा प्रमाण इसका कि रामायण को समझने हेतु पुराणों की आवश्यकता है -

कृत्वैकत्र शेषभूतं सप्तकाण्डमितं शुभम्॥
(आनन्द रामायण, यात्राकाण्ड, सर्ग - ०२, श्लोक – ६६)

भागाद्भरतखण्डान्तर्गताद्रामायणात्पुरा। नारदादिपुराणेषु व्यासेनात्र कृतानि हि॥
तेषु मत्कथितं चेदं सम्यग्विस्तारितं द्विज।
तव जातो यथा शिष्य सन्देहोऽत्र कथान्तरात्॥
भविष्यति तथाऽन्येषामग्रे यदि कदा क्वचित्। नारदादिपुराणेषु दर्शनीयं हि तैर्जनैः॥
दृष्ट्वा मदुक्तं सर्वेषु पुराणादिषु पण्डितैः।
त्यक्तव्याः स्वीयसंदेहाः सत्यं ज्ञेयं मयेरितम्॥
(आनन्द रामायण, पूर्णकाण्ड, सर्ग - ०७, श्लोक – ३३-३६)

आचार्य रामदास कहते हैं - पहले रामायण विभाजन के अंतर्गत भारतवर्ष को जो रामायण भाग मिला था, उसी का आश्रय लेकर नारद पुराण आदि में भी वेदव्यास आदि के द्वारा वर्णन किया गया है और मैंने भी विस्तार से उनका वर्णन किया है। (इसके बाद का अर्थ ध्यान से पढ़ें) हे शिष्य ! कथाओं में भेद होने से तुम्हारे मन में जो सन्देह हो गया, ऐसा ही सन्देह यदि भविष्य में किसी और व्यक्ति को कभी हो तो उस व्यक्ति को नारद पुराण आदि को देखना चाहिए। पंडितों को चाहिए कि मेरे द्वारा कही गयी कथाओं को अन्य पुराणों में भी देखकर अपने सन्देह का निवारण करें।

और तीसरा प्रमाण इस बात का कि जैसे वेदैश्च सम्मितम् होने के कारण श्रीरामभद्राचार्य वाल्मीकीय रामायण को वेदतुल्य स्वतः प्रमाण मान रहे हैं वैसे ही नारदपुराण को भी उनके ही तर्क से वेदतुल्य स्वतः प्रमाण मानना पड़ेगा क्योंकि नारद पुराण के उत्तरार्द्ध के अध्याय – ५३ के तृतीय श्लोक में कहते हैं - शृणुष्व चारुनयने पुराणं वेदसम्मितम्। नारद पुराण से ही सीतात्याग आदि का प्रमाण मैं दे चुका हूँ और वेदसम्मित शब्द के आधार पर ये भी स्वतः प्रमाण हो जायेंगे। किन्तु यदि स्वयम्भू जगद्गुरु कहते हैं कि पुराणों और संहिताओं से हजारों प्रमाण मिलने पर भी वे सीतापरित्याग को नहीं मानेंगे तो फिर वेदों से ही इसका प्रमाण ग्रहण करें -

स रुद्रेभिरशस्तवार ऋभ्वा हित्वी गयमारे अवद्य आगात्।
वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नमभीत्यारोदयन्मुषायन्॥
(ऋग्वेद, दशम मण्डल, सूक्त - ९९, मन्त्र - ०५)

इसकी व्याख्या में आचार्य नीलकण्ठ चतुर्धर मन्त्र-रामायण में लिखते हैं - स रुद्रेभिरिति॥ स रामो रुद्रेभिर्हनुमदादिभिः सहायैः ऋभ्वा ऋतेन भासनया देव्या सीतया सह गयं स्वस्थानं आगात् आगतवान्। कीदृश ? आरे अवद्य दूरनिरस्तदोषः सीतां रावणहृतां सर्वदेवसन्निधौ संशोध्य इत्यर्थः। एतत्सर्वं सभविष्यं रामायणं वम्रस्य वाल्मीकेः सम्बन्धिनौ शिष्यौ मिथुनौ द्वौ कुशलवौ विवव्री तस्मादधीत्य लोके विशेषेण वितृतवन्तौ इत्यहं मन्ये जानामीति मन्त्रद्रष्टुरुक्तिः। तत्र भविष्यमाह - अन्नमिति।

मुषायन् स्तेनो रावणः अन्नं पृथिवीं तद्रूपां सीताम्। अन्नशब्दः पृथिव्याम्, 'ता अन्नमसृजन्त' इति छान्दोग्ये। दृष्टः अभीत्य अभ्येत्य अरोदयत। रावणस्पर्शनिमित्तापवादपरिहारार्थं रामेण त्यक्ता सीता रोदनं कृतवतीत्यर्थः।

सरल शब्दों में इसका अर्थ यह है कि - प्रतिकूल समय में अपने घर का परित्याग करके वनवास में गए हुए श्रीराम, अपने हनुमान् आदि सहायकों के साथ सत्य के तेज से प्रकाशित सीता जी के साथ अपने स्थान, घर को लौट गए। किस प्रकार से ? रावण के द्वारा हरण कर ली गयी सीता को सभी देवताओं के सामने शुद्ध सिद्ध करके उसके दोष का निवारण करके लौट गए। यह सब कुछ वृत्तान्त, और भी जो भविष्य में घटित होने वाला था, उस रामायण को दीमक की बाम्बी से निकले वाल्मीकि के सम्बन्धी जुड़वां शिष्य कुश एवं लव ने उनसे ही पढ़कर संसार में विशेष प्रकार से उसे प्रसारित किया, ऐसा मैं जानता हूँ, ऐसी मन्त्रद्रष्टा ऋषि की उक्ति है। यहां पर भविष्य का क्या अर्थ है ? अन्न पृथ्वी है और उसका प्रतिरूप सीता हैं, जिनका अपहरण रावण करता है। छान्दोग्यश्रुति में अन्न का भाव पृथ्वी से लिया गया है। रावण के द्वारा इसका स्पर्श किया गया था, इस अपवाद (लोकनिन्दा) के निवारण हेतु राम के द्वारा परित्याग की गयी सीता रोने लगी, ऐसा इसका अर्थ है। अब शम्बूक वध का भी प्रमाण वेदों से ही देखें -

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
दासं यच्छुद्रं कुयवं न्यस्मा अरुन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥
(ऋग्वेद, सप्तम मण्डल, सूक्त - १९, मन्त्र - ०२)

इसकी व्याख्या में आचार्य नीलकण्ठ चतुर्धर मन्त्र-रामायण में लिखते हैं - लोकस्थोऽपि अलौकिकं कर्म करोषीत्याह - त्वं हेति। हे इन्द्र त्वं ह प्रसिद्ध त्यत् इतरेषां परोक्षं कुत्सं ऋषिं आवः रक्षितवानसि कदा समर्ये कालेन सह स्पर्द्धायां सत्याम्। तन्वा मृतस्य पुत्रस्य शरीरेण सहागतस्य पितुर्वाक्यं शुश्रूषमाणः मनसि कुर्वन् मृतं पुत्रमानीय द्वारि शोचतो विप्रस्य वाक्यं श्रुत्वा यममपि जित्वा तत्पुत्रमानीतवानसीत्यर्थः। कथं मृतमपि रक्षितवानित्यत आह - दासमिति। दासं शूद्रं

शूद्रस्यायोग्येन तपसा शुष्यन्तं कुयवं कुत्सितेन स्वस्य दोषहेतुना मुनिधर्मेण युज्यते स्वधर्मेण च सेवया वियुज्यत इति कुयवम्, अस्मै आर्जुनेयाय अर्जुन्याः पुत्राय कुत्साय तज्जीवनार्थं न्यरन्धयः नितरां हिंसितवानसि। शिक्षन् शिक्षयन् धर्ममर्यादाम्।

सरल शब्दों में इसका अर्थ है - हे राम ! यह प्रसिद्ध है कि कुत्स ऋषि की तुमने रक्षा की। अपने मृत पुत्र के शरीर के साथ द्वार पर आये हुए उसके पिता ब्राह्मण के शोक वचनों को सुनकर यमराज को भी जीतकर तुम उसके पुत्र को ले आये। दाससंज्ञक शूद्र को शूद्र के लिए अयोग्य तपस्या से शोषित होते देखकर, यह अपने दोष के हेतुभूत मुनिधर्म में लग रहा है और स्वधर्म सेवा से विमुख हो रहा है, आपने अर्जुनी के पुत्र आर्जुनेय कुत्स के जीवन हेतु उस (शूद्र) को अनुचित तपस्या से हटाकर उसका संहार कर दिया, इस प्रकार से उसे धर्ममर्यादा की शिक्षा दी।

रामायण साक्षात् वेदरूप हैं अतः उनमें वेदसम्मत सीतात्याग और शम्बूकवध का उल्लेख हुआ है। पुराणों में भी इसका व्यापक वर्णन उनके श्रुतिसम्मत होने का ही प्रमाण है। इस प्रकार से सिद्ध होता है कि वेदों ने उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त नहीं कहा है, महर्षि वाल्मीकिजी जी ने भी नहीं कहा है अपितु दोनों ने समर्थन करके उल्लेख किया है। किन्तु कलिकल्मषावतार अज्ञानविग्रह श्रुतिद्रोही श्रीरामभद्राचार्य ने निजी मूर्खता के कारण वेदों, पुराणों, स्मृतियों तथा नानापुराणनिगमागमसम्मत होने की प्रतिज्ञा करने वाले श्रीरामचरितमानस की भी भीषण दुर्गति कर रखी है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

जब शम्बूक - वधकी कथाका वर्णन मूलरामायणमें किसी एक अक्षरमें भी नहीं आया, तो शम्बूक-वध को उपस्थित क्यों किया जाए ? और एक बहुत रोचक बात ! यदि शम्बूक - वधको मान भी लिया जाए, तो एक अनर्थ होगा। शम्बूक कर क्या रहा है ? बिना मन्त्रके तपस्या ही तो कर रहा था ? और कुछ तो नहीं कर रहा था ? तो वहाँ रामजीको उसे क्यों मारना चाहिए ? यदि रामजीको शूद्रकी तपस्यासे चिढ़ है, तो शबरीके यहाँ जाकर रामजीने

उनकी तपस्याका हालचाल क्यों पूछा ?

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।
कच्चिते नियतः कोप आहारश्च तपोधने॥
(वा ० रा ० ३/७४/८)

"यह बताइये ! क्या आपने तपस्याके विघ्नोंको जीत लिया है ? क्या आपकी तपस्या बढ़ रही है ?" भगवान् ने उसी समय शम्बूककी भाँति शबरीको क्यों नहीं मार डाला ? वहाँ तो वे तपस्या के विषय में पूछ रहे हैं। वाल्मीकीयरामायण के बालकाण्ड के प्रथमसर्ग में कबन्धने भगवान् रामसे कहा -

तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः। स चास्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम्॥
श्रमणां धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघव। सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः॥
(वा ० रा ० १ / १ / ५६-५७)

"भगवन् ! आप शबरीजी के यहाँ पधारें !" कबन्धको गति देकर भगवान् राम शबरीजी के यहाँ आए -

ताहि देह गति राम उदारा। शबरी के आश्रम पगु धारा॥
(मा ० ३/३६/५)

महातेजस्वी भगवान् राम शबरीके पास पधार रहे हैं और- शबर्या पूजितः सम्यग् रामो दशरथात्मजः (वा ० रा ० १.१.५८) अर्थात् शबरीके द्वारा भगवान् सम्मित पूजित हुए, सम्मानित हुए। यहाँ पूजा क्या है ? पूजाका अर्थ होता है - मनका सन्तोष। किसी बालकको भूख लगी हो और आप उसको धूप, दीप, आरती करते रहो, तो उसके मनमें सन्तोष होगा क्या ? उलटे पीड़ा होगी। भगवान् राम मानव - लीला कर रहे हैं, वे अभी निराहार हैं। शबरीजीको माँ मान लिया है, मातृबुद्धिसे आए हैं क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति (दे ० क्ष ० स्तो ० १०)। श्रीरामको एक अपेक्षा है - "शबरी माँ उन्हें कुछ

खिलाएँगी।"

शबरीजी धर्म में संस्थित थीं - तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम् (वा ० रा ० ३.७४.७), अर्थात् त्रेतामें शूद्रके लिए भी तप करना अधर्म नहीं था। इसलिए भगवान रामने शबरीसे कुछ प्रश्न किये -

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।
कच्चित्ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने॥
(वा ० रा ० ३/४७/८)

"कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः - क्या आपके द्वारा विघ्न जीत लिये गये ? आपकी तपस्यामें विघ्न तो बहुत आये होंगे, पर आपने उन्हें जीत लिया ? कच्चित्ते वर्धते तपः- क्या आपकी तपस्या बढ़ रही है ? इतना ही नहीं। तपोधने - तपः धनं यस्याः सा तपोधना तत्सम्बुद्धौ हे तपोधने ! तप ही जिनका धन है , ऐसी हे माँ शबरी ! कच्चित्ते नियतः कोपः - क्या आपका क्रोध नियन्त्रित है ? क्या आपको कभी क्रोध तो नहीं आता ? आहारश्च क्या आपका आहार नियन्त्रित है ?" और इतना ही नहीं पूछा !

कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि॥
(वा ० रा ० ३ / ७४ / ९)

"कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः - क्या आप अपने नियममें स्थित हैं ? कच्चित्ते मनसः सुखम् - क्या आपके मनमें प्रसन्नता है ? कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणी - हे सुन्दर बोलनेवाली ! क्या आपकी गुरुशुश्रूषा सफल हो गयी ?" इतना सुनकर शबरीजीने जो उत्तर दिया, वह भी विचित्र ही है । शबरीजीने क्या कहा -

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता॥
(वा ० रा ० ३/७४/१०)

भिल्लकन्या होकर भी शबरीजी तापसी हैं। उनसे जब रामजीने पूछा, तो वृद्ध शबरीने रामजीसे कहा -

अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव संदर्शनान्मया। अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः॥
(वा ० रा ० ३/७४/११)

शबरीजीने कहा- " हे प्रभु ! आपके सम्यक् दर्शनसे मुझे तपस्याकी सिद्धि प्राप्त हो गयी। आज मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरे गुरुजन भी मेरे द्वारा पूजित हो गये, क्योंकि गुरुओं की पूजा से परमात्मा का दर्शन हो गया। " और इतना ही नहीं ! शबरीजीने कहा -

अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति। त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥
(वा ० रा ० ३/७४/१२)

"भगवन् ! पुरुषर्षभ - हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ ! देववरे - आप देववर हैं। आप देवताओं में श्रेष्ठ हैं देवेभ्यः वरः येन सः देववरः तस्मिन् देववरे अर्थात् देवताओंको आपने वरदान दिया है, ऐसे आपकी पूजा करके आज मेरा जन्म सफल हो गया और मुझे स्वर्ग अर्थात् साकेत भी मिल जायेगा। स्वः एति इति स्वर्गः, मुझे साकेत मिल जायेगा।" इतना ही नहीं ! शबरी ने एक बात और बहुत मधुर कही -

तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद। गमिष्याम्यक्षयांल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिंदम॥
(वा० रा ० ३/७४/१३)

"हे शत्रुओं को नष्ट करनेवाले प्रभु ! आपके सौम्य नेत्रोंसे पवित्र होकर मैं अक्षय लोकों को

प्राप्त कर लूँगी अर्थात् मुझे अब कोई चिन्ता नहीं है।" शबरीजी ने आगे और कुछ कहा -

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः। इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम्॥
(वा ० रा ० ३/७४/१४)

"जब आप चित्रकूट आ गये, अतुलनीय कान्तिवाले विमानोंके द्वारा वे मेरे गुरुजन स्वर्ग चले गये, जिनकी मैंने सेवाकी थी और उन्होंने मुझे बता दिया था कि तुम्हें श्रीरामजी मिलेंगे।"

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः। आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम्॥
स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः।
तं च दृष्ट्वा वरांल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि॥
(वा ० रा ० ३ / ७४ / १५-१६)

"उन महर्षियों द्वारा मुझे कहा गया - तुम्हारे पवित्र आश्रममें श्रीराम आयेंगे और उनकी तुम सेवा करना, क्योंकि वे तुम्हारे अतिथि होंगे। उनको देखकर तुम श्रेष्ठ लोकको प्राप्त करोगी।" यहाँ यह श्लोक बहुत ध्यान देने योग्य है -

एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ। मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ॥
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसम्भवम्।
(वा ० रा ० ३ / ७४ / १७-१७.५)

"हे श्रेष्ठ पुरुष ! जबसे मेरे गुरुदेवने मुझे यह बताया कि तुम्हारे आश्रममें रामजी आयेंगे, तो हे पुरुषव्याघ्र ! मेरे द्वारा आपको प्रसाद पवानेके लिए पम्पाके तट पर उत्पन्न बहुतसे सुन्दर फल सञ्चित किये गये, उनको आप स्वीकार कर लीजिये !" अर्थात् इस श्लोकसे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् राम शबरीके फल भी खा रहे हैं। अन्य आचार्योंने कहा "भगवान् राम शबरीके झूठे फल खा रहे हैं।" सूरदासजीने कहा - जूठे फल शबरी के खाए , बहु

विधि स्वाद बताई। गोस्वामी तुलसीदास व्यञ्जनामें कह दिया -

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥
(मा ० ३ / दोहा ३६)

यहाँ खाएका अन्वय दोनों चरणों में होगा अर्थात् खाए कंद मूल फल सुरस अति, राम कहँ आनि दिए। शबरीजीने चख-चखकर सुन्दर रसयुक्त कन्दमूलफल भगवान् को लाकर दिये और प्रभु श्रीराम ने भी खाए बारंबार बखानि - उनकी प्रशंसा करके प्रेमसे पाये।

संस्कृतका एक ग्रन्थ है- प्रेमपत्तनम् ! उसमें स्पष्ट लिखा है -

प्रेम्नावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फलचतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानांशबरी कबरीमणिः॥
(प्रे ० प ०)

अर्थात् शबरी के द्वारा उच्छिष्ट अर्थात् चख - चखकर प्रेमसे अर्पित मात्र चार फलोंको खाकर भगवान् रामने शबरीको भक्तोंकी चूडामणि बना दिया। तो यदि भगवान् राम चतुर्थ - वर्ण या अन्त्यज वर्णकी तपस्यासे चिढ़ते होते, तो शबरीको प्राणदण्ड क्यों नहीं दे दिया ? यदि भगवान् राम चतुर्थ - वर्णसे, अन्त्यजसे चिढ़ते होते, तो निषादको अपना मित्र क्यों बनाया ?

श्रृङ्गवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत्। गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम्॥
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया। ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः॥
(वा ० रा ० १ / १ / २९ -३०)

अर्थात् निषादों के अधिपति, अपने प्रिय मित्र गुहको भगवान् ने प्राप्त किया और गुहके साथ भगवान् राम बहुत जलोंवाली नदीको पार करके चित्रकूट पधारे। तो भगवान् रामने

गुहसे इतना प्रेम क्यों किया ? कोल किरातोंसे इतना प्रेम क्यों किया ? जटायु जैसे तिर्यक् योनिमें उत्पन्न हुए प्राणीको अपना पिता मानकर उन्हें मुखाग्नि कैसे दी और डंकेकी चोटपर कह दिया -

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् । गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ॥
(वा ० रा ० ३ / ६८ / २९ -३०)

भगवान् राम जटायुको गोदमें ले रहे हैं और जटायु हँस रहे हैं क्योंकि - जटायाम् आयुः यस्य सः जटायुः अर्थात् रामजीकी जटामें ही जटायुका आयु छिपा हुआ है। श्रीराम कह रहे हैं - "मैं अपने जन्मदाता पिताको तो मुखाग्नि नहीं दे पाया, भरतने मुखाग्नि दी। पर आज मैं आपको मुखाग्नि दूँगा। हे गृध्रराज ! हे महासत्व ! हे मेरे पिता ! (१) यज्ञशीलोंको जो गति मिलती है, (२) भूमिदान करनेवालोंको जो गति मिलती है, (३) आहिताग्नि अग्निहोत्र निरन्तर करनेवालोंको जो गति मिलती है, (४) अपरावर्ती ब्रह्मवेताओंको जो गति मिलती है, वे चारों (१) सालोक्य, (२) सामीप्य, (३) सायुज्य, (४) सारूप्य गतियाँ, आज आपको मिलेंगी। मैं आज अनुमति दे रहा हूँ कि ऐसे लोकों को तुम प्राप्त करो, जो अनुत्तमान्– नास्ति उत्तमाः येभ्यः अर्थात् जिनसे उत्तम कोई लोक हो ही नहीं सकता। हे महासत्व ! गृध्रराज ! आज मैं आपको मुखाग्नि दे रहा हूँ। संस्कृतश्च मया व्रज- अब आप पधार जाइये !" यदि भगवान् चिढ़ते होते, तो जटायुको मुखाग्नि देते ? इन दृष्टियों से भी यह स्पष्ट है कि शम्बूक वध का प्रसङ्ग भी पूर्णतया निराधार है।

स्वयं महर्षि वाल्मीकि युद्धकाण्डके अन्तिम सर्गके एक सौ चतुर्थ श्लोकमें कह रहे हैं कि श्रीराम के राज्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और चतुर्थ वर्ण सभी लोभ से विवर्जित, सभी लक्षणों से सम्पन्न और सभी धर्मपरायण थे, तो क्या शम्बूक चतुर्थ वर्णमें नहीं आता ? वो धर्मपरायण नहीं था ? उसने ऐसी गलती कैसे की ? इसलिए महर्षि वाल्मीकि पहले ही कह रहे हैं कि शम्बूकने ऐसी कोई गलती नहीं की और न रामचन्द्रजी शम्बूक का वध ही किया। श्लोक देखिये -

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः॥
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः। सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः॥
(वा ० रा ० ६ / १२८ / १०४.५)

और स्वयं गोस्वामीजी कहते हैं -

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय शोक न रोग॥
(मा ० ७ / २०)

इसलिए, शम्बूक - वधकी कथा भी जो उत्तरकाण्डमें दिखायी जा रही है, वो केवल शरारत मात्र है। वो केवल श्रीरामको अपमानित करनेके लिए दिखायी गयी और दुर्भाग्य यह है कि हमारे चिखण्डयैषु को भी इस तथ्यका ज्ञान नहीं हो पा रहा है। बारम्बार शूद्र - शूद्र शब्द सुनकर शूद्र स्वयं दुःखी होकर अन्य मतावलम्बी होता जा रहा है, हिन्दुओंकी सङ्ख्या टूटती जा रही है। अब भी लोगों का मन नहीं भर रहा है। इसलिए मैं तो यही निवेदन करूँगा कि उत्तरकाण्ड पूर्णतया प्रक्षिप्त है। सीताजीका वनवास नहीं हुआ, सीताजीने भूमि - प्रवेश नहीं किया, शम्बूकका श्रीरामने वध नहीं किया और श्रीरामने सरयूमें जलसमाधि नहीं ली। वे पहले भी थे, आज भी हैं, निरन्तर रहेंगे। सीतारामजीका शरीर कभी छूटता नहीं, वे सनातन ब्रह्म हैं- जज्ञे विष्णुः सनातनः (वा ० रा ० २.१.७)। सनातनका अर्थ होता है- जिसका कभी नाश न हो।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(भ ० गी ० २ / १६)

इस प्रकार विषयानुप्रवेश की चर्चा मैंने कर ली और यह सिद्ध कर दिया कि वाल्मीकीय रामायणका उत्तरकाण्ड पूर्णतया प्रक्षिप्त है। मैं ही नहीं, अनेक विद्वद्वरेण्योंने इसे स्वीकारा है। तिलककार ने इसे खिलभाग मान लिया और मैंने तो अभी सिद्ध कर दिया, मुझसे पूर्व रामकुमारदासजी ने, रामकुमार वर्माजी ने, जो हिन्दीके बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने और अन्य विद्वानोंने उत्तरकाण्डको प्रक्षिप्त माना है। मैंने एक ही प्रमाण दिया कि कुछ भी तुम कह लो, पर वाल्मीकीयरामायण स्वतःप्रमाण है और मूलरामायणमें जो कहा गया, वही आगे कहा जा रहा है। तो यदि मूलरामायणमें सीता वनवास की कथा नहीं कही गयी, तो वाल्मीकीय रामायण में भी आगे नहीं कही जाएगी। मूलरामायण में यदि शम्बूक - वध नहीं कहा गया, तो आगे नहीं कहा जा सकता। इसलिए यहाँ किसी प्रकारका हठ नहीं करना चाहिए। वाल्मीकीयरामायण वेद की भाँति स्वतः प्रमाण है, उसे किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। पुराणोंको वाल्मीकीयरामायण की अपेक्षा है, क्योंकि वे परतः प्रमाण हैं। स्मृतियाँ परतः प्रमाण हैं, संहिताएँ परतः प्रमाण हैं, पर वाल्मीकीय रामायण स्वतःप्रमाण है।

यहाँ सामान्य लोगोंको एक सन्देह होता है कि यदि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त रहेगा, तो लव - कुशके चरित्रका क्या होगा ? इसका उत्तर यह है कि लव - कुश का चरित्र पुराणोंमें वर्णित है, वहाँसे ले लिया जाए। वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थमें नहीं लिखा और इसलिए गोस्वामीजी ने लिखा -

दुइ सुत सुंदर सीता जाए। लव कुश बेद पुरानन गाए॥
(मा ० ७/२५/६)

गोस्वामीजीने यह नहीं लिखा - लव कुश वाल्मीकि मुनी गाए।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

कुल मिलाकर आपके इतने देर तक प्रलाप के बीच दो ही बिन्दु हैं जो आप मूलतः कहना चाहते हैं -

१) मूलरामायण में शम्बूक वध की कथा नहीं है अतः यह कथा प्रक्षिप्त है।
२) भगवान् यदि शूद्रवर्ण की तपस्या से चिढ़ते, तो शबरी जी के तपस्या का समर्थन क्यों करते ?

इन्हीं दो बिन्दुओं को खींचकर आपने सात पृष्ठों में विस्तृत कर दिया है। प्रथम तो यह कि मूलरामायण में अहल्योद्धार, धनुषभङ्ग, सीता अनसूया संवाद, अयोमुखी निग्रह, हनुमान् सिंहिका द्वंद्व, त्रिजटास्वप्न, कुम्भकर्ण-मेघनाद वध आदि का भी नाम नहीं है तो वे कथाएं वाल्मीकि जी ने क्यों लिखीं ? दूसरी बात, यदि महोरस्को महेष्वासो .. सुललाटः सुविक्रमः आदि से आप लक्षणपूर्वक इन कथाओं को घटित कराने का उपक्रम करेंगे तो फिर रक्षिता जीवलोकस्य आदि लक्षणों से आपको यह भी स्वीकार करना चाहिए कि जीवलोक की रक्षा करने वाला बताकर वाल्मीकि जी को नारद जी ने शम्बूकवध का ही सङ्केत किया क्योंकि उसकी तपस्या के प्रतिफल से मरने वाले बच्चों को शम्बूकवध के माध्यम से श्रीरामजी ने बचाया था।

अब आपके दूसरे बिन्दु पर आते हैं। मुझे आपके ग्रन्थों और वक्तव्यों से आपकी शास्त्रज्ञानशून्यता का तो अनुमान हो गया था किन्तु आपकी स्थिति इतनी दयनीय है, यह मुझे ज्ञात नहीं था। आपको यह किसने कब कहा या आपने कहाँ पढ़ लिया कि श्रीरामजी ने शम्बूक का वध उसकी तपस्या से "चिढ़कर" किया था ? रामजी शूद्रों से "चिढ़ते" थे, अतः उन्होंने ऐसा किया, इस प्रकार का वर्णन या कारण कहीं उल्लिखित होता तो आपका तर्क संगत हो सकता था किन्तु शम्बूक का वध उसकी तपस्या से 'चिढ़कर' किया गया, ऐसा तो कोई वर्णन है ही नहीं।

अब शबरीजी पर आते हैं। श्रमणां आदि शब्दों से कुछ विद्वान् मानते हैं कि शबरी जी शूद्रा नहीं ब्राह्मणी थीं - शूद्रातापस्यफलस्वरूपे क्वचिद्रामायणेऽकालमृत्युर्वक्तव्य आसीत्स च नोक्त इति शबरी शूद्रा नेति कश्चित्। और कुछ विद्वान् 'शबरी' अभिधानार्थ से उन्हें शूद्रा किंवा भीलकुल की मानते हैं। पुनः कुछ विद्वान् 'परीक्ष्य परिभक्ष्य च' आदि वचनों से मानते हैं कि शबरी जी ने एक एक फल को स्वयं चखकर उस उच्छिष्ट को श्रीरामजी को

नहीं खिलाया अपितु उन्होंने वृक्षों के फलों को खाकर परीक्षण किया कि कौन से वृक्ष के फल मधुर एवं पक्व हैं, फिर उसी वृक्ष के शुद्ध फल चयनित कर लिए। दूसरे कुछ विद्वान् 'अवशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा' आदि वचनों से मानते हैं कि प्रत्येक फल को चखा और बचे हुए जूठे को खिलाया। अस्तु, अनन्ताश्च हरेः कथाः एवं शतकोटिप्रविस्तरम् के कारण मुझे इस सन्दर्भ में दोनों ही पक्षों से कोई समस्या नहीं है, साथ ही इस चर्चा का केन्द्र यह है भी नहीं, अतएव मूल बिन्दु पर आते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में देहेन मनसा वाचेति त्रिविध तथा त्रिगुणभावभेद से भी त्रिविध, अर्थात् नौ प्रकार की तपस्या का वर्णन है। इसमें कुछ तपस्या सबों के लिए है, कुछ केवल निश्चित वर्णाश्रमोचित भेद से मान्य हैं। शबरी जी की तपस्या परम सात्त्विक, अथवा उससे भी श्रेष्ठ सर्वभूतोपकारिणी निःस्वार्थ भगवत्प्रेमाकांक्षिणी थी। अतः भगवान् श्रीरामजी ने उस तपस्या का अनुमोदन किया। वहीं शम्बूक की तपस्या लोकविध्वंसकारिणी शास्त्रविरुद्ध आसुरी थी, इसीलिए भगवान् ने उसका वध किया।

जैसे स्त्रीगमन एक सामान्य कृत्य है। यदि कोई व्यक्ति अपनी धर्मपत्नी से उचित काल में रमण करे तो उससे गृहस्थाश्रम की पुरुषार्थसिद्धि होती है। वहीं उसी रमणक्रिया को अगम्या स्त्री में क्रियान्वित करे तो वही स्त्रीसंसर्ग दोषकारक हो जाता है। इतना ही नहीं, अपनी स्त्री में भी रजोदृष्टा अथवा दिवाकाल आदि में रमण करे तो भी पातक है। कर्ता और क्रिया के समान होने पर भी कालभावपरिणामभेद से वही कृत्य धर्माधर्म के मध्य आलोडित होता है, ऐसा आप जानें।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय - १७, श्लोक – १४-१६)

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुषका सत्कार करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्यका पालन करना और हिंसा न करना, यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है। उद्वेग

न करनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकारक भाषण तथा स्वाध्याय और अभ्यास करना, यह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है। मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मन पर नियंत्रण और भावों की शुद्धि - इस तरह यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है। (ये सभी सामान्य तप हैं, जिन्हें अपनी वर्णमर्यादा के अनुसार सभी को करना चाहिए।) किन्तु उल्टे टँग कर, धुवाँ पीकर कठोर तपस्या करने का नियम शूद्र के लिए नहीं है। शम्बूक के पास जाकर राम जी ने उसे तपस्या के तेज से प्रकाशित देखा। उसका मुख नीचे था और वह अग्निकुंड का धूम्रपान कर रहा था। उसके शरीर में जगह जगह पर पंचाग्नि के दाह से जलने के निशान थे। रामजी ने उसका परिचय और तपस्या का उद्देश्य पूछा।

उवाच राघवो वाक्यं धन्यस्त्वममरप्रभ। कस्यां योनौ तपोवृद्धिर्वर्तते दृढनिश्चय॥
अहं दाशरथी रामः पृच्छामि त्वां कुतूहलात्।
कोऽर्थो व्यवसितस्तुभ्यं स्वर्गलोकोऽथ वेतरः॥
किमर्थं तप्यसे वा त्वं श्रोतुमिच्छामि तापस।
ब्राह्मणो वासि भद्रं ते क्षत्रियो वाथ दुर्जयः॥
वैश्यस्तृतीयवर्णो वा शूद्रो वा सत्यमुच्यताम्।
तपः सत्यात्मकं नित्यं स्वर्गलोकपरिग्रहे॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ३५, श्लोक - ७०-७३)

उसके पास जाकर रामजी ने इस प्रकार कहा - हे देवताओं के समान तेज वाले ! तुम धन्य हो। इस प्रकार से कठिन तपस्या करने वाले तुम कौन हो ? तुम्हारा निश्चय तो दृढ़ लग रहा है। तुम किस योनि में जन्म लेकर अपनी तपस्या को बढ़ा रहे हो ? मैं दशरथपुत्र राम हूँ, और कुतूहलवश तुमसे पूछता हूँ, कहीं तुम्हें स्वर्ग की कामना तो नहीं है, अथवा कुछ और बात है ? तुम्हारा कल्याण हो ! तुम ब्राह्मण हो, या क्षत्रिय हो, तीसरे वर्ण के वैश्य हो या शूद्र हो ? तुम्हारी इस उग्र तपस्या का उद्देश्य क्या है ? देखो, सत्य में ही तपस्या निहित रहती है, सत्य के पालन से ही स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है, अतः तुम सत्य कहो। रामजी की बात सुनकर शम्बूक ने कहा -

स्वागतं ते नृपश्रेष्ठ चिराद्दृष्टोऽसि राघव। पुत्रभूतोऽस्मि ते चाहं पितृभूतोऽसि मेऽनघ॥

अथवा नैतदेवं हि सर्वेषां नृपतिः पिता। सत्वमर्च्योऽसि भो राजन्वयं ते विषये तपः॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय - ३५, श्लोक – ७९-८०)

शम्बूक ने कहा - हे राजाओं में श्रेष्ठ राघव ! आपका स्वागत है, बहुत दिनों के बाद आपसे भेंट हुई। हे निष्पाप राम ! मैं तो आपके पुत्र के समान हूँ और आप मेरे पितातुल्य हैं। अथवा इसमें कौन सी नई बात है ! राजा तो प्रजा के लिए सदैव पितातुल्य ही है। आप सत्वगुण के द्वारा पूजित हैं, मैं तपस्या का विषय बताता हूँ -

शूद्रयोनिप्रसूतोऽहं तप उग्रं समास्थितः। देवत्वं प्रार्थये राम स्वशरीरेण सुव्रत॥
न मिथ्याहं वदे भूप देवलोकजिगीषया।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूकं नाम नामतः॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय – ३५, श्लोक - ८३-८४)

हे श्रेष्ठ व्रत का पालन करने वाले राम ! मैं शूद्रयोनि में उत्पन्न हुआ शम्बूक हूँ। मैं यहाँ उग्र तपस्या में लीन हूँ, मेरी इच्छा है कि मैं इसी शरीर से देवता बन जाऊं। हे राजन् ! मैं देवताओं के लोक की प्राप्ति की अभिलाषा रखता हूँ, मैं झूठ नहीं बोलता। है ककुस्थवंशी राम ! आप मुझे शम्बूक नामक शूद्र जानें।

शबरी उग्र तपस्या नहीं कर रही थी। वह भक्तियोग एवं सेवाभाव का आश्रय लेकर आराधना कर रही थी। भक्ति और सेवाभाव पर चारों वर्णों के अधिकार सिद्ध हैं। साथ ही, शबरी की साधना का उद्देश्य कुछ था ही नहीं। वह तो किसी भी उद्देश्य से परे थीं। बस राम आ जाएं, इतनी ही अभिलाषा थी उसकी। इसके विपरीत शम्बूक की तपस्या उग्र थी। वह माथा नीचे करके अग्नि से धूम्रपान करता था, पंचाग्नि से शरीर को जला लिया था। और इच्छा क्या थी ? इच्छा थी कि इसी शरीर से देवता बन जाऊं। यह इच्छा उतनी भी बुरी नहीं थी, किन्तु वह कौन सा देवता बनना चाहता था, देवता बनकर करता क्या ? इसका उत्तर निम्न प्रमाण से मिलेगा -

अथ शूद्रतपश्चर्यानिहतं विप्रपुत्रकम्। उज्जीवयामास विभुर्हत्वा तं शूद्रतापसम्॥
जङ्घनामासुरः पूर्वं गिरिजावरदानतः। बभूव शूद्रः कल्पायुः स लोकक्षयकाम्यया।

तपश्चचार दुर्बुद्धिरिच्छन्माहेश्वरं पदम् ॥
(महाभारततात्पर्यनिर्णय, अध्याय - ०९, श्लोक - १९-२०)

फिर राम जी ने तपस्या में रत शूद्र को, जिसके कारण ब्राह्मणपुत्र मर जा रहे थे, उसे मारा और ब्राह्मणपुत्र को जीवित किया। यह शम्बूक पिछले जन्म में जंघासुर नाम का राक्षस था, जो पार्वती देवी के वरदान से युक्त था। यह अगले जन्म में एक कल्प (चार अरब, बत्तीस करोड़ मानवीय वर्ष) की आयु वाला शूद्र बना और फिर उस दुर्बुद्धि ने घोर तपस्या प्रारम्भ की। वह तपस्या करके साक्षात् शिव जी का पद पाकर संसार को नष्ट करना चाहता था। (शैवी शक्ति संहार करती है)

अग्निदेव के अवतार जगद्गुरु स्वामी आद्यवल्लभाचार्य जी ने अपने श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य में सत्रहवें अध्याय, श्लोक पञ्चम (अशास्त्रविहितं घोरं ...) की व्याख्या में विशेषतः आसुरी तामसी अशास्त्रीय तपस्या को समझाने के लिये शम्बूक का ही उदाहरण दिया है - ये तु जनाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामकारतः येषां कामकार एव हेतुस्तत एव तपस्तप्यन्ते शम्बुकादिवत् तानासुरनिश्चयान् विद्धीत्युत्तरेणान्वयः ... अनिलानलावतार जगद्गुरुद्वय वैष्णवाग्रणी आद्यमध्वाचार्य एवं आद्यवल्लभाचार्य जी ने अपनी कृतियों में स्पष्ट शम्बूक-सन्दर्भ दिया है किन्तु यह बात श्रीरामभद्राचार्य जैसे 'प्रकाण्डबुद्धि' की बुद्धि में क्यों नहीं आती है, यह शम्बूकहन्ता प्रभु ही जानें। जो व्यक्ति वेदव्यास जी, आचार्य कुमारिल भट्ट. मध्वाचार्य जी, वल्लभाचार्य जी आदि के द्वारा लिखे पुराण, वार्तिक, भाष्य आदि को अप्रमाण कहने के बाद आचार्यों के विरुद्ध रामकुमार वर्मा का नाम ले, कि उन्होंने भी प्रक्षिप्त माना है, उसकी मूर्खता का स्तर देवताओं के लिए भी दुर्बोध्य है।

देखिए, जो रुद्रपद प्राप्त करके संसार को नष्ट करना चाहे, जिसकी तपस्या शुरू करने से ही ब्राह्मण के पुत्र मरने लगे, उसे मारकर भगवान् ने क्या गलत किया ? और हाँ, भगवान् ने उसे फिर दिव्यशरीर से युक्त करके स्वर्ग भी भेजा। शम्बूक प्रसङ्ग के सन्दर्भ में पद्मपुराण से पूरा विस्तृत प्रमाण दिया कि उसके वध में कोई शोषण नहीं था। शम्बूक रामजी को पितातुल्य मानता था। फिर श्रीमध्वाचार्य जी के महाभारततात्पर्यनिर्णय से शम्बूक के पूर्वजन्म (जंघासुर) की कथा का प्रमाण दिया और बताया कि शम्बूक संसार को कष्ट देने

की इच्छा से तपस्या कर रहा था इसीलिए उसका उद्धार आवश्यक था। निश्चय ही राम जी के राज्य में सभी लोग अपने अपने कर्म में लगे हुए थे किंतु इसका कारण यह नहीं था कि रामजी ने सबको सम्मोहित कर रखा था। रामजी ने अपनी दण्डनीति, राजनीति, धर्माचरण और न्यायशीलता से ऐसा शासनचक्र बनाया कि स्वभावतः ही सबकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गयी। उन्होंने किसी चमत्कार का नहीं, नीति का आश्रय लिया था।

आप अपने घर में कितना भी अनुशासन रखें किन्तु कोई बाहरी व्यक्ति आक्रमण कर दें तो फिर शांति भंग होने लगती है। सभी वर्णों के लोग अपने अपने कार्य में तो राजा दशरथ के काल में भी रहते थे, उनका राज्य भी धर्मपरायणता के लिए प्रसिद्ध था किंतु एक मंथरा तो वहां भी हो गयी थी न ! यहाँ समझना चाहिए कि प्रजा इसीलिए गलत काम नहीं करती थी, क्योंकि रामजी उसे गलत करने देते नहीं थे। जहां गलत देखे, समाधान कर दे, ऐसा राजा का कार्य होता है। इसीलिए विवेकी प्रजा ज्ञान के कारण धर्म का पालन करती है तो अविवेकी प्रजा दण्ड के भय से।

रामजी ने प्रजा को अधर्म का अवसर ही नहीं दिया और जिसने अधर्म का प्रयास किया उसे शम्बूक की भांति समुचित दण्ड दिया। धर्म और अधर्म को जानने के लिए ही वे रात्रि को भ्रमण करते थे। रामजी कोई घर में बैठे नहीं रहते थे, और न ही प्रजा बैठे बैठाए धर्म में लगी रहती थी। अपितु रामजी ने यह सिद्ध किया कि कोई यदि अपराध करेगा तो दण्ड मिलेगा। इसीलिए रामराज्य की आशा करने वाले को साम, दान, दण्ड, भेद आदि उचित प्रयोग आना चाहिए। किसी अधर्म करने वाले को रामजी शम्बूक की भांति तुरन्त दण्डित कर देते थे, इसीलिए उनके राज्य में सब अपने धर्म में लगे रहते थे, ऐसी बात है। रामजी ने पहले भी अधर्म करने वाले ताड़का, बालि, समुद्र आदि को दण्डित किया ही है। समुद्र ने समय पर क्षमा मांग ली तो बच गया। इसी दण्डनीति के कारण रामराज्य में सब धर्म में लगे रहते थे।

"सभी लोग धर्म में लगे हुए थे" इसीलिए "शम्बूक अधर्म नहीं कर सकता", फलतः "शम्बूक वध काल्पनिक है”, ऐसी बात नहीं है। अपितु बात यह है कि "शम्बूक जैसे अधर्म करने वाले को दण्ड मिलता था" इसीलिए "सभी लोग धर्म में लगे रहते थे", फलतः "शम्बूक वध प्रामाणिक है"। इस प्रकार से रामजी ने शम्बूक के साथ अत्याचार नहीं किया, उस पर कृपा ही की। शम्बूक यदि तपस्या करता ही रहता तो उसे दैहिक कष्ट

भी होता, उसकी तपस्या की कठोर ऊर्जा से बच्चे मरते रहते। बाद में धर्मविरुद्ध उग्र तप करने से नरक भी जा सकता था अथवा वह यदि देवता बन भी जाता तो दुष्टबुद्धि के कारण संसार का संहार ही करता। किन्तु श्रीराम जी ने कितना सुंदर समाधान किया, शम्बूक को मारकर उसे कठोर तपस्या के अनधिकृत परिश्रम से बचाया। तपस्या इ हुए श्रम को ध्यान में रखते हुए उसे तुरन्त देवता भी बनाया, साथ ही रामजी के संसर्ग से उसकी लोकसंहार की दुष्टबुद्धि भी चली गयी, जैसे रामजी के हाथों उद्धार होने से कबन्ध आदि राक्षस भी शुद्ध विचार के हो गए थे। शम्बूक की तपस्या की नकारात्मक ऊर्जा से जो मर था, उस ब्राह्मणपुत्र को भी जीवित कर दिया। ब्राह्मण, अपना बेटा पाकर प्रसन्न, शम्बूक तमोगुण से रहित हो, देवता बन जाने के कारण प्रसन्न। सब मङ्गल हो गया।

यह है श्रीराम कथा की दिव्यता और निष्पक्ष मर्यादा, जो मूढ़बुद्धि लोगों एवं बिना विचार किये, अश्रद्धा के कारण ग्रंथों को प्रक्षिप्त घोषित करने वाले "प्रक्षिप्त पीठाधीश्वरों" की समझ से बाहर है। आपने कहा कि शूद्र-शूद्र सुनकर शूद्र अन्य मतों में जा रहे हैं। धर्म कोई सौदेबाजी का विषय नहीं है। जो सनातनी शास्त्रीय वर्णाश्रमव्यवस्था, पुनर्जन्मचक्र और शास्त्रप्रामाण्य को मानेगा वो किसी भी वर्ण का हो, धर्म का परित्याग नहीं करेगा। यदि शूद्रों को धर्म और इतिहास के विषय में कोई शंका हो तो धर्माधिकारी का कर्तव्य है कि शास्त्रसम्मत युक्तियों से उसका मार्गदर्शन करके उसकी ऐहिकामुष्मिक स्थिति को कल्याणमय बनायें, न कि मूर्खतोषण हेतु शास्त्रीय वाक्यों का ही मर्दन करते फिरें। आपके जैसा वर्णाश्रमद्रोही शास्त्रनिन्दक, वर्णसंकरता के प्रसार और धर्म-समाज के लौकिक और पारलौकिक पतन हेतु यह खुले मंच से कहता फिरता है कि सभी हिन्दुओं को एक दूसरे से रोटी-बेटी का संसर्ग करायेंगे फिर भी आपके आक्षेपों से मुझे कोई निजी समस्या नहीं है क्योंकि मैं आपके समान 'क्षुद्रबुद्धि' वाला होने की अपेक्षा शूद्रबुद्धि होना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ।

आपने कहा कि सरयूसमाधि की बात भी मिलावटी है क्योंकि भगवान् मरते नहीं हैं। महोदय, भगवान् तो जन्म भी नहीं लेते किन्तु प्राकट्य के निमित्त एक घटना को माध्यम से जन्मोत्सव की लीला करते हैं न। उसी प्रकार मरते भी नहीं हैं किन्तु किसी घटना के माध्यम से वापस लीला संवरण करते हैं न। अन्त में एक बहुत हास्यास्पद बात आपने की है। पहले तो आपने निम्न बातें कहीं कि -

१) वाल्मीकीय रामायण 'वेदैश्च सम्मितम्' होने से वेदतुल्य स्वतः प्रमाण हैं।
२) पुराण आपकी प्रमाण कोटि में नहीं आते और उनके हज़ारों प्रमाणों का कोई मोल नहीं।
३) श्रीरामकथा को जानने के लिए पुराणों की आवश्यकता नहीं, वाल्मीकीय रामायण ही एकमात्र मान्य है, वो भी युद्धकाण्ड तक ही।

अब आप यह कह रहे हैं, लव-कुश के बारे में जानना है तो पुराणों में देख लें। अजी, जब पुराण को आप प्रमाण मानते ही नहीं तो किस मुंह से आप कह रहे हैं कि लवकुश के बारे में पुराणों से देख लेना चाहिए ? एक ओर आप कहते है कि साक्षात् गोस्वामीजी ने लिखा कि लव कुश बेद पुरानन गाए। यह नहीं लिखा कि वाल्मीकि मुनी गाए। तो बन्धु ! जब आपने इतना परिश्रम किया रामायण को बिल्कुल वेद ही सिद्ध करने में तो उस हिसाब से आपको यह समझना चाहिए था कि वेद का अर्थ यहाँ आपके द्वारा ही प्रस्तुत वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना के आधार पर रामायण ही है। और इस प्रकार से वेद से अभिन्न रामायण ने भी लव और कुश का वर्णन किया है।

एक ओर आप कहते हैं कि वेद और रामायण में कोई भेद नहीं, दोनों स्वतः प्रमाण हैं। दूसरी ओर आप कहते हैं कि लवकुश का वर्णन वेद ने किया, वाल्मीकि ने नहीं। एक ओर आप कहते हैं कि आप पुराणों को प्रमाण नहीं मानते, दूसरी ओर आप ही नानापुराणनिगमागमसम्मतमितिप्रतिज्ञासूत्रधार श्रीगोस्वामीजी के वचनों के आश्रय से कहते हैं कि लवकुश का चरित्र पुराणों में वर्णित है, वहाँ से ले लिया जाए। इस प्रकार से मैंने आपके अज्ञान का पुनः खण्डन किया क्योंकि आपके विचारों में अस्थैर्य तथा वदतो व्याघात का बाहुल्य होने से वे अमान्य और अशास्त्रीय हैं।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

अब दूसरा प्रश्न यह है कि प्रायशः संस्कृतज्ञ जब अनधीति होते हैं, तो उनके मनमें यह प्रश्न

आता ही है कि यदि सीता - निर्वासन नहीं माना जायेगा, तो रघुवंश महाकाव्यम् में जो सीता - निर्वासनकी कथा कही गयी, उसका क्या होगा ? भवभूतिने जो सीता निर्वासनकी कथा कही, उसका क्या होगा ? इसपर मुझे विनम्रतापूर्वक कुछ कहना है। प्रथम तो यह कि कालिदास और भवभूतिके अतिरिक्त किसी भी भक्त - कविने सीता- निर्वासनपर कुछ भी नहीं कहा। द्वितीय, कवि शास्त्रमें प्रमाण नहीं होता और न ही कालिदास शास्त्रमें प्रमाण हैं -

(१) शास्त्र यह आज्ञा देता है कि किसी गर्भिणी महिलाका कभी द्विरागमन नहीं किया जा सकता। अर्थात् सगर्भा महिला या तो अपने पिताके यहाँ रह ले या तो अपने पतिके यहाँ रह ले, वो गर्भावस्था में पिताके यहाँ से पतिके यहाँ नहीं जा सकती। कालिदासने अभिज्ञान शाकुन्तलम् को रोचक बनानेके लिए सगर्भा शकुन्तलाका पतिके यहाँ द्विरागमन - वर्णन कर डाला। यह शास्त्रके विरुद्ध था। जबकि महाभारत, भागवत आदिमें वर्णन यह है कि भरतजीके जन्म होनेके पश्चात् जब वे पाँच वर्षके हो गये, तब शकुन्तला दुष्यन्तके यहाँ गयी थी।

(२) दूसरी बात ! नाटकको रोचक बनाने के लिए ही कालिदासने एक कल्पना की कि दुष्यन्तने शकुन्तलाको अँगूठी दी थी। जब वे सरोवरमें स्नान कर रही थीं, तो अँगूठी गिर गयी थी क्योंकि दुर्वासाका उन्हें श्राप मिला था -

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥
(अ ० शा ० ४/१)

"जिन दुष्यन्तका तुम अनन्य मनसे चिन्तन कर रही हो , वे तुमको उसी प्रकार भूल जायेंगे, जैसे पागल व्यक्ति प्रथम कही हुई कथाको भूल जाता है।" इस श्रापके कारण शकुन्तलाके हाथसे अँगूठी गिर गयी, उसे मछली निगल गयी और दुष्यन्तके यहाँ जब वह पहुँची, तो उनका हाथ खाली था, इसलिए दुष्यन्त उन्हें पहचान नहीं पाए। इसपर कितनी विडम्बना

भोगनी पड़ी। कश्यपके आश्रममें जाना पड़ा, फिर जब मछलीके मुखसे मछुआरे ने उन्हें अँगूठी दी, तो दुष्यन्त शकुन्तलाको ढूँढ़ने लगे, कहीं नहीं मिलीं। दुष्यन्त आये और कश्यप के आश्रम में रुके, तब भरतके हाथमें जो गण्डा था, गिरा हुआ गण्डा उठाकर उनके हाथमें डाला, तब सखियोंने उन्हें पहचाना - "ये भरतके ही पिता हैं, क्योंकि पिता - माताके अतिरिक्त यह रक्षा कवच कोई भी छूएगा, तो उसे यह सर्प बनकर काट लेगा।" दुष्यन्त बचे, उन्हें पहचान लिया गया। पर मेरा यह निवेदन है कि यह वर्णन भी शास्त्रों में नहीं मिलता। जब दुष्यन्त शकुन्तलाको भूले, तब आकाशवाणी हुई -

माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम्॥
(भा ० पु ० ९ / २० / २१)

"माता भस्त्रिकाके समान है, पुत्र पिताका ही होता है। जिससे जन्म लेता है, वह उसीका हो जाता है। इसलिए हे दुष्यन्त ! अपने पुत्रका भरण पोषण करो, शकुन्तलाका अपमान मत करो !" तब उन्हें आकाशवाणीसे ही ज्ञात हो गया और शकुन्तला उनके घर चली गयीं। इस प्रकार कालिदास कहीं - कहीं काव्यको रोचक बनाने के लिए शास्त्रकी अवहेलना भी करते हैं।

(३) कालिदास ने -

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणित लिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्॥
(रघुवंश ९ / ६१)

यहाँ “प्रथममास" कह दिया , जबकि क्रियाके अनुप्रयोगमें तीसरा पद वहाँ नहीं आ सकता , पर उन्होंने अपाणिनीय कर दिया।

(४) शार्वरस्य तमसो निषिद्धये - (कु ० स ० ८.५८) - शार्वरस्य प्रयोग किया, जबकि शार्वरिक होता है ।

(५) इसी प्रकार क्षत्रियकुमारका नाम पिता नहीं रखता, गुरु रखता है , जैसे वसिष्ठजी ने भगवान् रामका नाम रखा। पर इन्होंने कहा कि रघुका नाम दिलीपने रखा, अजका नाम रघुने रखा- अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार (र० वं० ५.३६)। यह शास्त्रके विरुद्ध था।

(६) इसी प्रकार जो पाँच उच्चग्रह होते हैं, वे केवल परमेश्वर के होते हैं, रघु जैसे व्यक्तिके हो ही नहीं सकते। केवल भगवान् रामकी कुण्डली में पाँच ग्रह पड़े थे, वे भी सूर्यके साथ होते हैं। सूर्यके बिना पाँच ग्रह कभी ऊँचे नहीं होते। जबकि कालिदासने कह दिया -

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम्।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्॥
(र ० वं ० ३/१३)

सूर्यके बिना पाँच ग्रह ऊँचे होकर रघुके भाग्यकी सम्पत्तिकी सूचना दे रहे हैं। यह अशास्त्रीय है !

(७) उसी प्रकार यहाँ भी सीता - निर्वासनपर उन्होंने गम्भीर पर्यालोचन नहीं किया और रघुवंशमहाकाव्यमें चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ सर्ग लिख डाला। इसलिए वह प्रमाण नहीं है। भवभूति सीता - निर्वासनसे न्यायतः सहमत नहीं थे, पर खण्डन करने साहस नहीं कर पाए। इसलिए जितनी तीखीसे तीखी प्रतिक्रिया श्रीरामके प्रति उनके मस्तिष्कमें आयी, वो सब उत्तररामचरितम् में कह डाली। रामजीको कठोर कहा। यहाँ तक कि -
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? (उ ० रा ० २.१०), पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः (उ ० रा ० ३.१)। इसलिए, यह कुछ भी प्रमाण नहीं है। मैंने यही निवेदन किया कि वाल्मीकीयरामायण स्वतः प्रमाण है। उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। उसको मान लेने से

६४६ सर्ग हो रहे हैं, जबकि ५३० की उनकी प्रतिज्ञा है। युद्धकाण्डपर्यन्त उनकी कथा है -

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्। पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः॥
(वा ० रा ० १/४/७)

और वहाँतक सीता - निर्वासन का कोई प्रकरण नहीं आता। सीता निर्वासन और शम्बूक - वध तर्कसे भी सङ्गत नहीं हो रहा है। इसलिए दोनों प्रसङ्ग तर्कहीन, अप्रामाणिक, वैतण्डकोंकी जल्पनामात्र हैं और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है, वाल्मीकिकृत नहीं। इसलिए दाक्षिणात्य लोग उत्तरकाण्डको नवाहपारायणमें नहीं मानते। मेरे पास भी जो दाक्षिणात्य पाठ है नवाहपारायणका घनान्तीजी का, वहाँ केवल युद्धकाण्डपर्यन्त ही कथा कही गयी है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

सर्वप्रथम महामना कालिदास की चर्चा करते हैं। मैं इस बात से सहमत हूँ कि किसी कवि के निजी काव्य को पूर्णतः शास्त्रप्रमाण में स्वीकृत नहीं किया जा सकता किन्तु जितने अंश में उसकी कृतिकथा की साम्यता मान्य वेदपुराणादि में वर्णित सिद्धान्त से हो, उतने अंश के अविरुद्धगौरव से वह ग्राह्य है। कालिदास ने कथा के साहित्यरञ्जन हेतु अवश्य ही कुछ कल्पना की है, जैसा कि आपने भी भ्रमरदूतम् आदि में की है किन्तु जितने अंश में उनकी कृति की कथा महाभारत, श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदि से संगत है, उतने अंश में वह भी प्रमाणित रूप में ग्राह्य है। आपने जो गर्भिणी शकुन्तला के द्विरागमन की बात की है तो शकुन्तला का ब्राह्मार्षप्राजापत्यादि विवाहपूर्वक कन्यादान नहीं हुआ था अपितु गान्धर्वविधिना स्वोत्सर्गपूर्वक हुआ था, अतः उसका द्विरागमन शास्त्रविरुद्ध इसीलिए नहीं क्योंकि सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो द्विरागमन वह है जब वधू पति के घर दूसरी बार जाए किन्तु यहां तो शकुन्तला पहली बार ही जा रही थी तो द्विरागमन शब्द का औचित्य ही शब्दार्थबाध के कारण निरस्त होता है।

फिर आपने जो "प्रथममास" शब्द की बात कही तो उन्होंने अपाणिनीय प्रयोग तो किया है

किन्तु प्रसिद्ध है कि कालिदास की विद्वत्ता का कारण परम्परयाध्ययन नहीं, अपितु कालीदेवी के प्रति खिन्नमना होकर किया गया देहोत्सर्गोपक्रम था। कुछ सुवृद्ध साधकों ने मुझे बताया कि उन्होंने शाम्भवी मन्त्र के प्रभाव से ज्ञान प्राप्त किया था। अस्तु, सम्भव है कि जैसे उदयनाचार्य एवं श्रीहर्ष को वाग्देवी की कृपा से कुछ लोकोत्तरप्रतिभा प्राप्त हो गयी थी वैसे ही कालिदास जी भी कालिकाप्रसादतः ऐसे कुछ लोकोत्तरशब्दानुशासन ज्ञान से युक्त हो गये होंगे जिसकी एक दो झलक उनकी कृतियों में दिखती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि -

गतासूनां बाहुप्रकरकृतकाञ्चीपरिलसन्-
नितम्बां दिग्वस्त्रां त्रिभुवनविधात्रीं त्रिनयनाम्।
श्मशानस्थे तल्पे शवहृदि महाकालसुरत
प्रयुक्तां त्वां ध्यायन् जननि जडचेता अपि कविः॥
(कालीकर्पूरस्तोत्रराज में भगवान् महाकाल के वचन)

आगमतत्त्वगुप्तये इसका हिन्दी अनुवाद सम्मिलित नहीं कर रहा हूँ किन्तु जडचेता अपि कविः की फलश्रुति कालिदास के साथ घटित होती ही है। अतः इस प्रकार से सिद्ध होता है कि मात्र प्रचलित पाणिनीय व्याकरण से असंगत होना अप्रामाणिकता का परिचायक नहीं है। फिर आपने कहा कि क्षत्रियकुमार का नाम पिता नहीं रखता अतः यह अशास्त्रीय बात कालिदास ने लिख दी। ऐसा नहीं है महोदय ! महाराज सगर, जो श्रीरामजी के ही वरेण्य पूर्वज रहे हैं, उनको और्व मुनि ने नामकरण की विधि बतायी है -

ततश्च नाम कुर्वीत पितैव दशमेऽहनि। देवपूर्वं नराख्यं हि शर्मवर्मादिसंयुतम्॥
शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंश्रयम्। गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥
(विष्णुपुराण, तृतीय अंश, अध्याय - १०, श्लोक - ०८-०९)

श्लोकों में ध्यान से देखें कि पिता को ही नामकरण करने को कहा है। यद्यपि गुरु के द्वारा नामकरण भी निषिद्ध नहीं है फिर भी प्रथमाधिकार पिता का होता है। और यह केवल

ब्राह्मण में नहीं, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हेतु भी मान्य है, श्लोक में शर्मवर्मदासगुप्तादि लक्षणों से यह स्पष्ट है। फिर आपने कहा कि जो पांच ग्रह उच्च होते हैं, वे केवल परमेश्वर के होते हैं। तो बन्धु ! परमेश्वर ग्रहों के अनुशासन के अन्तर्गत नहीं आते। दूसरी बात, लोक में आजकल भी पूर्व और वर्तमान के अच्छे महापुरुषों और राजाओं की कुण्डली में पांच उच्च ग्रह मिल जाएंगे। आपकी बात मान लें तो फिर यह भी मानना होगा कि जब एक साथ पांच ग्रह उच्चस्थिति में होंगे तो पूरे पृथ्वी पर कोई बच्चा जन्म ही नहीं लेगा क्योंकि ऐसा योग तो मात्र परमेश्वर में ही घटित हो सकता है। यदि यह मान लें कि सूर्य के बिना पांच ग्रह कभी ऊंचे नहीं होते तो फिर यह आपकी अज्ञता को दिखाता है। मैंने इस बात का खण्डन करने से पूर्व एक बार आत्मतुष्टि हेतु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लब्धस्वर्णपदक ज्यौतिषाचार्य एवं फलित राजेन्द्र आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री ब्रजेश पाठक जी से परामर्श किया तो उन्होंने मेरे समक्ष बहुत सी ऐसी स्थितियां प्रस्तुत कर दीं, जिसमें सूर्य के बिना भी पांच ग्रह उच्च हो सकते हैं। उदाहरणस्वरूप एक स्थिति का अवलोकन करें। सूर्य के बिना भी पांच ग्रह उच्च हो सकते हैं। कैसे ? यदि राहु केतु को न भी गिनें, तो भी -

१) शनि सबसे लम्बे समय तक, लगभग ढाई वर्ष और उसके बाद गुरु सबसे लम्बे समय, लगभग तेरह महीने तक एक राशि में रहते हैं। तो जिस वर्ष शनि तुला में और बृहस्पति कर्क में हों, उस वर्ष को उदाहरण में लें।

२) अब बुध और शुक्र क्रमशः कन्या और मीन में उच्च होते हैं, किन्तु दोनों एक साथ उच्च नहीं हो सकते क्योंकि उनकी गति ऐसी नहीं है। अब यदि शुक्र उच्च के होंगे तो एक सम्भावना बन सकती है कि सूर्य उच्च हो जाएंगे क्योंकि दोनों की उच्च राशि आगे पीछे ही है, या कभी नहीं भी हो सकते हैं, जैसा कि मेरे ही जन्मकाल में शुक्र उच्च के हैं किन्तु सूर्य नहीं। तो हम बुध को उच्च मान लेते हैं।

३) इसमें सूर्य जब मेष में हों, अर्थात् उच्च हों, उस महीने को निकाल दें, क्योंकि आपके कथन के खण्डन हेतु सूर्य को उच्च किए बिना पांच ग्रहों को उच्च करना है। अब चन्द्रमा प्रत्येक महीने एक बार उच्च हो ही जाते हैं क्योंकि वे शीघ्रगामी हैं, तो इसमें भी वे कभी

भी आ सकते हैं।

४) जिस वर्ष शनि और गुरु एक साथ उच्च हों, उस वर्ष में बुध के उच्च आने पर यदि मंगल भी मकर राशि में आकर उच्च हो गए तो जैसे ही चन्द्रमा उसी महीने में वृष में आएंगे, बिना सूर्य और शुक्र के उच्च हुए भी पांच ग्रह स्वतः उच्च हो जायेंगे।

५) बुध के उच्च होने के स्थान पर शेष ग्रहों के उच्च होने पर यदि शुक्र और सूर्य की स्थिति बुध के साथ या बुध के बिना भी मीन राशि में हो गयी तो सूर्य और बुध के उच्च हुए बिना भी पांच ग्रह स्वतः उच्च के हो जायेंगे।

इस प्रकार ज्योतिर्विदग्रगण्य कालिदास जी का कथन शास्त्रीय सिद्ध होता है तथा श्रीरामभद्राचार्य का मत उनके इस शास्त्र में अगतिशील होने का परिचायक है। अब आपने कहा कि वाल्मीकीय रामायण स्वतः प्रमाण है और उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है क्योंकि उसको मान लेने से ६४६ सर्ग हो रहे हैं जबकि ५३० सर्गों की उनकी प्रतिज्ञा है। महोदय ! इससे पूर्व तो आपने कहा था कि उन्होंने ५०० सर्ग ही लिखे, अब आप स्वयं बिना उत्तरकाण्ड को जोड़े ही ३० सर्ग की गणना बढ़ा रहे हैं, और इस प्रकार से अपने ही पूर्वकथित मत को ध्वस्त कर रहे हैं। आपने कहा कि युद्धकाण्ड तक सीतानिर्वासन का प्रकरण नहीं आता और शम्बूक वध भी तर्क से संगत नहीं हो रहा है। महोदय, शम्बूक वध और सीतात्याग के सैकड़ों प्रमाण दे चुका हूँ किन्तु मेरे पक्ष से प्रस्तुत उन शास्त्रवाक्यों को आप प्रमाण में गिनते ही नहीं तो आपका अज्ञान दूर होगा कैसे ? अब आपने कहा है कि दाक्षिणात्य लोग उत्तरकाण्ड को नहीं गिनते किन्तु दाक्षिणात्य मध्वाचार्य जी ने ही उत्तरकाण्ड की कथाओं का वर्णन अपनी कृतियों में किया है। फिर आपने कहा कि आपके पास जो घनान्ती जी का नवाहपारायण है, वहाँ केवल युद्धकाण्डपर्यन्त ही कथा कही गयी है, तो मेरे पास श्री कृपाशंकर रामायणी जी की अनुष्ठानप्रकाशोक्त नवाहपारायण विधि है, उसमें उत्तरकाण्ड के साथ ही पाठ का विधान है।

प्रथमे तु अयोध्यायाः षड्वर्गान्ते शुभा स्थितिः।

तस्यैवाशीतिसर्गान्ते द्वितीये दिवसे स्थितिः ॥
तथा विंशतिसर्गान्ते चारण्यस्य तृतीयके। दिने चतुर्थे षट्चत्वारिंशत्सर्गे कथास्थितिः ॥
किष्किन्धाख्यस्य काण्डस्य पाठविद्भिरुदाहृता।
सुसप्तचत्वारिंशत्के सर्गान्ते सुन्दरे स्थितिम् ॥
पञ्चमे दिवसे कुर्यादथ षष्ठे तथोच्यते।
युद्धकाण्डस्य पञ्चाशत्सर्गान्ते विमला स्थितिः ॥
एकोनशतसङ्ख्याके सर्गान्ते सप्तमे दिने।
युद्धस्यैव तु काण्डस्य विश्रामः सम्प्रकीर्तितः ॥
तथा चोत्तरकाण्डस्य षट्त्रिंशत्सर्गपूरणे। अष्टमे दिवसे कृत्वा स्थितिञ्च नवमे दिने ॥
शेषं समाप्य युद्धस्य चान्त्यं सर्गं पुनः पठेत्।
रामराज्यकथा यस्मिन् सर्ववाञ्छितदायिनी ॥
एवं पाठक्रमः पूर्वैराचार्यैश्च विनिर्मितः।
(अनुष्ठानप्रकाश)

अर्थात्, पहले दिन बालकाण्डसे आरम्भ करके अयोध्याकाण्डके छठे सर्गपर विश्राम करें। दूसरे दिन अयोध्याकाण्डके ही ८०वें सर्गपर विश्राम करना चाहिये। तीसरे दिन अरण्यकाण्डके २०वें सर्गपर विश्राम करना चाहिये। चौथे दिन किष्किन्धाकाण्डके ४६वें सर्गपर विश्राम करना चाहिये। पाँचवें दिन सुन्दरकाण्डके ४७वें सर्गपर विश्राम करना चाहिये। छठे दिन युद्धकाण्डके ५०वें सर्गपर विश्राम करना चाहिये। सातवें दिन युद्धकाण्डके ही ९९वें सर्गपर विश्राम करना चाहिये। आठवें दिन उत्तरकाण्डके ३६वें सर्गपर विश्राम करना चाहिये। नवें दिन उत्तरकाण्ड समाप्त करके युद्धकाण्डके अन्तिम सर्गका पाठ करना चाहिये। युद्धकाण्डके अन्तिम सर्गमें सर्वमनोरथपूरयित्री श्रीरामराज्यकी कथाका मंगलमय वर्णन है। इस प्रकार पूर्वाचार्योंने श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके नवाह्नपारायणका क्रम निश्चित किया है। श्री कृपाशंकर रामायणी जी का तो आप भी सम्मान करते हैं, उन्होंने सम्पूर्ण वाल्मीकीय रामायण को, उत्तरकाण्ड और उसकी सभी कथाओं के साथ मौखिक और लिखित रूप में वर्णित किया है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

सभी मीमांसाओं के अनन्तर जनता के मनमें जो एक ज्वलन्त प्रश्न है कि श्रीमद्भागवतम् में भी सीताजीके निर्वासनकी कथा है । यद्यपि इसका उत्तर हम आगे देने वाले हैं, फिर भी प्रथम निःश्वासमें इसको स्पष्ट करने के लिए मेरा मन स्वयं कह रहा है, क्योंकि यह अनिवार्यता है। यहाँ मैं बहुत समारोहसे कह रहा हूँ कि यह प्रकरण भी प्रक्षिप्त है। मैं इसका तर्कशः उत्तर दे रहा हूँ। श्रीमद्भागवतम् के ही ९वें स्कन्धके ११ वें अध्यायके सात श्लोक सन्दिग्ध हैं। श्रीमद्भागवतम् में रामजीके राज्यका वर्णन करने के पश्चात् जो आठवाँ श्लोक आया -

कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः।
चरन् वाचोऽश्रृणोद्रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित्॥
(भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ / ११ / ८)

इसका अर्थ यह है कि किसी समय लोककी जिज्ञासा करते हुए भगवान् राम ने रात्रिमें चुपके से भ्रमण करते हुए किसी व्यक्तिके मुखसे अपनी धर्मपत्नी सीताजीके विषयमें एक अपवाद सुना। यहाँ मेरा निवेदन यह है - (१) पहली बात भगवान् को जिज्ञासा क्यों हुई ? वे तो सर्वज्ञ हैं, उनको जिज्ञासा क्यों होगी ? क्योंकि इससे प्रथम श्लोक में -

नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे।
उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये॥
(भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ / ११ / ७)

कहा गया। न्यस्तदण्डोंके हृदयमें जिनके चरण विराजमान होते हैं, वे लोककी जिज्ञासा क्यों करेंगे ? (२) मेरा द्वितीय पक्ष है कि लोकजिज्ञासुः शब्द भी व्याकरणसे नहीं बनेगा। लोकं जिज्ञासते इति लोकञ्जिज्ञासुः। यहाँ सनाशंसभिक्ष उः (पा ० अ ० सू ० ३.२.१६८) सूत्रसे उ प्रत्यय होगा और न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (पा ० अ ० स ० २.३.६ ९) सूत्रसे षष्ठीका निषेध हो जायेगा। द्वितीया ही होगी और समास होगा ही नहीं। तो

लोकजिज्ञासु शब्द ही व्याकरणसे अनिष्पन्न है।

(३) तृतीय पक्ष यहाँ यह है कि "पत्या भीतेन सा त्यक्ता" (भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ . ११.१०) - भगवान् राम तो सबको अभय देते हैं, वे भयभीत क्यों ? और (४) चतुर्थ पक्ष, जो यहाँ बहुत रोचक है, वो यह है कि १५ वें श्लोकमें यहाँ कहा जा रहा है -

मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता।
ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह॥
(भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ / ११ / १५)

अर्थात् लव - कुश को मुनि वाल्मीकिको समर्पित करके पतिद्वारा परित्यक्त सीताजी पृथ्वी - विवरमें प्रवेश कर गयीं। १५वें श्लोकमें तो सीताजीके पृथ्वी - प्रवेशकी बात कही गयी और फिर पूरा माहात्म्य २०वें, २१वें, २२वें और २३वें श्लोकमें कह दिया गया। जब माहात्म्य कह दिया गया, तो रामचरितने विश्राम ले लिया, फिर चौबीसवें श्लोकमें क्यों प्रश्न उठाया गया ?

कथं स भगवान् रामो भ्रातॄन् वा स्वयमात्मनः।
तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्चईश्वरे॥
(भा ० पु ० गी ० ० ९ / ११ / २४)

भगवान् राम अपने भाइयोंके प्रति कैसा बर्ताव करते थे और भाई लोग कैसे बर्ताव करते थे ? यह सब ! और फिर -

अथादिशद्दिग्विजये भ्रातॄंस्त्रिभुवनेश्वरः।
आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः॥
(भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ / ११ / २५)

दिग्विजयमें भ्राताओं को भगवान् ने आदेश दिया और अन्तमें इसी अध्याय के ३५ वें

श्लोकमें स्पष्ट आया है -

तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल॥
(भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ / ११ / ३५)

अर्थात् श्रीअयोध्यापुरमें आत्माराम और धीरोंमें श्रेष्ठ भगवान् राम अपनी प्रिय, स्निग्ध, इष्ट सीताजीके साथ विहार करने लगे। १५वें श्लोकमें सीताजीने विवरमें प्रवेश किया और ३५वें श्लोकमें सीताजी विहार करने के लिए फिर कैसे आ गयीं ? निश्चित है कि यहाँ भी भागवत में प्रक्षेप डाला गया, यह प्रकरण प्रक्षिप्त है। उचित यह है कि जब सातवें अध्याय में ऋषियोंने भगवान् रामको नमन कर लिया, तो जो चौबीसवाँ श्लोक है, उसे ८वें पर होना चाहिए -

कथं स भगवान् रामो भ्रातॄन् वा स्वयमात्मनः।
तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे॥
(भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ / ११ / २४)

इसको केवल सीताजीके वनवासका प्रक्षेप डालनेके लिए चौबीसवेंपर कर दिया गया और उचित यही है कि यज्ञके पश्चात् भगवान् ने भ्राताओं को दिग्विजयका आदेश दिया और सीताजीके साथ भगवान् राम रमण कर रहे हैं श्रीअवधमें। यही पक्ष उचित है, क्योंकि १५वें श्लोकमें सीताजीने विवरमें प्रवेश कर लिया और ३५वें श्लोकमें फिर सीताजी के साथ भगवान् राम रमण कर रहे हैं। यह सुनकर सामान्य व्यक्ति को तो अटपटा नहीं लगेगा, किन्तु जो कुछ पढ़ते - लिखते हैं, उनको अटपटा लगेगा ही ! ऐसी असङ्गति क्यों ? इसलिए यह निश्चित है कि भागवतमें भी यह प्रक्षिप्त अंश है। अब यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है और हमारे जो चिचखयिषु महोदय हैं, उनके मनमें भी जिज्ञासा होगी, क्योंकि वो अभी बालक हैं कि बार बार आप प्रक्षेपकी बात क्यों कर रहे हैं ?

उनको जानना चाहिए कि भारतीय संस्कृतिको नष्ट करनेके लिए विधर्मियों ने एक बहुत

बड़ी कुचाल चली, बहुत बड़ा षड़यन्त्र कहें , जिसको हम आप लोग समझ नहीं पा रहे हैं। जहाँ - जहाँ पुराणों में ऐसी स्थिति आयी, वहाँ - वहाँ उन्होंने प्रक्षेप और डलवाया। मैं एक ऐसा उदाहरण दूँगा, जिसे सुनकर भले हमारे खण्डक महोदय को कोई प्रभाव न पड़े क्योंकि वे अभी बालक हैं , परन्तु सामान्य व्यक्तिके मनपर तो प्रभाव पड़ेगा। ब्रह्मवैवर्तपुराण सभी जानते हैं। उसमें राधाजी के चरित्र का जब वर्णन किया गया, तो एक ऐसा प्रसङ्ग प्रक्षिप्त आया है, जो कई अध्यायोंमें है। जिसे सुनकर सामान्य व्यक्ति तो दुःखी होगा ही, हाँ ! ये महोदय भले ही दुःखी न हों। भागवत जी में राधाजी का नाम नहीं मिलता और ब्रह्मवैवर्तपुराण में जो राधाजी का वर्णन आया, उसमें भी ऐसा विकृत प्रक्षेप है कि जिसे कहने में भी मुझे लज्जा की अनुभूति हो रही है और रसिक पाठकों को भी सुनने में लज्जा की अनुभूति होगी, भले ही इन महोदय को न हो क्योंकि वे तो ईर्ष्याग्रस्त मस्तिष्क के हैं।

वहाँ प्रक्षेप यह किया गया कि राधाजी श्रीकृष्णचन्द्रजीकी मामी थीं अर्थात् गोपकी पत्नी थीं ? क्या कोई भी सनातनधर्मावलम्बी अपनी माँके समान मातृतुल्य मामीसे दाम्पत्य भाव रखेगा ? श्रीकृष्णका राधाजीसे प्रेम तो है ही, राधाजी श्रीकृष्णकी पत्नी हैं , सारा संसार जानता है। हम राधेकृष्ण कहते हैं, रुक्मिणी - कृष्ण कभी नहीं कहते जो भगवान् की मुख्य पत्नी हैं, ब्रह्मवैवर्तमें जिनके विवाह की चर्चा है कि वैदिक रीतिसे भगवान् श्रीकृष्णका श्रीराधाजी विवाह हुआ, यदि वे भगवान् की मामी हैं, तो उनका वैदिकरीति से भगवान् से विवाह कैसे होगा ? केवल श्रीकृष्णचरितको अपमानित करने के लिए एक कल्पना करके लोगोंने राधाजीको भगवान् श्रीकृष्णकी मामी सिद्ध करनेके लिए लगभग हजारों श्लोकोंकी रचना करके इसमें प्रक्षेप डाल दिया। इसको अब क्या कहेंगे ? कितने पुराणों से आप उद्धरण देंगे ? क्या आप सिद्ध करेंगे कि भगवान् ने अपनी मामीको अपनी पत्नी बना लिया ? यदि सिद्ध करते हैं, तो आपकी बुद्धिको हम प्रणाम करेंगे भाई , क्योंकि हम स्वीकार तो नहीं कर सकते। राधाजी जो भगवान् की नित्य सहचारिणी हैं, उनको मामी बनाने के लिए यदि अंग्रेज श्लोक बनवा कर डालवा सकते हैं, तो सीता - वनवासका प्रक्षेप डलवाने में उनको आपत्ति क्या है ?

विधर्मी चाह ही रहा है कि किसी प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्णका अपमान हो और वो भारतीय

मस्तिष्कसे चले जाएँ, जिससे विदेशी संस्कृति भारतपर थोपी जाए और इस षड़यन्त्रको आजके लोग समझ नहीं रहे हैं। तो जिस मस्तिष्कके लोगों ने भागवतजीमें राधाजीका प्रत्यक्ष नाम समाप्त करवा दिया, जिस मस्तिष्कके लोगों ने ब्रह्मवैवर्तमें राधाजीको श्रीकृष्णकी मामी सिद्ध कर दिया और यह कह दिया कि अपनी मामीसे भगवान् श्रीकृष्णने विवाह किया था, उसी मस्तिष्कके लोगों ने भागवतजीमें सीताजी निर्वासनका भी प्रसङ्ग ठूंस दिया। पर इसकी पोल यहाँ खुल गयी , क्योंकि १५ वें श्लोकमें कहा जा रहा है- ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह (भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ .११.१५) अर्थात् सीताजी रामजीके चरणका ध्यान करती हुई विवरमें चली गयीं, पृथ्वीमें समा गयीं और ३५ वें श्लोकमें कहा जा रहा है -

तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल॥
(भा ० पु ० गी ० प्रे ० ९ / ११ / ३५)

तस्मिन् अयोध्यापुरे स्वारामधीराणामृषभः भगवान् रामः स्निग्धया प्रियया इष्टया सीतया स रेमे - उस अयोध्यापुरमें आत्माराम और धीरोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीराम स्नेहयुक्त , अनुकूल, प्रिय अपनी धर्मपत्नी सीताजीके साथ विहार किये। १५वें श्लोकमें विवरमें प्रवेश और ३५वें श्लोकमें सीताजीके साथ श्रीरामका विहार ! यह कितनी असङ्गत बात है। इसलिए मैं यह कह रहा हूँ कि यह प्रसङ्ग भी पूर्णतया प्रक्षिप्त है और क्या अन्य ग्रन्थों में भी प्रक्षिप्तोंकी गिनती आप नहीं कर सकेंगे, इतना प्रक्षेप किया गया है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

अब आपके अगले कुतर्क का खण्डन करते हैं। आपने बड़े दुःसाहस से श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय के भी सीतात्यागसम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त कह दिया। आपने प्रश्न किया कि भगवान् को जिज्ञासा क्यों हुई, जबकि वे तो सर्वज्ञ हैं और दूसरे यह, कि सबको अभय देने वाले स्वयं भयभीत क्यों हैं ? तो महोदय, जब आप यह कह रहे थे

कि भगवान् को भूख लगी तो शबरी जी के आश्रम गए कि माता शबरी कुछ खिलाएंगी, उस समय आपको यह क्यों नहीं लगा कि क्षुधा तो देह का विकार है, ब्रह्म का नहीं। उस समय तो आपने कह दिया कि नरलीला कर रहे हैं। तो महोदय, भगवान् यहां भी जिज्ञासा की नरलीला ही कर रहे हैं। सती जी को भी तो यही शङ्का हुई थी न -

बिष्नु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥
(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा - ५१ से पूर्व)

किन्तु शिवजी यहां भ्रमित नहीं हुए। आपको भी समझना चाहिए कि जो भगवान् सर्वज्ञ होने पर भी सीताजी को अज्ञ के समान खोजने की लीला कर रहे हैं और सबों को अभय देने वाले होकर भी लक्ष्मण जी को शक्तिबाण लगने के समय उनकी सम्भावित मृत्यु से भयभीत होकर प्रलाप करने की लीला कर सकते हैं, वे यहाँ भी सर्वज्ञ और अभयदाता होकर भी जिज्ञासु और लोकापवाद से भयभीत होने की लीला ही कर रहे हैं। व्याकरण से सम्बन्धित शङ्का का समाधान कालिदास के प्रसङ्ग के साथ ही कर चुका हूँ। वैसे भी जो प्रक्षिप्त करने वाला अगर कोई होगा तो वह ध्यानपूर्वक व्याकरणसम्मत शब्द ही लगायेगा ताकि कोई पकड़ न सके। जानबूझकर ऐसे अपाणिनीय प्रयोग नहीं करेगा कि उसकी मिलावट सरलता से पकड़ में आ जाये। किन्तु आप जैसे जनों के साथ समस्या यह है कि थोडा सा अध्ययन और प्रसिद्धि होते ही सीधे शास्त्रों की समीक्षा करने बैठ जाते हैं, स्वयं को ब्रह्मा घोषित कर देते हैं। ऋषियों के वचनों में, ईश्वर की लीलाओं में अश्रद्धालु होकर अपने व्याकरण का अजीर्ण दिखाने लगते हैं। बन्धु ! जिन वेदव्यासजी ने लिखा वे आपसे बहुत अधिक प्रज्ञा वाले हैं और कोई प्रक्षिप्तवादी यदि मिलावट करेगा तो बहुत ध्यान से लिखेगा ताकि ऐसी त्रुटियों के कारण वह पकड़ में न आये।

अब आपका अगला कुतर्क यह है कि सीताजी के भूमिप्रवेश की घटना वाले श्लोक के बाद पुनः सीताविहारपरक वर्णन का जो व्यतिक्रम है, इससे प्रक्षिप्तवाद सिद्ध होता है। महाशय ! यही तो श्रीमद्भागवत की शैली है। आप स्वयं देखें, श्रीमद्भागवत के प्रारम्भिक

स्कन्धों में ही यदुकुल के संहार और विदुर मैत्रेय संवाद आदि का वर्णन कर दिया गया। पहले युधिष्ठिर का स्वर्गारोहण बताने के बाद युधिष्ठिर नारद संवाद भी आगे बता दिया। पहले हिरण्याक्षवध बताने के बाद आगे उसकी उत्पत्ति का वृत्तान्त बताया। यहाँ तक कि नवम स्कन्ध के अन्तिम श्लोकों को देखें -

जातो गतः पितृगृहाद्व्रजमेधितार्थो हत्वा रिपून्सुतशतानि कृतोरुदारः।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे आत्मानमात्मनिगमं प्रथयन् जनेषु॥
पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन्कुरूणामन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्वः।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य प्रोच्योद्धवाय च परं समगात्स्वधाम॥

नवम स्कन्ध के अन्त में ही भगवान् श्रीकृष्ण के परमधामगमन का वृत्तान्त शुकदेव जी ने कह दिया। फिर तो कथाक्रम में ऐसे उलटफेर से आप पूरे ग्रन्थ को ही प्रक्षिप्त कह देंगे। ऐसा ही कुछ यहाँ भी समझना चाहिए कि सीताजी के भूमिप्रवेश की बात कहने के बाद सार्वकालिक रूप से उनके और श्रीरामजी के साहचर्य की बात कह दी। इसमें प्रक्षिप्तवाद जैसा कुछ नहीं है। आपको इतना सामान्य बोध तो होना ही चाहिए कि नृसिंहकृपालब्ध श्रीधराचार्य और वल्लभाचार्य जी आदि ने क्या व्याकरण नहीं पढ़ा था अथवा वे शास्त्रवाक्य को समझने की प्रज्ञा से रहित थे जो उन्होंने बिना कोई सन्देह-शङ्का के इन श्लोकों पर टीका कर दी ? आपने तो यहाँ तक कह दिया कि भारतीय संस्कृति को नष्ट करने के लिए विधर्मियों ने बहुत बड़ी कुचाल चली है। मैं सर्वथा सहमत हूँ। किन्तु वह चाल ग्रन्थों में प्रक्षेप डालने की नहीं, अपितु सर्वमान्य ग्रन्थों में प्रक्षेप का भ्रम उत्पन्न करके सनातन धर्म के अनुयायियों को अपने ही मूल शास्त्रों के प्रति सन्देह और अश्रद्धा से भर देने की है जिसमें आप जैसे शास्त्रनिन्दक सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

आपने जो श्रीराधाजी का उदाहरण देकर ब्रह्मवैवर्तपुराण को भी प्रक्षिप्त कहने की धृष्टता की है, उसमें अगर आप चाहें तो कल यह भी कह सकते हैं कि जो श्रीराधाकृष्ण के 'वैदिक' विवाह का वर्णन है, सो यह बात भी प्रक्षिप्त है, तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि भगवान् का उपनयन ही कंसवध के बाद मथुरा में हुआ तो फिर उससे पूर्व बाल्यकाल में ही

विवाह कैसे होगा ? अतः यह प्रसङ्ग प्रक्षिप्त है। किन्तु आपको पुराणों में ही वर्णन मिल जाएगा कि श्रीदाम गोप के शाप से श्रीराधाकृष्ण जी का सौ वर्षों का भौतिक वियोग निश्चित था। अतः ब्रह्माजी के द्वारा विवाह कराए जाने पर भी उनका भौतिक साहचर्य श्रीकृष्ण के साथ नहीं हुआ तथा बाद में लोकव्यवहार हेतु उन्होंने छाया राधा के माध्यम से श्रीकृष्ण के ही अंशावतार रायाणगोप से विवाह किया था।

स च द्वादशगोपानां रायाणः परमः प्रिये।
श्रीकृष्णांशश्च भगवान् विष्णुतुल्यपराक्रमः॥

अतः जो मामी वाली बात है, वह छाया राधा के साथ हो सकती है, मूलप्रकृति राधाजी के साथ नहीं। एवं आपका प्रक्षेपानुसन्धान यहाँ निरस्त होता है। प्रमाणहेतु ब्रह्मवैवर्तपुराण के ही निम्न श्लोकों को देख लें -

अहमेव स्वयं राधा छाया रायाणकामिनी। रायाणः श्रीहरेरंशः पार्षदप्रवरो महान्॥

आगे और भी देखें -

अहं श्रीदामशापेन वृषभानुसुताधुना। शतवर्षञ्च विच्छेदो हरिणा सह साम्प्रतम्॥

अब तो आप यह लिखित रूप से कह रहे हैं कि यह प्रक्षेप अंग्रेजों ने डलवाया, किन्तु बन्धु ! यदि आप ग्रन्थों में मिलावट का आरोप अंग्रेजों पर लगाते हैं तो अंग्रेजों से पूर्ववर्ती वल्लभाचार्य जी के द्वारा गीताभाष्य में, मध्वाचार्य जी के द्वारा महाभारततात्पर्यनिर्णय में और कुमारिलभट्ट के द्वारा तन्त्रवार्तिक आदि में वर्णित सीतात्याग और शम्बूकवध को प्रक्षिप्त कैसे कह रहे हैं ? अंग्रेजों से सैकड़ों वर्ष पूर्व के आचार्यों ने, श्रीधरस्वामी आदि ने श्रीमद्भागवत के उन श्लोकों पर टीका कैसे कर दी ? अभी तो आपने लिखा कि यदि भगवान् की नित्य सहचारिणी राधाजी को उनकी मामी बनवाने के लिए अंग्रेज श्लोक बनवाकर डलवा सकते हैं तो सीता-वनवास का प्रक्षेप डलवाने में उनको आपत्ति क्या है ? मुझे यह समझ में नहीं आता कि यदि सीता निर्वासन का प्रक्षेप आपके ही कहे अनुसार अंग्रेजों ने डलवाया तो फिर उसका वर्णन पूर्व के आचार्यों ने कैसे कर दिया ?

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

भविष्योत्तरपुराणमें तो विक्टोरियाका भी नाम लिख दिया गया। क्या यह किसी को सह्य होगा ? आप बुद्धकी बात कर रहे हैं। सत्य क्या है ? भारतका बहुशः समाज यह जानता है कि गौतम बुद्ध ही भगवान् हैं, जबकि ऐसा है नहीं। न मैं मानता हूँ और न हमारे बड़े अच्छे मित्र पुरीके वर्तमान पीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीनिश्चलानन्दसरस्वती जी महाराज। उनका भी यही मत है कि गौतम बुद्ध कभी भगवान् हो ही नहीं सकते, पुरीपीठाधीश्वर जी का अपनी पुस्तक में हमारे खण्डक महोदय ने बड़े समारोहमें मण्डन किया। वहाँ लिखा है - **जिनो नाम द्विजः कश्चित् तत्पत्नी जयनी स्मृता।**

गौतम बुद्ध भगवान् कैसे होंगे ? उन्होंने हमारे वेदोंका खण्डन किया, धम्मपदमें अध्यात्मविद्याका खण्डन करके अनात्मवाद सिद्ध किया। वो यहाँ जन्मे भी नहीं, नेपालमें जन्मे। भगवान् का निरन्तर भारतमें ही जन्म होता है और कहीं नहीं होता। स्वयं इन्हीं भागवतपुराणमें प्रथम स्कन्ध तृतीय अध्यायमें वेदव्यासजी समारोहसे कहते हैं - **बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति** (भा० पु० १.३.२४)। कीकट अर्थात् गया (बिहार) प्रदेश में बुद्ध होंगे । उनके पिताका नाम भी लिखा गया, फिर लोगोंने पाठ जनसुतः कर दिया - **बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति** (भा ० पु ० गी ० प्रे ० १.३.२४)।

ये बुद्ध गौतमबुद्ध पश्चात् बुद्ध बने, पहले इनका नाम था सिद्धार्थ और हमारे जो हिन्दुओंके बुद्धावतार भगवान् हैं, वे ब्राह्मण हैं, काश्यपगौत्री हैं, उनके पिताका नाम जिन है और माताका नाम जयनी है। ये बारह भाई हैं और बारहवें भ्राता भगवान् बुद्ध हैं। जैसे आदित्योंमें बारहवें भ्राता भगवान् वामन हैं विष्णु, उसी प्रकार ये। इनका कार्य है अनधिकारियोंसे वेद लेकर अधिकारियों को दे देना। इसलिए भविष्योत्तरपुराणमें यह वर्णन भी है, जिसको हम नहीं देख पाते -

प्रवीणो निपुणोऽभिज्ञः कुशलीश्च कृती सुखी।

निष्णातः शिक्षितश्चैव सर्वज्ञः सुगतस्तथा ॥
प्रबुद्धश्च तथा बुद्ध आदित्याः क्रमतोभवाः ।
(भविष्योत्तरपुराण, प्रतिसर्गपर्व, तृतीयखण्ड २० / ८१-८२)

(१) प्रवीण, (२) निपुण, (३) अभिज्ञ, (४) कुशल, (५) कृती, (६) सुखी, (७) निष्णात, (८) शिक्षित, (९) सर्वज्ञ, (१०) सुगत, (११) प्रबुद्ध और (१२) बुद्ध। इसलिए शास्त्रों पर विचार करने के लिए हमको ईर्ष्या - द्वेष से ऊपर उठना पड़ेगा और प्रतिभाओं का सम्मान करना पड़ेगा, गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा। हम लोगोंने शास्त्र - सेवामें अपना पूरा जीवन लगाया और हम शास्त्रका विरोध कभी करेंगे ? सनातनधर्म के लिए सब कुछ छोड़ा। मेरे लिए कहा जाता है - स्वयंभू जगद्गुरु ! मैंने तो प्रमाण दे दिया, मेरा जगद्गुरुत्व सभी आचार्यों के द्वारा प्रमाणित हो चुका है। अब कुम्भमें हम फिर आपको बता देंगे, प्रमाणित करनेको आवश्यकता ही नहीं मुझे। पर तथाकथित खण्डक महोदयका गुरुत्व कहाँ प्रमाणित है ? और २३ वर्षमें उन्होंने किससे सम्पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन कर लिया ? हमारे जगद्गुरुत्वपर तो कोई सन्देह कर ही नहीं सकता, काशी विद्वद् परिषद्, तीनों अखाड़ों और सभी आचार्योंने उसपर मोहर लगाई है और मैंने कभी शास्त्र के विरुद्ध कुछ कहा ही नहीं।

मेरे लिए एक आरोप लगाया जाता है कि मैंने चौपाई बदली। इसपर मैं उच्चन्यायालय का निर्णय भी प्रस्तुत करूंगा। जब मुझपर अभियोग लगाया गया, तो माननीय उच्चन्यायालय ने कह दिया कि मैंने तुलसीदासजीको चौपाईमें एक अक्षर का भी छेड़छाड़ नहीं किया है। गीताप्रेस ने २३ प्रतियोंके आधार पर सम्पादन किया, मैंने २७ प्रतियोंके आधारपर सम्पादन किया है। चौपाईमें छेड़छाड़ मैं क्यों करूंगा ? मेरे जीवनके आठवें वर्ष के प्रारम्भमें मुझे मानसजी कण्ठस्थ हो गये थे और पाँचवें वर्ष में श्रीमद्भगवद्गीता कण्ठस्थ हो गयी थी, तो मैं ग्रन्थों से छेड़छाड़ क्यों करूंगा ? मुझे आवश्यकता क्या है छेड़छाड़ करने की ? मुझे तो गोस्वामी तुलसीदासजी प्राणों से भी प्रिय हैं। हाँ ! जहाँ - जहाँ पुरानी प्रतियोंकी अपेक्षा अशुद्धियाँ हैं, मैंने केवल उनको बदला। हमने क्या चौपाई बदली ? मैं आज अपने वक्तव्य के द्वारा जनता जनार्दनको विश्वस्त कर रहा हूँ कि मैंने कभी भी शास्त्रसे

छेड़छाड़ नहीं की है और अपने जगद्गुरुत्वकी मर्यादा मैं स्वयं जानता हूँ। जो लोग मुझे स्वयंभू जगद्गुरु कह रहे हैं, वे ही यदि मेरे समक्ष पाँच मिनट शुद्ध संस्कृत बोल दें, तो जो कहें, वो मैं करनेके लिए तैयार हूँ। और मैं आज भी एक घंटे में सौ श्लोक बनानेकी क्षमता रखता हूँ और तथाकथित गुरु, गुरु शब्द का रूप भी नहीं जानते होंगे। अब मैं प्रथम निःश्वासको एक श्लोकके द्वारा सम्पन्न करना चाह रहा हूँ -

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥
(मालतीमाधवम् १/८)

प्रथम निःश्वास पूर्ण

॥श्रीराघवः शन्तनोतु॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

अब आपके अगले कुतर्क की ओर आते हैं। आपने कहा कि भविष्योत्तर पुराण में विक्टोरिया का नाम लिख दिया गया, यह किसी को सह्य नहीं होगा और फिर आप वहीं से बुद्ध का प्रमाण ले आये। अस्तु, जब नाम ही भविष्यपुराण है, तो उसमें वेदव्यास जी भविष्य की बातें ही लिखेंगे न। आप स्वयं भविष्योत्तरपुराण के आधार पर ही कहते हैं कि श्रीरामजी ही रामानन्दाचार्य का अवतार लेकर आये। आप ही भविष्योत्तरपुराण का नाम लेकर कहते हैं कि वाल्मीकि जी की तुलसीदास का रूप लेकर आये। तो क्या त्रिकालदर्शी वेदव्यास जी की दृष्टि इतनी कमज़ोर थी कि तुलसीदास जी तक का भविष्य देखकर वर्णन कर दिया किन्तु उनके ढाई सौ वर्ष की विक्टोरिया को नहीं देख पाये ?

आज भारत की संस्कृति और शासन में आहार, शिक्षा, परिवेश और आजीविका की दृष्टि से जो पतनकारी परिवर्तन हुआ है, उसमें विक्टोरिया और अंग्रेजों का कितना बड़ा हाथ है। तो क्या वेदव्यास जी भविष्य की घटनाओं को लिखते समय उसका वर्णन नहीं कर सकते ? अब बुद्ध पर आते हैं। पुरी शंकराचार्य जी से आपके कितने मधुर सम्बन्ध हैं, इतने

बड़े अच्छे मित्र के गोवर्धन मठ में आप क्यों नहीं जाते, ये उनके और आपके पीठ के लोग बहुत अच्छे से जानते हैं इसीलिए यहाँ आप दोनों के निजी सम्बन्ध पर मैं कोई टिप्पणी नहीं करूंगा। काश्यप/अजनपुत्र/जिनपुत्र ब्राह्मण बुद्ध के भगवदवतार होने में मुझे कोई समस्या या आपत्ति नहीं है। आपने जो बुद्धों के नाम गिनाये हैं, वे भी मैं जानता हूँ। इतना ही नहीं, अपनी पिछली पुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' में अट्ठाईस बुद्धों का क्रमशः संक्षिप्त विवरण सूचीबद्ध प्रस्तुत कर चुका हूँ।

आपके दो बिन्दु हैं। प्रथम तो यह कि वेदों का खण्डन करने वाले गौतमबुद्ध भगवान् कैसे होंगे ? अवतार मात्र काश्यप ब्राह्मण बुद्ध हैं। दूसरा यह कि गौतमबुद्ध नेपाल में जन्मे जबकि भगवान् का अवतार भारत में ही होता है। अब मैं पहले तो यह कहूंगा कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में १०८ देश हैं और भारत का विस्तार ऐराक (ईराक) एवं पार्श्वदेश (फारस/ईरान) से ब्रह्मदेश (बर्मा/म्यांमार) तक है। उत्तर में तिब्बत के पीछे तक इसकी स्थिति है। नेपाल भी भारतवर्ष के अन्तर्गत ही एक देश है। उस काल के तो मिथिला जनकपुर आदि भी नेपाल तक शासन करते थे। शक्तिसङ्गम महातन्त्रराज में प्रत्येक देश की निश्चित सीमा दी हुई है, वहाँ से अधिक विवरण प्राप्त कर लें।

दूसरी बात कि काकभुशुण्डि जी ने योगवासिष्ठ महारामायण में महर्षि वशिष्ठ को यह कहा है - हरेर्बुद्धदशा शतम्। मैंने भगवान् विष्णु के बुद्धावतार की दशा सौ बार देखी है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धावतार अनेकों बार हुआ है। कोई भी बुद्ध हो, वे वेदों का खण्डन करेंगे ही क्योंकि उनका दर्शन ही यही है। ऐसा नहीं कि केवल गौतम या केवल काश्यप या केवल मैत्रेय। कोई भी बुद्ध हो, बौद्ध दर्शन की विचारधारा वही रहेगी। अतः श्रुतिविरुद्ध भाषण का आरोप यदि गौतम पर लगेगा तो काश्यप अजनपुत्र उससे अछूते नहीं रहेंगे। वेदों के अतिरिक्त तो आप किसी को प्रमाण मानते नहीं हैं, तो वेदों से ही बुद्धावतार का प्रमाण दे देता हूँ।

अथर्ववेद की नारायणपूर्वतापनीय श्रुति के पञ्चम खण्ड में वर्णन है -

स होवाच भगवान् ब्रह्मा दशकलात्मकोऽवतारः कथ्यते ॥
जरा पालिनिका शान्तिरीश्वरी रतिकामिका।
वरदा ह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घा दशकला हरेः॥
नारायणादवतारा मन्त्ररूपा जायन्ते। ॐ नमो नारायणाय स्वाहा। एवं दशाक्षरो महामन्त्रो भवति। तत्र प्रथमो मत्स्यावतारः। द्वितीयः कूर्मः। तृतीयो वराहः । चतुर्थो नरसिंहः। पञ्चमो वामनः। षष्ठो जमदग्निः। सप्तमो रामचन्द्रः। अष्टमः कृष्णः परमात्मा। नवमो बुद्धावतारः। दशमः कल्किर्जनार्दनः।

फिर आगे सबके मन्त्र भी बताए -

ॐ मत्स्यावताराय नमः। श्रीं कूर्मावताराय नमः। ह्रीं वराहावताराय नमः। हुं नृसिंहावताराय नमः। सौः वामनावताराय नमः। ऐं परशुरामावताराय नमः। ग्लौं रामचन्द्राय नमः। क्लीं कृष्णाय नमः। ब्लूं बुद्धावताराय नमः।
सः कल्क्यवताराय नमः इति।

इस प्रकार से मैंने वेदों से बुद्धावतार सिद्ध किया। अब अजनपुत्र काश्यप ब्राह्मण बुद्ध के नारायणावतार होने के सन्दर्भ में तो अनेकों प्रमाण हैं, जो सर्वथा मान्य और असन्दिग्ध हैं। किन्तु शुद्धोदनपुत्र गौतम क्षत्रिय बुद्ध भी नारायणावतार हैं, इसके सन्दर्भ में आप निम्न शास्त्र प्रमाण देखें - नारद पाञ्चरात्र में तथा पद्मपुराण - उत्तरखण्ड, अध्याय - ७१ में शिवप्रोक्त विष्णुसहस्रनाम है, जिसमें सभी अवतारों के नाम दिए हुए हैं। बुद्धावतार के सन्दर्भ में निम्न नाम हैं जिनमें शौद्धोदनि भी है, शुद्धोदन का पुत्र - इसे शाक्तप्रमोदकार ने भी सम्मिलित किया है।

बुद्धो ध्यानजिताशेषो देवदेवो जगत्प्रियः। निरायुधो जगज्जैत्रः श्रीधरो दुष्टमोहनः॥
दैत्यवेदबहिःकर्त्ता वेदार्थश्रुतिगोपकः। शौद्धोदनिर्दष्टदृष्टिः सुखदः सदसस्पतिः॥

इसके अतिरिक्त सपादलक्ष महाभारत (बृहत्तर संस्करण) के शांतिपर्व, अध्याय ३४८, श्लोक ४३ में स्वयं भगवान् विष्णु कहते हैं कि मैं शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध के रूप में अवतार लूंगा।

काषायवस्त्रसंवीतो मुण्डितः शुक्लदन्तवान्।
शुद्धोदनसुतो बुद्धो मोहयिष्यामि मानवान्॥

आगे विष्णुधर्मपुराण के अध्याय ६६, श्लोक - ६८ में भगवान् विष्णु स्वयं ब्रह्मदेव से कहते हैं कि मैं शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध के रूप में अवतार लूंगा -

ततः कलियुगे घोरे सम्प्राप्तेऽब्जसमुद्भव। शुद्धोदनसुतो बुद्धो भविष्यामि विमत्सरः॥

अग्निपुराण के दशावतार प्रकरण में अध्याय सोलह, श्लोक प्रथम एवं द्वितीय देखें, जहाँ बुद्धावतार के वर्णन में शुद्धोदन के पुत्र का ही वर्णन है -

वक्ष्ये बुद्धावतारञ्च पठतः श्रृण्वतोऽर्थदम्। पुरा देवासुरे युद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः॥
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम्। मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत्॥

यहाँ तक कि बौद्ध भी ऐसा ही मानते हैं। बुद्धचरितम् में शुद्धोदनपुत्र गौतमबुद्ध हेतु महर्षि असित - 'नारायणस्थामवान्' कहते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार से अजनपुत्र ब्राह्मण काश्यपबुद्ध तथा शुद्धोदनपुत्र क्षत्रिय गौतमबुद्ध, दोनों का भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में वर्णन है। जो लोग गौतमबुद्ध को अवतार नहीं मानते, वे पहले ढंग से शास्त्रवाक्य का अनुशीलन कर लें।

आपने कहा कि आपको आठवें वर्ष में मानसजी और पांचवें वर्ष में गीताजी कंठस्थ हो गये थे। मुझे भी चौथे वर्ष में श्रीमद्भगवद्गीता कंठस्थ हो गयी थी एवं पांचवें वर्ष में इस कारण मैं मीडिया में भी आ गया था। मेरे पास साक्ष्य हेतु मीडिया के समाचार पत्र, झारखण्ड के तत्कालीन राज्यपाल (अब स्व०) श्री म० रामा जोईस एवं विधानसभा अध्यक्ष श्री

इन्दरसिंह नामधारी आदि के द्वारा प्रदत्त प्रशस्तिपत्र भी उपलब्ध हैं। आप शास्त्र से क्यों छेड़छाड़ करेंगे, इसके पीछे कौन सा विधर्मी दल आपको प्रायोजित कर रहा है, यह तो मैं नहीं जानता किन्तु मैं इतना अवश्य समझता हूँ कि जैसे कुर्बानी के नाम पर पहले म्लेच्छ समुदाय के लोग बकरे को खूब पालते हैं, खिलाते हैं और फिर काट देते हैं, जैसे मत्स्यपालन और मुर्गीपालन करने वाले पहले पालन के नामपर पोषण करते और फिर मारते हैं, वैसे ही शास्त्रों का पोषण करने के बाद आपने प्रक्षिप्तवाद के माध्यम से उनका विहिंसन ही किया है।

आपने शास्त्र के विरुद्ध कभी कुछ कहा ही नहीं, यह कथन वन्ध्यापुत्र एवं आकाशपुष्प के ही समान विश्वसनीय है। आपके वक्तव्यों में शास्त्रसम्मत बात का उतना ही अस्तित्व है जितना पुंश्चली में कौमार्य का। नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत् कहने वाले गोस्वामीजी को अपने प्राणों से भी प्रिय बताने वाले व्यक्ति को पुराणों को अप्रमाण कहने पर तिलभर भी लज्जा नहीं आती ? आप कहते हैं कि आप एक घण्टे में सौ श्लोक बना सकते हैं। मैं उतना प्रतिभाशाली नहीं हूँ, मैं बस बीस पच्चीस श्लोक ही बना पाऊंगा। किन्तु क्या केवल इस आधार पर कि कौन कितनी देर संस्कृत में बोल सकता है, उसकी कही कोई भी शास्त्रविरुद्ध बात मान्य हो जायेगी ? ऐसे तो फिर रावण और कंस आदि सब संस्कृत में ही बोलते थे एवं रावण की तो कवित्वशक्ति भी अतुल्या थी। अखाड़े और महामंडलेश्वर का क्या है ? ये लोग तो गद्दी के लोभ से अपने गुरुओं को मारने लगे हैं। किन्नरों और महिला शंकराचार्यों को भी किसी न किसी अखाड़े का समर्थन है ही। शास्त्रनिष्ठ की बात कीजिये न। धर्मनिष्ठ की बात कीजिये न। ऐसे तो कल मेरे पास आपके जितना धन और राजनैतिक प्रश्रय हो जाए तो कल को ये मुझे भी जगद्गुरु बना देंगे, उसमें क्या है ? देखिए न, आपको ही अयोग्य होने पर भी पहले जगद्गुरु और बाद में सार्वभौम वैष्णव जगद्गुरु की उपाधि मिल ही गयी। भगवान् वेदान्तदेशिक जी पाञ्चरात्ररक्षा में लिखते हैं -

तदेवं व्यवस्थितेषु सिद्धान्तेषु सङ्करपरिहार पाद्मे स्पष्टः। तस्मिन्नेव चाध्याये क्वचित् सिद्धान्ते तदवान्तरतन्त्रभेदे वा दीक्षितस्य सिद्धान्तान्तरोक्तासु तन्त्रान्तरोक्तासु च क्रियासु अनधिकार उक्तः।

एकत्र दीक्षितस्तन्त्रे सिद्धान्ते वा द्विजोत्तमः। क्रिया न कुर्यादन्यत्र कर्षणादि चतुर्मुख॥
आचार्यकमथार्त्विज्यं पूजाद्य मधुविद्विष। तन्त्रभेदे च सिद्धान्तभेदेऽपि च न युज्यते॥

किन्तु आपने क्या किया ? सुनने में आया है कि आपने पहले पाञ्चरात्रविधि से रामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्रीरंग मन्दिर, वृन्दावन के महाराजजी से शङ्खचक्राङ्कित दीक्षा ली और फिर उसका परित्याग करके वैखानसविधि से रामानन्द सम्प्रदाय के अन्तर्गत धनुषबाणाङ्कित दीक्षा लेकर सिद्धान्तसाङ्कर्य दोष से ग्रस्त हो गये, जबकि पाञ्चरात्र से दीक्षित होकर वैखानस में जाने का निषेध है। वेद आपको मानना है नहीं, संन्यासोपनिषत् के विरुद्ध जाकर त्रिदण्ड ले लिया। तन्त्र आपको मानना है नहीं, पाञ्चरात्र के विरुद्ध जाकर वैखानस बन गये। पुराणों और संहिताओं को आप प्रमाणकोटि में गिनते नहीं, लेकिन बनना आपको जगद्गुरु है। अजी, बाकी छोड़िए, आपको तो ढंग से अपने सम्प्रदाय के आदिगुरु की बात भी नहीं माननी है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य जी आनन्दभाष्य में लिखते हैं -

तथा वाल्मीकीये श्रीरामं प्रति ब्रह्मणो वचनादपि ज्ञायते -
संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि।
महार्णवे शयानो ऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः॥ वा० रा० उ० १०४ स.४॥
पद्मे दिव्यार्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम्॥ वा० रा० उ० १०४ स.७॥
सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम् (जगत्पतिम्)।
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान्॥ वा० रा० उ० १०४ स.८॥
ततस्त्वमपि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात्।
रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्॥ वा० रा० उ० १०४ स.९॥

फिर आगे ब्रह्मसूत्र १/३/३० के भाष्य में देवताधिकरण के अन्तर्गत ही पुनः लिखते हैं -

संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि।

महार्णवे शयानो ऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥ वा० रा० उ० स. १०४|४ ॥
पद्मे दिव्यार्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् ॥ वा० रा० उ० स. १०४|७ ॥
सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपासे जगद्गुरुम् (जगत्पतिम्) ।
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥ वा० रा० उ० स. १०४|८ ॥
ततस्त्वमपि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात् ।
रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥ वा० रा० उ० स. १०४|९ ॥
अदित्यां वीर्यवान् गर्भः भ्रातॄणां हर्षवर्धनः ।
समुत्पन्नेषु कृत्येषु तेषां साह्याय कल्पसे ॥ वा० रा० उ० स. १०४|१० ॥
स त्वं वित्रास्यमानासु प्रजासु जगतां वर ।
रावणस्य वधाकांक्षी मानुषेषु मनो दधाः ॥वा० रा० उ० स० १०४|११ ॥

इतना ही नहीं, आपने कहा न कि पुराण आपकी प्रमाणकोटि में नहीं आते हैं, जबकि जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जी ने देवताधिकरण का भाष्य पूर्ण करने से पूर्व विष्णुपुराण से ही प्रमाण दिया है -

ऋषीणां नामधेयानि यथा वेदश्रुतानि वै ।
तथा नियोगयोग्यानि ह्यन्येषामपि सोऽकरोत् ॥ वि० पु० १|५|६४ ॥
यथर्तुष्वृतुलिंगानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ वि० पु० १|५|६५ ॥
करोत्येवं विधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनःपुनः ।
सिसृक्षाशक्तियुक्तोऽसौ सृज्यशक्तिप्रचोदितः ॥ वि० पु० १|५|६६ ॥

आनन्दभाष्य की यह प्रति १९२९ ई० में, जब मैं और आप दोनों ही इस भौतिक शरीर में नहीं आये थे, तब श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के मूर्धन्य विद्वान् श्रीरघुवरदास वेदान्ती जी के द्वारा श्रीरामानन्दीय वैष्णव महामण्डल के माध्यम से प्रकाशित करायी गयी थी। ये सब श्लोक उपलब्ध प्रतियों में समान काण्ड, सर्ग, श्लोक, सन्दर्भ आदि के साथ मुझे मिले हैं। थोड़ा

बहुत आंशिक पाठभेद मात्र है किन्तु श्रीरामानन्दाचार्य जी ने उत्तरकाण्ड के जिन श्लोकों को सन्दर्भित किया है, वे उस सर्ग के हैं, जहाँ ब्रह्मदेव ने श्रीरामजी के पास आकर उन्हें मानुषी लीला पूर्ण करके दिव्यधाम पधारने की बात कही है और इन्हीं प्रसंगों वाले उत्तरकाण्ड को श्रीरामभद्राचार्य प्रक्षिप्त मानते हैं। उत्तरकाण्ड को "पूर्णतया" प्रक्षिप्त मानने वाले श्रीरामभद्राचार्य को तो अपने ही सम्प्रदाय के मूल भाष्य और श्रीरामानन्दाचार्य जी द्वारा प्रमाणरूप में सन्दर्भित उत्तरकाण्ड एवं पुराणों की प्रामाणिकता का ज्ञान नहीं है, इन्हें जगद्गुरु घोषित किसने कर दिया ? निश्चित ही ऐसे अखाडों और महामण्डलेश्वरों ने किसी भय, लोभ या सहानुभूतिवश बिना शास्त्रीय समीक्षा के ही दुर्जनतोषण हेतु इन्हें जगद्गुरु बना दिया होगा।

संन्यासोपनिषत्, नारदपरिव्राजकोपनिषत् आदि की आज्ञा के विरुद्ध जाकर अनधिकृत रूप से दण्ड संन्यास लेने का वेदद्रोह, पहले पाञ्चरात्रविधि से दीक्षित होकर पुनः उसका परित्याग करके वैखानसविधि में दीक्षित होने का इष्टद्रोह, पुनः उस सम्प्रदाय में अपने आदिगुरु के द्वारा प्रमाणरूप में स्वीकृत उत्तरकाण्ड एवं पुराणों की निन्दा करते हुए उनको अप्रामाणिक बताने का गुरुद्रोह, उसके बाद भी समुद्रोल्लंघन, मञ्च से वर्णाश्रमविरोध, पूर्वाचार्यों की लिखित एवं मौखिक निन्दा आदि अनेकानेक गर्हित कृत्यों से युक्त इन तीन द्रोहरूपी शङ्कुओं से युक्त श्रीरामभद्राचार्य जी अभिनव-त्रिशङ्कु बनकर अपना और अपने शिष्यों के कल्याणोद्धार को ऐहिकामुष्मिकोभय दृष्टि से निराधार लटकाये हुए हैं।

जो व्यक्ति वेद और पुराणों को पढ़ता था, रावण उसे बहुत प्रकार से प्रताड़ित करता था - तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना। और रावण जब सीताहरण करने आया तो उसने छल से कैसा रूप बनाया ? महाभारत के वनपर्व में कहते हैं -

रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक्॥

वह्नि-उपपुराण, अध्याय ३२, श्लोक - ९१ में भी पाठभेद के साथ आया है -

रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डी तुण्डी त्रिदण्डधृक्॥

उसने माथा मूड लिया, कमण्डलु धारण कर लिया और त्रिदण्डी संन्यासी बन गया। किन्तु उसका कर्म क्या था ? वेद-पुराण का विरोध। ऐसे ही आप भी मुण्डी, कुण्डी, त्रिदण्डी होकर पुराणों का विरोध करते हैं तो हमें बताएं कि आप श्रीराम की परम्परा का अनुसरण कर रहे हैं या रावण की परम्परा का ? अन्त में मैं भी एक श्लोक के द्वारा ही अपनी बात पूर्ण करूँगा - जो प्रमाणित बात है, उसे भी 'यह प्रमाण नहीं है', ऐसा कहते हुए फिर उसे ही मानने के बाद पुनः जो उनका बखान करने लगते हैं और अपनी कुतर्कबुद्धि से स्वयं ही अपने तर्कों का खण्डन कर बैठते हैं, ऐसे श्रीरामभद्राचार्य बहुत बड़ी शङ्का का विस्तार कर रहे हैं।

प्रमाणितं नैव प्रमाणितं ब्रुवन् मत्वा तदेवञ्च पुनस्स झर्झति।
स्वतर्कभ्रष्टस्स्वकुतर्कचेतसा तनोति शङ्कां महतीं रामभद्रः॥

||इति शम्||

'सीता निर्वासिन और शम्बूकवध नहीं' पुस्तक के प्रथम निःश्वास अर्थात् प्रारम्भिक साठ पृष्ठों में श्रीरामभद्राचार्य ने मेरी प्रथम पुस्तक *'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श'* के खण्डन के प्रयास और अपने पूर्वपक्ष के रक्षण में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उनकी ही पुनरावृत्ति वे आगे पूरी पुस्तक में करते रहे हैं। इस पुस्तक के प्रथम भाग में उन सबका एकत्र शास्त्रोक्त निवारण किया गया है एवं पुनरावृत्ति दोष से बचने हेतु इस अंश से आगे यदि वे कोई नया तर्क प्रस्तुत करेंगे तो उसका प्रतिखण्डन मैं करूँगा, और यदि पूर्वोक्त तर्क ही वे करेंगे तो उन सबका उत्तर पाठक प्रथम निःश्वास के ही पूर्वप्रकरणों से प्राप्त कर लेंगे। हां, यदि कोई नवीन बात आगे जोड़ने की सम्भावना बनेगी तो आगे उसपर विमर्श अवश्य किया जायेगा।

--*

मूरख हृदय न चेत - भाग ०२

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का "नवीन" कुतर्क

कुछ लोग सीता-निर्वासन के औचित्य पर एक सारहीन पक्ष प्रस्तुत करते हैं, उनके अनुसार श्रीराम ने अपने पिता द्वारा दिये हुए एक सहस्र वर्ष के आयुष्य काल का अतिरिक्त उपभोग किया अर्थात् श्रीराम का आयुष्य काल मात्र दश सहस्र वर्ष का था। महाराज दशरथ ने अपने आयुष्य काल का एक हजार वर्ष श्रीराम को दे दिया था, इसलिये अपने आयुष्य काल तक श्रीराम ने सीता को साथ रखा और पिता के आयुष्य काल में उन्हें निर्वासित कर दिया क्योंकि दशरथ के आयुष्य से सीताजी का सम्पर्क श्रीराम के लिये उचित नहीं।

वस्तुतः यह पक्ष उतना ही निराधार है जितना आकाश का पुष्प क्योंकि चक्रवर्ती दशरथ जी अपनी एक सहस्रवर्षीय आयु रहने पर ही अकाल मृत्यु से मरे यह कहना अत्यन्त ही विगर्हित है। महाराज ने अपने स्वायंभुव मनु के जन्म में श्रीराम से यही वरदान माँगा था कि जैसे मणि के बिना सर्प नहीं रह सकता, जैसे जल के बिना मछली का जीना सम्भव नहीं उसी प्रकार मैं भी आपके बिना नहीं रहूँगा। अर्थात् जब आप वन यात्रा करेंगे तभी मैं सुरपतिभवन की यात्रा करूँगा। यथा -

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥
(मा० १/१५१/६)

कैकेयी से भी चक्रवर्ती जी यही बात कह रहे हैं -

कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥
(मा ०२/३३ /२)

श्रवण कुमार के पिताश्री का श्राप भी इसी सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है , अर्थात् मुनि के श्राप

के अनुसार श्रीराम के वियोग के समय में ही महाराज की मृत्यु निश्चित हो चुकी है, इसलिए अकाल मृत्यु का कोई प्रश्न ही नहीं। "महाराज ने श्रीराम को अपना आयुष्य दान किया" इस आशय का लेख भी आर्षग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता केवल तुलसीकृत गीतावली रामायण के उत्तरकाण्ड के पच्चीसवें पद में ऐसी बात लिखी गयी है कि "भगवान् श्रीराम धर्म संकट में पड़कर विचार करने लगे कि मेरे बारह हजार पाँच सौ वर्ष के आयुष्य काल में अब कुछ ही शेष रह गया है, अब मुझे पिता के आयुष्य काल का भोग करना पड़ेगा। उसमें सीताजी का रहना नहीं, क्योंकि पिता के आयुष्य से सीताजी में पत्नीबुद्धि करने का पाप लगेगा। अतः सीता का निर्वासन ही उचित है -

संकट सुकृत को साँचत जानि जिय रघुराउ।
सहस्त्र द्वादश पंचसत में कछुक है अब आउ॥
भोग पुनि पितु आयु को, सौउ किये बने बनाउ।
परिहरे बिनु जानकी नहिं, और अनघ उपाउ॥

इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम पक्ष यह है कि ये उद्धृत पंक्तियाँ तुलसीकृत गीतावली रामायण की नहीं है यह अंश प्रक्षिप्त है। द्वितीय पक्ष यह है कि उद्धृत पंक्तियों में वर्णित श्रीराम की आयुष्य वर्ष संख्या का वाल्मीकि एवं व्यास के आर्षवाक्यों से विरोध है। यहाँ भगवान् राम की निजी आयु बारह हजार पाँच सौ वर्ष कही गयी जबकि वाल्मीकि रामायण में सामान्यतः श्रीराम का आयुष्यकाल दशसहस्र वर्ष और दश सौ वर्ष अर्थात् ग्यारह हजार वर्ष कहा गया है -

दशवर्षसहस्त्राणि दशवर्षशतानि च। रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥
(वा ० रा ० १ / १ / ९७)

दशवर्षसहस्त्राणि दशवर्षशतानि च। भ्रातृभिर्सहितः श्रीमान् रामो राज्यमकारयत्॥
(वा ० रा ० ६/१२८/१०५)

यहाँ श्रीशब्द भगवती सीताजी का पर्यायवाची है और यहाँ मतुप् प्रत्यय नित्ययोग में हुआ है। श्रीः नित्यं अस्ति अस्य इति श्रीमान् जिनके साथ सीताजी निरन्तर विराजमान रहती हैं उन प्रभु श्रीराम को श्रीमान् कहते हैं। यदि सीताजी का द्वितीय वनवास हुआ होता तो महर्षि वाल्मीकि श्रीरामकथा के अन्तिम श्लोक में भगवान् राम को श्रीमान् क्यों कहते ? इस प्रकार व्याकरणसमास की दृष्टि से तैंतीस हजार वर्ष और सामान्य विचारणा में भी ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त श्रीराम ने शासन किया, इसी तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं वाल्मीकि एवं वेदव्यास। तो यह बारह हजार पाँच सौ वर्ष श्रीरामजी का आयुष्य काल है, यह बात कहाँ से टपक पड़ी ? और तुलसीदासजी ने इस प्रकार ऋषि वचन विरोध का साहस कैसे कर लिया ? जबकि वे कहते हैं -

मुनिन प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥
(मा ० १/१३/१०)

इस प्रकार ऋषि वचन से विरुद्ध होने के कारण गीतावली का यह वचन प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया गया।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

लो जी ! जब तुलसीदास जी ने गीतावली में सीतात्याग का उल्लेख किया तो अब ये तुलसीपीठाधीश्वर तुलसीदास जी की वाणी को ही प्रक्षिप्त घोषित कर बैठे। यहाँ भी आपने स्वयं ही अपने पूर्वपक्ष को खण्डित किया। पहले आपने कहा था कि रामजी ने तैंतीस हज़ार वर्ष राज्य किया। फिर आपने एक स्थान पर (पृष्ठ ८० में) स्वीकार किया कि वाल्मीकीय रामायण में सामान्यतः श्रीराम का आयुष्यकाल दशसहस्र वर्ष और दश सौ वर्ष अर्थात् ग्यारह हजार वर्ष कहा गया है। फिर अगले पृष्ठ में ही आपने 'अनिर्धारितबहुत्वं त्रित्वे परिसमाप्यति' कहकर भगवान् के आयुष्यकाल तैंतीस हज़ार वर्ष भी सिद्ध कर दिया जो आपके ज्ञान की अनिश्चितता, भ्रम और अपूर्णता का परिचायक है। जब दश की संख्या बता दी गयी तो अनिर्धारित कहाँ रहा तो त्रित्व में समापन कर रहे हैं ? आपको स्वयं बोध

नहीं रहता कि आप क्या कह रहे हैं। अस्तु, तैंतीस हज़ार वर्ष वाले कुतर्क एवं श्रीरामजी को श्रीमान् शब्द से बोधित करने का अर्थ उनका सीतायुक्त होना है, इसका प्रतिखण्डन मैं पूर्व में कर चुका हूँ, अतः यहाँ आपके समान उसकी पुनरावृत्ति नहीं करूंगा क्योंकि पाठक पूर्वप्रकरण से ही समाधान कर लेंगे।

मेरा मूल बिन्दु यहाँ पूज्य गोस्वामीजी की लेखनी की रक्षा आपके प्रक्षिप्तवादी प्रहार से करना है। आपने कहा कि गोस्वामीजी की उक्त गीतावली का अंश का आशय आर्षग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता अतः ऋषिवचन से विरुद्ध होने के कारण यह प्रक्षिप्त है। महोदय ! आपकी शैली से मुझे प्रेम हो गया है। कैसे, बताऊं ? आपका ये तरीका तो शकुनि की धूर्तता को भी लज्जित कर दे।

१) यदि आर्षग्रन्थों में प्रमाण न मिले तो कह दो कि आर्षग्रन्थों में इस आशय का लेख नहीं है, अतः यह अंश प्रक्षिप्त है।
२) यदि आर्षग्रन्थों में प्रमाण मिल जाए तो कह दो कि यह आर्षग्रन्थ ही प्रक्षिप्त है, इसमें अंग्रेजों ने मिलावट कर दी है।
३) यदि आर्षग्रन्थ में मिलावट सिद्ध न हो और प्रमाण भी मिल जाए तो कह दो कि ये ग्रन्थ तो मेरी प्रमाणकोटि में आता ही नहीं है, चाहे जितने श्लोक ले आओ, मैं प्रमाण मानता ही नहीं।

आपको पता है, इसको ग्राम्यगिरा में क्या कहते हैं ? बुरा लगेगा किन्तु सुन लीजिए, आपकी इस शैली को 'थेथरई' कहते हैं क्योंकि आपने जिन तुलसीदास के नाम पर धन-यश कमाया, उनकी ही लेखनी को प्रक्षिप्त बोल रहे हैं और यह तो मैं सहन नहीं कर सकता। अब मैं आपको बताता हूँ कि किस आर्षग्रन्थ में गीतावली के इस अंश का प्रमाण मिलता है और क्यों यह कथा सर्वथा सत्य है। मैं ऋषि विश्वामित्र-देवरात संवाद वाले कौशिक रामायण के उस पूरे अंश को मूल संस्कृत पाठ और हिन्दी अनुवादों के साथ प्रस्तुत कर रहा हूँ ताकि पाठक भी जान जाएं कि स्वयं को 'सर्वशास्त्रवेत्ता' समझने वाले कथित जगद्गुरु और धर्मचक्रवर्ती वास्तव में कितने पानी में हैं।

देवरात उवाच

सीता सर्वगुणोपेता सुविख्याता महासती।
अग्निसाक्ष्येण सम्पूता सर्वैर्देवैः समर्थिता॥०१॥
अनुभूता स्वयमपि रामेण स्वान्तवेदिना।
तथापि ह्यतितुच्छस्य रजकस्य प्रवादतः॥०२॥
गर्भालसाङ्गी साम्राज्ञी त्यक्ता निष्ठुरचेतसा।
कृत्यमेतद्धि रामस्य दुनोति मम मानसम्॥०३॥
अत्रापि कारणं किञ्चिन्मन्येऽस्त्येव सुनिश्चितम्।
तद्ब्रूहि कृपया देव सर्वज्ञस्त्वं मतो मम॥०४॥

देवरात बोले - हे भगवन् ! सीता सर्वगुण सम्पन्न और महासती रूप से विख्यात थीं, फिर अग्नि परीक्षा द्वारा भी संशुद्ध और समस्त देवगण द्वारा भी वह प्रशंसित थी। अन्तर्यामी राम भगवान् स्वयमपि सीता की पवित्रता से सुपरिचित थे, तथापि एक अतितुच्छ रजक के कहने के कारण सात मास के गर्भ से परिक्रान्त पटरानी को राम ने बड़े कठोर चित्त बनकर त्याग दिया। भगवान् का यह कृत्य मेरे हृदय को बहुत पीड़ित करता है। इस लीला में अवश्य ही कोई सुनिश्चित हेतु होगा, ऐसा मैं मानता हूँ। हे देव ! आप कृपापूर्वक बताएं, मेरे विचार में आप सब कुछ जानते हैं।

कौशिक उवाच

श्रृणु पुत्र प्रवक्ष्यामि कारणं परमाद्भुतम्।
यद्ज्ञात्वाज्ञानसम्भूताश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः॥०५॥
राज्याभिषेके रामस्य सर्वे देवाः समागताः।
ब्रह्मेशानेन्द्रप्रमुखा नारदाद्याः सुरर्षयः॥०६॥
राजा दशरथः श्रीमान् दिव्यदेहधरः स्वयम्।
राज्याभिषेकं सन्द्रष्टुं समायातो मुदान्वितः॥ ०७॥
अभिषिक्ते तदा रामेऽतिथयो ये निमन्त्रिताः।

जग्मुर्यथागतं सर्वे राघवेण समादृताः ॥०८ ॥

श्रीकौशिक जी (मुनि विश्वामित्र) बोले - हे पुत्र ! सुनो। मैं इसका एक अद्भुत कारण बताता हूँ जिसे जान लेने पर तुम्हारे अज्ञानजन्य सन्देहों की निवृत्ति हो जायेगी। श्रीराम के राज्याभिषेक महोत्सव में सभी देवता आये थे। ब्रह्माजी, भगवान् शिव, देवराज इन्द्र, अन्य देवगण और नारद आदि देवर्षि पधारे थे। दिव्य देहधारी श्रीमान् राजा दशरथ भी बड़े प्रसन्न होकर श्रीराम का राज्याभिषेक देखने के निमित्त देवलोक से आए थे। राज्याभिषेक हो जाने पर जो भी अतिथि पधारे थे, वे सब रामजी से आदर सम्मान पाकर अपने अपने स्थानों को चले गये। (ध्यान देंगे, यहाँ राजा दशरथ के निमित्त भी श्रीमान् शब्द आया है। मात्र श्रीमान् शब्द के कारण सीतासाहचर्य का अर्थ लगाना गर्हित है।)

तदा ब्रह्मा समुत्थाय रामकर्णे सकौतुकम्।
मुखं संयुज्य निभृतं रहस्यं किञ्चिदुक्तवान्॥०९॥
रामोऽपि शिर आनम्य स्वीकृतिमिव दत्तवान्
राजा दशरथश्चैतद्दृष्ट्वा कुतूहलान्वितः ॥१०॥
ब्रह्माणं परिपप्रच्छ रहस्यमिदमद्भुतम्। ब्रह्मा प्राह दशरथं रहस्यं शृणु भूमिप॥११॥

तब ब्रह्मदेव ने अपने आसन से उठकर भगवान् के कान में अपना मुख लगाकर चुपके से कुछ रहस्यमय कौतुकपूर्ण बात कही। भगवान् राम ने भी श्रीब्रह्माजी की बात को शिर नीचे की ओर हिलाते हुए मानो स्वीकृति दी। राजा दशरथ ने यह सब देखा तो उन्होंने बड़े कुतूहल से ब्रह्माजी से इस अद्भुत रहस्य के सम्बन्ध में पूछा। ब्रह्माजी राजा दशरथ को बोले कि सुनो, मैं तुम्हें रहस्य बताता हूँ।

रामो विष्णुर्महातेजा अस्माभिः प्रार्थितः पुरा।
राक्षसानां वधार्थाय भक्तानां रक्षणाय च॥१२॥
सोऽवतीर्य्यावधीच्छत्रून् रावणप्रमुखासुरान्।
जगन्निष्कण्टकं जातं न कार्यमवशिष्यते॥१३॥

अतः स्वधाम गन्तव्यं भवते यदि रोचते।
इति मया रामकर्णे निभृतं प्रार्थितं नृप ॥१४॥
स्वीकृतं रामचन्द्रेण सद्यो यास्यामि विष्टपम्।
श्रुत्वा रहस्यं नृपतिरतिदुःखेन कातरः ॥१५॥
अहो मे दुष्कृतं ब्रह्मन् ! मन्दभाग्योऽस्मि सर्वथा।
बालवद्विलपन् प्राह ब्रह्माणं विनयान्वितः ॥१६॥

ये जो राम हैं ये महातेजस्वी विष्णु भगवान् हैं। हमने राक्षसों के वध के लिए और भक्तों की रक्षा के लिए इनसे प्रार्थना की थी, सो इन्होंने अवतरित होकर रावण आदि प्रमुख असुरों का संहार कर दिया। जगत् निष्कण्टक हो गया, अब कुछ कार्य अवशिष्ट नहीं रहा, अतः यदि आप को रुचिकर हो तो अब अपने धाम को पधारिए। हे राजन् ! भगवान् राम के कान में चुपके से मैंने प्रार्थना की थी, सो उन्होंने स्वीकार कर ली कि वे शीघ्र ही साकेत धाम को पधारेंगे। राजा दशरथ यह रहस्यमय बात सुनकर बहुत दुःखित हुए और बालकों की भान्ति रोकर वे विनयपूर्वक श्री ब्रह्मा जी से कहने लगे।

पुरा राज्याभिषेके तु कैकेय्या दुष्कृतं कृतम्।
वनं प्रव्राजितो रामो वर्षाणि नव पञ्च च ॥१७॥
दृष्ट्वाऽभिषेकं रामस्य साम्प्रतं चिरकाङ्क्षितम्।
मोमुद्यमानहृदयः क्षणमात्मनि संस्थितः ॥१८॥
निशम्य भवतो वार्तां पुनर्दुःखार्णवेऽपतम्।
कृपां कुरु मयि ब्रह्मन् मा कुरु गमने त्वराम् ॥१९॥
चिरं तिष्ठतु रामोऽत्र दृष्ट्वाहं सुखमाप्नुयाम्।

हे ब्रह्माजी ! न जाने मेरे कौन पाप हैं, मैं बहुत ही मन्दभागी हूँ। पहले जब राज्याभिषेक करना चाहा था, उस समय कैकेयी ने वन भेजने का दुष्कर्म किया, तब चौदह वर्ष के लिए राम वन में रहे। अब मेरा चिर अभिलषित राम राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ तो मैं थोड़े से

काल तक ही अपने हृदय को संतुष्ट कर सका फिर आपकी बात सुनकर मैं पुनः दुःखसागर में निमग्न हो गया हूँ। हे ब्रह्मदेव ! आप मुझ पर कृपा करें, राम को स्वधाम ले जाने में हड़बड़ी न करें। राम बहुत समय तक अयोध्या के सिंहासन पर आसीन रहें जिससे उन्हें देखकर मैं सुखी रहूँ।

ब्रह्मोवाच

प्रयोजनं बिना राजन् वैकुण्ठनिलयः प्रभुः ॥२० ॥
कथं स्थातुं समर्थः स्यान्मर्त्यलोकेऽधुनाच्युतः ।
यावद्राक्षसनाशः स्यात्तावत्कालो हि निश्चितः ॥२१ ॥
निवृत्तकार्या स्वपदमवतारा व्रजन्ति हि ।
सति मूले तद्विपाको यथा नृणां भुवस्तले ॥२२ ॥
कर्मानुसारं सर्वेषां जात्यायुर्भोगनिश्चितिः ।
तथैव ह्यवताराणां लीलाकालोऽपि निश्चितः ॥२३ ॥
स समाप्तिं गतो राजन् रामस्यामिततेजसः ।

ब्रह्माजी बोले- हे राजन् ! प्रयोजन के बिना वैकुण्ठ (साकेत) धाम के अच्युत भगवान् अब मर्त्यलोक में कैसे ठहर सकते हैं ? जब तक राक्षसों का संहार नहीं होता तब तक के लिए ही अवतार काल निश्चित था। कार्य पूर्ण हो जाने पर सभी अवतार स्वधाम को जाते ही हैं। जैसे पूर्व जन्मार्जित प्रारब्धकर्मानुसार सब मनुष्यों को इस मर्त्यलोक में जाति, आयु और निश्चित काल तक भोग प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार अवतारों का भी लीलाकाल निश्चित रहता है, सो अमिततेजस्वी भगवान् राम का वह समय बीत चुका है।

दशरथ उवाच

भगवन् देवदेवेश श्रोतव्या प्रार्थना मम ॥२४ ॥
अहं स्वजीवनस्यान्ते स्वस्थ आसं निरामयः ।
त्रिदोषकोपरहितः सर्वव्याधिविवर्जितः ॥२५ ॥
रामं दृष्ट्वा वनं यातं तद्वियोगेन दुःखितः ।

अन्धतापसशापेन ह्यकाले निधनं गतः ॥२६ ॥
अवशिष्टं ममायुष्यं यावद्वर्षं पितामह ।
तावद्वर्षं ममायुष्यं रामः प्राप्नोतु निश्चितम् ॥२७ ॥
ममायुष्योपभोगेन गृहे वसतु राघवः ।

दशरथ बोले - हे भगवन् ! देवताओं के स्वामिन् ! मेरी प्रार्थना को सुनें। मैं अपनी मृत्यु के समय निरोग और स्वस्थ था, वात-पित्त और कफजन्य कोई कोप नहीं था, सब रोगों से मुक्त था, परन्तु राम को वन जाते देखकर उनके वियोग में दुःखी था। अन्धे तपस्वी के शाप से अकाल में ही मेरी मृत्यु हुई थी। अतः हे पितामह ! जितने वर्ष की मेरी आयु उस समय अवशिष्ट थी उतने वर्ष की मेरी आयु अब निश्चित रूप से राम को प्राप्त हो जाए, मेरी आयु का उपयोग करते हुए राम अयोध्या में निवास करें।

राज्ञो वचनमाकर्ण्य स्वयम्भूश्चकितो हृदि ॥२८ ॥
चिन्तयामास भूपस्य जन्मकर्माण्यनेकशः ।
अयं हि पूर्वकल्पेऽभून्मनुः सम्राड्भुवस्तले ॥२९ ॥
राज्यं त्यक्त्वा तपश्चक्रे सभार्यो नैमिषे महत् ।
अनेन तोषिता देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥३० ॥
तेभ्यो लब्धो वरो भूपः कृतकृत्योऽभवत्पुरा ।
विष्णुर्हि याचितोऽनेन पुत्रत्वेन स्वयोषिति ॥३१ ॥
सोऽयं दशरथो राजा रामो विष्णुर्महायशाः ।
किमहं प्रतिबन्धः स्यामिच्छायामेतयोर्द्वयोः ॥३२ ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसि रामकर्णेऽवदत् पुनः ।
भगवन् त्वं त्वजन्मासि लौकिकोऽयं पिता तव ॥३३ ॥
स्वधामगमनं श्रुत्वा शोकसंविग्नमानसः ।
अवशिष्टनिजायुष्यं भवते दातुमिच्छति ॥३४ ॥
यद्येतद्रोचते तुभ्यमयोध्यायां चिरं वस ।

अयं मनुर्भवान् विष्णर्भूयो दत्तवरोऽप्ययम् ॥३५॥
त्वद्वियोगमृतः स्नेहाच्चिरं त्वां द्रष्टुमिच्छति।

राजा दशरथ के वचन को सुनकर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा हृदय में बड़े चकित हुए और राजा दशरथ के अनेक पूर्वजन्मों के कर्मों का चिंतन करने लगे। उन्होंने सोचा, यह दशरथ पूर्वकल्प में भूमण्डल में मनु नामक सम्राट् बने थे। इन्होंने अपने राज्य का परित्याग करके अपनी रानी सहित नैमिषारण्य में बड़ा भारी तप किया था। इन्होंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीनों देवों को अपने तप से सन्तुष्ट किया था, उनसे वर लेकर यह राजा उस समय कृतकृत्य हुआ था। इसने विष्णु भगवान् से अपनी रानी में पुत्र रूप में अवतरित होने याचना की थी। वही मनु यह राजा दशरथ है और महायशस्वी भगवान् राम विष्णु हैं। इन दोनों की इच्छा में मैं बाधक क्यों बनूँ, ऐसा अपने मन में सोचकर ब्रह्मदेव ने श्रीरामजी के कानों में फिर से कहा - "हे भगवन् ! आप तो अजन्मा हैं परन्तु महाराज दशरथ आपके लौकिक पिता हैं। ये आपका स्वधामगमन सुनकर बड़े ही शोकाक्रान्त हो गए, अब वे अपनी बची हुई आयु आपको प्रदान करना चाहते हैं। यदि आपको यह अनुकूल लगता हो तो आप यथेच्छ समय तक अयोध्या में निवास करें। राजा दशरथ मनु हैं, आप विष्णु हैं, आपने इनको पहले वर भी दिया है। यह आपके वियोग में स्नेहातिरेक के कारण बिना समय के ही मर गये थे।"

श्रीभगवानुवाच
अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इवाब्जज ॥३६॥
यस्याज्ञया वनं यातस्त्यक्त्वा राज्यं गृहं सुखम्।
तस्येयं लालसा ब्रह्मन् पूरणीयैव सर्वथा ॥३७॥
गच्छन्तु सर्वे त्रिदशाः स्वं स्वं धाम मुदान्विताः।
अहमध्यागते काले समायास्यामि सप्रजः ॥३८॥
गतेषु तेषु देवेषु विदेहतनया सती।
रामं पप्रच्छ रहसि ब्रह्मणा यन्निवेदितम् ॥३९॥
सर्वं तच्छ्रावयामास यथावद्रघुनन्दनः।

तच्छ्रुत्वा जानकी देवी सुविचिन्त्य मुहुर्मुहुः ॥४० ॥
उवाच निजभर्तारं रामं धर्मविदां वरम्।
कियान् कालोऽवतारस्य ह्यवशिष्टो रघूत्तम ॥४१ ॥
कियान् वा पितुरायुष्यमासाद्येह स्थितिर्भवेत्।
श्रीराम उवाच
एकाब्दमात्रकालोऽत्रावतारस्यावशिष्यते ॥४२ ॥
पितुस्तु ब्रह्मणा प्रोक्तं बह्वायुरवशिष्यते।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥४३ ॥

भगवान् राम बोले - हे कमलोत्पन्न ब्रह्मा ! मैं तो सर्वथा भक्तों के वश में होकर परतन्त्र सा हूँ। जिन पिता की आज्ञा मानकर राज्य और राजप्रासादों के सुख का परित्याग करके में वन में गया था, यदि उन पिताजी की यह लालसा है तो मुझे पूर्ण ही करनी चाहिए। सब देवगण प्रसन्नता पूर्वक अपने स्थानों को जाएं। मैं भी समय आने पर अपनी समस्त प्रजासहित स्वधाम में आऊंगा। जब समस्त देवता चले गये, तब साध्वी विदेहतनया सीता ने भगवान् राम से पूछा कि ब्रह्माजी ने आपसे क्या रहस्य की बात की थी ? रामजी ने वह सब बात यथावत् बता दी तो जनकपुत्री सीता ने यह सब कुछ सुनकर बारम्बार विचार किया और धर्मज्ञों में श्रेष्ठ अपने पति भगवान् राम को कहा - हे रघूत्तम ! आपका अवतारकालीन अब कितना समय अवशिष्ट है तथा पिताजी की आयु का उपभोग करते हुए इस लोक में और कितने समय तक रहना होगा ? भगवान् राम बोले - प्रिये ! ग्यारह हजार वर्षों में एक वर्ष मात्र अवशिष्ट है। श्रीब्रह्मा जी ने कहा कि पिता जी की आयु तो बहुत शेष है।

सीतोवाच
त्वं मे प्राणप्रियो भर्ता मर्यादापुरुषोत्तमः।
वेदोक्तनरकर्तव्यं सर्वमाचरितं त्वया ॥४४ ॥
पितुरायुष्यमास्थाय जानन्नपि महाव्रत।
मया सह कथं देव पतिधर्मरतो भवेत् ॥४५ ॥

तवात्मभूत ईशानो मम वेषधरां सतीम्।
तत्याज दक्षतनयां मातृभावं विचिन्तयन् ॥४६ ॥
त्वं कथं धर्मसेतूनां कर्ता भर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरेर्देव इति सञ्चिन्तयाम्यहम् ॥४७ ॥
श्रीराम उवाच
अयोनिजासि कल्याणि दिव्यरक्तसमुद्भवा।
पिता ते जनकः श्रीमान् लोके ह्यात्मविदां वरः ॥४८ ॥
यद्यदुक्तं त्वया देवि ! सर्वं त्वत्सदृशं वचः।
धर्मस्य सूक्ष्मं यद्रूपं तत्त्वं वेत्सि वरानने ॥४९ ॥
मम हार्दं हि सुभगे सर्वं व्यक्तीकृतं त्वया।

श्रीसीता जी बोलीं - आप मेरे प्राणप्यारे भर्ता और मर्यादापुरुषोत्तम हैं। अभी तक आपने वेद में मनुष्य के लिए जो कर्त्तव्य लिखा है उन सबका ही आचरण किया है। अतः हे महाव्रत ! पिता की आयु का उपभोग करते हुए आप सब कुछ जानते हुए भी मेरे साथ पतिधर्म का निर्वाह कैसे करेंगे ? आपके आत्मरूप श्रीशङ्करजी ने मेरा (सीता का) नकली रूप बनाने वाली अपनी अर्धाङ्गिनी दक्षकन्या सती का मातृभाव के कारण त्याग कर दिया था। हे देव ! आप धर्मसेतु के कर्ता-भर्त्ता और रक्षक होकर भी धर्मविरुद्ध कृत्य कैसे करेंगे, मैं यह सोच रही हूँ। श्रीराम बोले - हे कल्याणि ! तुम दिव्यरक्तसमद्भूत अयोनिजा हो, समस्त लोक में आत्मवेत्ताओं में अग्रगण्य श्रीमान् जनक तुम्हारे पिता हैं, अतः तुमने जो कहा है वह सब तुम्हारे अनुरूप ही है। हे सुन्दरि ! धर्म का जो सूक्ष्म तत्त्व है तुम उसे भली प्रकार जानती हो और वास्तव में मेरे हृदय की बात ही तुमने प्रकट की है।

(यहाँ भी जनक जी के लिए श्रीमान् शब्द आया है। मैं पूर्व में सिद्ध कर चुका हूँ कि राजा दशरथ और जनकजी के लिए श्रीमान् शब्द का आना, सीताहरण के बाद श्रीरामजी और रावण दोनों के लिए ही श्रीमान् शब्द का आना मात्र उनके ऐश्वर्यशाली होने का परिचायक है, न कि श्री का अर्थ सीता लगाकर उन्हें सीता से युक्त बता दिया जाये।)

अहं सङ्कोचवशग आसं चिन्तातुरो भृशम् ॥५० ॥
या मया सह सुश्रोणि दुर्गमेषु वनेषु च।
नव पञ्च च वर्षाणि सेहे कष्टान्यनेकशः ॥५१ ॥
रावणेन हृता दीना राक्षसीवृन्दपीडिता।
क्षुत्क्षामा शीर्णसर्वाङ्गी ह्यस्थिमात्रावशेषिता ॥५२ ॥
सेहे दुःखान्यनेकानि मयापि बहुभर्त्सिता।
सर्वेषां पश्यतां या हि प्रविवेश हुताशनम् ॥५३ ॥
तां त्वां सम्प्रति किं वक्ष्ये भूत्वा पाषाणमानसः।

मैं संकोचवश बड़ा ही चिन्तातुर था। सोचता था, जो देवी मेरे साथ दुर्गम वनों में चौदह वर्ष तक अनेक कष्ट भोगती रही, रावण द्वारा हरण किए जाने पर जो राक्षसियों से पीड़ित रही हो, भूख से पीड़ित होकर जिसका सब शरीर सूख कर अस्थिमात्र रह गया हो, ऐसे अनेक दुःख सहने के बाद मैंने भी जिसको अनेक कुवाक्य कहे हों, जो सबके देखते हुए ही अग्नि में प्रविष्ट हो गई हो, तो सम्प्रति इस धर्मसंकट में पाषाणहृदय होकर उसे मैं अब क्या कहूँ ?

इति चिन्तापरिक्लान्तोऽन्वशोचमनघे हृदि ॥५४ ॥
इतः स्नेहस्ततो धर्मः प्राप्तोऽहं धर्मसङ्कटम्।
हृदयज्ञे त्वया सर्वं तन्मे दुःखं निराकृतम् ॥५५ ॥
एकवर्षं तु दाम्पत्यमक्षुण्णं नौ भवेदिह।
पश्चाच्च मानुषीं लीलां करिष्यावः शुभेक्षणे ॥५६ ॥
योऽहं सात्वं तथा या त्वं सोऽहमस्मीति निश्चितम्।
मयि त्वयि न भेदोऽस्ति शुभे जलतरङ्गवत् ॥५७ ॥
इत्थं सीता च रामश्च चक्राते निश्चयं रहः।

इस चिन्ता से बड़ा ही विकल हुआ मैं हृदय में सोचता था, इस ओर स्नेह और उधर धर्म

है, क्या करूँ ? इस प्रकार मैं धर्मसंकट में पड़ा था। हे हृदय की बात को जानने वाली प्रिये ! तुमने मेरा सब दुःख दूर कर दिया। एक वर्ष पर्यन्त तो मेरा और तुम्हारा अक्षुण्ण दाम्पत्य यहां रहे, पश्चात् हे शुभेक्षणे ! मैं और तुम नरलीला करेंगे। जो मैं हूँ, सो तुम हो और जो तुम हो सो मैं हूँ, यह निश्चित है। मुझ में और तुझ में जल और तरंग की भांति कुछ भी भेद नहीं है।

व्यतीतेऽब्दे यदा सीता गुर्विणी प्रसवोन्मुखी ॥५८ ॥
प्रोवाच रामः सुभगे दोहदं किञ्चिदिष्यते।
सा चैच्छन्मुनिपत्नीनां दर्शनं पूजनं तथा ॥५९ ॥
श्वः सुप्रबन्धो भविता जगाद रघुनन्दनः।
तद्दिने दुर्मुखो दूतः श्रुत्वा रजकभाषितम् ॥६० ॥
श्रीरामं श्रावयामास तत्सर्वं यच्छ्रुतं निशि।
रामो लक्ष्मणमाहूय सन्दिदेश स्वनिश्चितम् ॥६१ ॥
रथमारोप्य वैदेहीं प्रभाते विपिने त्यज।
अज्ञाततत्त्वः सौमित्रिर्दुःखसंविग्नमानसः ॥६२ ॥
विससर्ज वने सीतां गुर्विणीं प्रसवोन्मुखीम्।
जानकी त्यागतत्त्वज्ञा नारीलीलां प्रकुर्वती ॥६३ ॥
रुरोदाश्रुमुखी दीना ह्यनाथा विवशा यथा।

इस प्रकार भगवान् राम और भगवती सीता ने एकान्त में मिलकर निश्चय कर लिया। एक वर्ष बीतने पर जब सीताजी सगर्भा और प्रसवोन्मुखी थीं, राम भगवान् ने उनसे पूछा तुम्हारी कुछ इच्छा हो तो बताओ ? सीता ने मुनिपत्नियों का दर्शन और पूजन करने की अपनी इच्छा प्रकट की। भगवान् राम ने कहा - कल यह सब प्रबन्ध हो जाएगा। उस दिन दुर्मुख नायक गुप्तचर ने रजक के मुख से सीता का अपवाद सुना और उसने रात्रि में जो सुना था सो सब भगवान् राम को सुना दिया। श्रीरामजी ने लक्ष्मण को बुलाकर अपना निश्चय सुनाया और कहा कि प्रातः रथ में बैठा कर सीता को वन में छोड़ आओ। लक्ष्मण जी को रहस्य विदित नहीं था, अतः वे अतीव दुःखी मन से उस प्रसवोन्मुखी सगर्भा सीता

को वन में छोड़ आए। सीताजी त्याग का कारण जानती हुई भी, जैसे मानो वह अनाथ और विवश हों, दीनतापूर्वक आंसू बहाती हुई रोने लगीं।

प्रोवाच लक्ष्मणं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ॥६४॥
वाच्यो मद्वचनाद्राजा प्रणम्य शिरसा त्वया।
सुदुःखिताप्यहं नाथ न त्यजामि स्वजीवितम् ॥६५॥
मम कुक्षौ यतस्तावदास्ते वंशाङ्कुरस्तव।
प्रसवानन्तरं साहं सूर्ये संयोज्य चक्षुषी ॥६६॥
स्थिता पदेन चैकेन यतिष्ये चरितुं तपः।
कुलदेवो यथा सूर्यः सन्तुष्य वरदो भवेत् ॥६७॥
भवे भवे भवेद्भर्ता रामो मे धर्मवित्तमः।
इत्यहं प्रार्थयिष्यामि सुखी भव सबान्धवः ॥६८॥
इत्थं रामस्तथा सीता धर्मपाशनियन्त्रितौ।
उभौ परस्परात्मानौ जीवनं निन्यतुर्मुदा ॥६९॥
इति गुह्यतमं सौम्य सीतात्यागस्य कारणम्।
परम्पराविधानेन श्रीलोमशमुखाच्छ्रुतम् ॥७०॥
(कौशिकरामायण)

सीताजी लक्ष्मण से बोलीं - मेरे उत्तम वचन को सुनो। भगवान् राजा राम के चरणों में मेरी ओर से प्रणाम करके मेरा सन्देश कहना - हे नाथ ! दुःखी होती हुई भी मैं मृत्यु का वरण नहीं करूंगी क्योंकि मेरे गर्भ में आपके वंश का अंकुर है। प्रसव के अनन्तर सूर्य में अपने नेत्र संयुक्त करके मैं एक पांव के सहारे खड़ी होकर तप करने का प्रयत्न करूंगी जिससे मेरे तप द्वारा सन्तुष्ट होकर हमारे कुलदेवता सूर्य भगवान् मुझे वर प्रदान करें कि धर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ भगवान् राम ही जन्म जन्मान्तरों में मेरे भर्त्ता हों। सूर्य भगवान् से मैं यही वर मांगूगी कि मेरे प्राणनाथ अपने बान्धवों सहित सुखी रहें। इस प्रकार परस्पर एकात्मा राम और सीता दोनों ही धर्म के पाश में नियन्त्रित होकर अपना जीवन बिताने लगे। हे सौम्य देवरात

! सीता के परित्याग का यह अत्यन्त गुप्त कारण गुरुपरम्परा द्वारा श्रीलोमशजी के मुख से मैंने सुना था।

इस प्रकार मैंने सीताजी के परित्याग और राजा दशरथ की आयु का जो प्रसङ्ग तुलसीदास जी ने गीतावली में वर्णित किया है, जिसे श्रीरामभद्राचार्य ऋषि विरुद्ध बताकर प्रक्षिप्त घोषित कर रहे थे, उसे प्रमाणित सिद्ध किया है। ऋषि लोमश ने यह रहस्य विश्वामित्र जी को बताया जिनसे देवरात ने पाया। इसी रहस्य को गोस्वामीजी ने लिखा है। श्रीराम और दशरथ की आयु मिलाकर सङ्केतपूर्वक त्रयोदशाब्दसाहस्रं आदि शब्दों से तेरह हज़ार वर्ष का वर्णन वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवत में किया, ऐसा समझना चाहिए। दूसरी बात जो श्रीरामभद्राचार्य ने उठायी थी कि इतने वर्षों तक धोबी के मन में सन्देह क्यों नहीं हुआ था, तो उसका उत्तर यह है कि पूर्वजन्म के पक्षी धोबी ने शाप ही दिया था कि मैं सीता का वियोग पति से गर्भावस्था में कराऊंगा तो सीताजी के गर्भवती होने तक उसने प्रतीक्षा की। साथ ही सीताजी स्वयं वन जाना चाहती थीं, राजा जनक ने वाल्मीकि के आश्रम में सारा प्रबन्ध बना रखा था, आदि का प्रमाण पद्मपुराण, अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण आदि से मैं पहले ही प्रस्तुत कर चुका हूँ। इस प्रकार से "मुनिन प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥" इस चौपाई के आश्रय से गोस्वामीजी की वाणी को प्रक्षिप्त घोषित करने के षड्यन्त्र का खण्डन करते हुए इसी चौपाई के आश्रय से विश्वामित्र मुनि के वचनों से मैंने गोस्वामीजी की वाणी को प्रामाणिक सिद्ध किया। श्रीरामभद्राचार्य ग्रन्थों का अध्ययन छोड़कर चाटुकारों और नेताओं से घिरे रहते हैं एवं जो विषय इनकी बुद्धि में समझ न आये, उसे प्रक्षिप्त बोल देते हैं।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का "नवीन" कुतर्क

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण आर्षकाव्य होने के साथ ही एक उपासना ग्रन्थ भी है। भगवती ब्रह्मगायत्री के चौबीसों अक्षरों के अनुसार इसमें चौबीस सहस्र श्लोकों की संख्या प्रसिद्ध है। आचार्यों ने तो श्लोकों के प्रत्येक सहस्र के प्रारम्भ में गायत्री के चौबीसों अक्षरों से उपक्रम का संकेत किया है अर्थात् जैसे प्रथम श्लोक का प्रारम्भ गायत्री के प्रथम अक्षर से

होता है जैसे- "तपः स्वाध्यायनिरतं" उसी प्रकार दूसरे सहस्र के प्रारम्भ, यानि एक हजार एक में गायत्री का द्वितीय अक्षर "स" प्रयुक्त है। "सहत्वा राक्षसान् वीरो" यही विधा चौबीसों साहस्त्रियों के प्रारम्भ में अपनायी गयी है।

इसी भाँति वाल्मीकीरामायण को षडक्षर राममन्त्रार्थ भी कहा जाता है। जिस प्रकार वेदव्यास जी ने द्वादशाक्षर मन्त्र की संख्या के अनुसार बारह स्कन्धों में भागवतग्रन्थ का निर्माण किया, उसी प्रकार वाल्मीकि ने भी षडक्षर मन्त्रराज राममन्त्र की संख्या के अनुसार ही छः काण्डों में ही "श्रीमद्रामायण" का निर्माण किया है। श्रीमद्गोस्वामी जी ने प्रणव अथवा विसर्ग को एक अक्षर मानकर सप्त सोपानों का निर्माण किया। इस दृष्टि से वाल्मीकि का उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है, काण्डत्व तो छह काण्डों में ही है। उत्तरकाण्ड बाद में जोड़ा गया। इसकी प्रस्तावना, भाषा-शैली, अलंकार योजना आदि पूर्व के छहों काण्डों से सर्वथा भिन्न हैं। वस्तुतः वाल्मीकिजी ने श्रीराम के राज्यशासन पर्यन्त ही कथा लिखी है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

श्रीरामभद्राचार्य ने अपनी पुस्तक में हमें मूर्ख सिद्ध करते हुए गायत्री रामायण की व्याख्या में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने कहा है कि वाल्मीकीय रामायण के श्लोकों के आधार पर गायत्री मन्त्र का निर्माण होता है, ये होता है, वो होता है, इसीलिए रामायण गायत्रीमन्त्ररूप वेदमय है, आदि आदि ...। यहाँ तक तो ठीक है, हम भी सहमत हैं। किन्तु वास्तविक आनन्द इधर से ही प्रारम्भ होता है। श्रीरामभद्राचार्य तो जनता को मूर्ख बना गये और एक दो उदाहरण देकर गायत्री रामायण का केवल नाम ही लिया, कम से कम बता तो देते कि कौन से श्लोक आते हैं उसमें ? चलिए, मैं बता देता हूँ।

गायत्री रामायण के अन्तर्गत गायत्री मन्त्र के अन्त में जो 'प्रचोदयात्' है, उसमें जो प्र है, उतने तक में ही युद्धकाण्ड समाप्त हो जाता है। अब जो 'चोदयात्' बच गया, उसके लिए जो तीन श्लोक हैं, वे उत्तरकाण्ड के ही हैं। यदि उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मानते हैं तो गायत्री रामायण के भी अन्तिम तीन श्लोक हटाने होंगे और इस प्रकार गायत्री रामायण बनेगी ही

नहीं क्योंकि उसका समापन प्रचोदयात् के प्र में ही हो जाएगा। और यदि प्रचोदयात् को पूरा करने के लिए उत्तरकाण्ड के तीन श्लोक लेंगे तो उत्तरकाण्ड का प्रक्षिप्तवाद ही धराशायी हो जाएगा। गायत्री रामायण इस प्रकार है -

'त'पः स्वाध्याय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥०१॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता वामदेव ऋषि, गायत्री छन्द, अग्नि देवता, वामदेवी शक्ति, पृथ्वी तत्त्व एवं सुमुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग चम्पा के समान है।

'स' हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र (सम्यक्) यथेन्द्रो विजयी पुरा॥०२॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता अत्रि ऋषि, उष्णिक् छन्द, प्रजापति देवता, प्रिया शक्ति, जल तत्त्व एवं सम्पुट मुद्रा होते हैं। इसका रंग अलसी के पुष्प के समान है।

'वि'श्वामित्रः स धर्मात्मा श्रुत्वा जनकभाषितम्।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत्॥०३॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता वशिष्ठ ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, चन्द्रमा देवता, सत्या शक्ति, तेजस्तत्त्व एवं वितत मुद्रा होते हैं। इसका रंग मूंगे के समान है।
(इतने श्लोक बालकाण्ड से हैं)

'तु'ष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशाम्पतेः।
शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत॥०४॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता शुक्र ऋषि, बृहती छन्द, ईशान देवता, विश्वा शक्ति, वायु तत्त्व

एवं विस्तृत मुद्रा होते हैं। इसका रंग स्फटिक के समान है।

'व'नवासं हि सङ्ख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ॥०५॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता कण्व ऋषि, पंक्ति छन्द, सविता देवता, भद्रविलासिनी शक्ति, आकाश तत्त्व एवं द्विमुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग कमल के पुष्प के समान है।

'रा'जा सत्यञ्च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥०६॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता पराशर ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, आदित्य देवता, प्रभावती शक्ति, गन्ध तत्त्व एवं त्रिमुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग प्रदीप्त सूर्य के समान है।

'नि'रीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम्।
उटजे राममासीनं जटावल्कलधारिणम्॥०७॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता विश्वामित्र ऋषि, जगती छन्द, बृहस्पति देवता, जया शक्ति, रस तत्त्व एवं चतुर्मुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग शंख अथवा चन्द्रमा के समान है।
(इतने श्लोक अयोध्याकाण्ड से हैं)

'य'दि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम्।
अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायशः॥०८॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता कपिल ऋषि, अतिजगती छन्द, मित्र एवं वरुण देवता, शान्ता शक्ति, रूप तत्त्व एवं पञ्चमुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग नए कमलपत्र के समान रक्तिम होता है।

'भ'रतस्यार्यपुत्रस्य स्वश्रूणां मम च प्रभो।
मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति॥०९॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता शौनक ऋषि, शक्करी छन्द, भग देवता, कान्ता शक्ति, शब्द तत्त्व एवं षण्मुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग पद्मरागमणि के समान है।

'ग'च्छ शीघ्रमितो राम सुग्रीवं तं महाबलम्।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव॥१०॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता याज्ञवल्क्य ऋषि, अतिशक्करी छन्द, ईश्वर देवता, दुर्गा शक्ति, स्पर्श तत्त्व एवं अधोमुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग इन्द्रनीलमणि के समान है।
(इतने श्लोक अरण्यकाण्ड से हैं)

'दे'शकालौ प्रतीक्षस्व क्षममाणः प्रियाप्रिये।
सुखदुःखसहः काले सुग्रीव वशगो भव॥११॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता भरद्वाज ऋषि, धृति छन्द, गणेश देवता, सरस्वती शक्ति, जननेन्द्रिय तत्त्व एवं व्यापकाञ्जलि मुद्रा होते हैं। इसका रंग मोती के समान है।

'व'न्यास्ते तु तपस्सिद्धास्तपसा वीतकल्मषाः।
प्रष्टव्या चापि सीतायाः प्रवृत्तिर्विनयान्वितैः॥१२॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता जमदग्नि ऋषि, अतिधृति छन्द, त्वष्टा देवता, विद्रुमा शक्ति, गुदा तत्त्व एवं शकट मुद्रा होते हैं। इसका रंग कुमकुम के समान है।
(इतने श्लोक किष्किन्धाकाण्ड से हैं)

'स' निर्जित्य पुरीं श्रेष्ठां लङ्कां तां कामरूपिणीम्।
विक्रमेण महातेजा हनुमान् कपिसत्तमः ॥१३॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता गौतम ऋषि, विराट् छन्द, पूषा देवता, विशालेशा शक्ति, पाद तत्त्व एवं यमपाश मुद्रा होते हैं। इसका रंग अञ्जन के समान है।

'ध'न्या देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
मम पश्यन्ति ये नाथं रामं राजीवलोचनम्॥१४॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता मुद्गल ऋषि, प्रस्तारपंक्ति छन्द, इन्द्र एवं अग्नि देवता, व्यापिनी शक्ति, हस्त तत्त्व एवं ग्रथित मुद्रा होते हैं। इसका रंग रक्तचन्दन के समान है।

'म'ङ्लाभिमुखी तस्य सा तदासीन्महाकपेः।
उपतस्थे विशालाक्षी प्रयता हव्यवाहनम्॥१५॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता वेदव्यास ऋषि, कृति छन्द, वायु देवता, विमला शक्ति, वाणी तत्त्व एवं सन्मुख तथा उन्मुख मुद्रा होते हैं। इसका रंग वैदूर्यमणि के समान है।
(इतने श्लोक सुन्दरकाण्ड से हैं)

'हि'तं महार्थं मृदु हेतुसंहितं व्यतीत कालायति सम्प्रतिक्षमम्।
निशम्य तद्वाक्यमुपस्थितज्वरः प्रसङ्गवानुत्तरमेतदब्रवीत्॥१६॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता लोमश ऋषि, प्रकृति छन्द, वामदेव देवता, तमोपहारिणी शक्ति, नासिका तत्त्व एवं प्रलम्ब अथवा विलम्ब मुद्रा होते हैं। इसका रंग मधु के समान है।

'ध'र्मात्मा रक्षसां श्रेष्ठः सम्प्राप्तोऽयं विभीषणः।
लङ्केश्वर्यं ध्रुवं श्रीमानयं प्राप्नोत्यकण्टकम्॥१७॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता अगस्त्य ऋषि, आकृति छन्द, मित्र एवं वरुण देवता, सूक्ष्मा शक्ति, जिह्वा तत्त्व एवं मुष्टिक मुद्रा होते हैं। इसका रंग हल्दी के समान है।

'यो' वज्रपाताशनिसन्निपातान्न चुक्षुभे नापि चचाल राजा ।
स रामबाणाभिहतो भृशार्तश्चचाल चापञ्च मुमोच वीरः ॥१८॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता कौशिक ऋषि, विकृति छन्द, विश्वेदेव देवता, विश्वयोनि शक्ति, नेत्र तत्त्व एवं मत्स्य मुद्रा होते हैं। इसका रंग दूध के समान है।

'य'स्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम् ॥१९॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता वत्स ऋषि, संकृति छन्द, मातृका देवता, जया शक्ति, त्वचा तत्त्व एवं कूर्म मुद्रा होते हैं। इसका रंग सूर्यकान्तमणि के समान है।

'न' ते ददृशिरे रामं दहन्तमरिवाहिनीम्।
मोहिताः परमास्त्रेण गान्धर्वेण महात्मनः (महात्मना) ॥२०॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता पुलस्त्य ऋषि, अक्षरपंक्ति छन्द, विष्णु देवता, वशा शक्ति, कर्ण तत्त्व एवं वराह मुद्रा होते हैं। इसका रंग तोते की पूंछ के समान है।

'प्र'णम्य देवताभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥२१॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता माण्डुक ऋषि, भूः छन्द, वसु देवता, पद्मालया शक्ति, प्राण तत्त्व एवं सिंहाक्रान्त मुद्रा होते हैं। इसका रंग कमल के पुष्प के समान है।

(इतने श्लोक युद्धकाण्ड से हैं)

'चा'लनात्पर्वतस्यैव (पर्वतेन्द्रस्य) गणा देवस्य (देवाश्च) कम्पिताः।
चचाल पार्वती चापि तदाश्लिष्टा महेश्वरम्॥२२॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता दुर्वासा ऋषि, भुवः छन्द, रुद्र देवता, पराशोभा शक्ति, अपान तत्त्व एवं महाक्रान्त मुद्रा होते हैं। इसका रंग केतकी के पुष्प के समान है।

'दा'राः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम्।
सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर॥२३॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता नारद ऋषि, स्वः छन्द, कुबेर देवता, भद्रा शक्ति, व्यान तत्त्व एवं मुद्गर मुद्रा होते हैं। इसका रंग मल्लिका के पुष्प के समान है।

'या'मेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्वयम्॥२४॥

इस श्लोक के अधिष्ठाता कश्यप ऋषि, ज्योतिष्मती छन्द, अश्विनीकुमार देवता, त्रिपदा शक्ति, समान तत्त्व एवं पल्लव मुद्रा होते हैं। इसका रंग करवीर के पुष्प के समान है।
(इतने श्लोक उत्तरकाण्ड के हैं)

इस प्रकार से मैंने गायत्री रामायण के तात्त्विक रहस्य का ज्ञान आपको करा दिया है। आपके ही द्वारा चर्चा में गायत्री रामायण का नाम लिया गया था जिसके अन्तिम श्लोक से आपका वह मत भी खण्डित होता है जहां आपने कहा कि सीताजी ने लवकुश को वन में नहीं, महल में जन्म दिया था क्योंकि गायत्री रामायण के अन्तिम श्लोक में ही सीताजी के द्वारा वन में लवकुश को जन्म देने का उल्लेख है। शत्रुघ्न जी उस रात्रि वहीं पर थे।

किन्तु एक बात अच्छी हुई कि आपने कम से कम यह तो माना कि षडक्षर राममन्त्र में प्रणव या विसर्ग के साथ गोस्वामीजी ने सात सोपान लिखे। वस्तुतः सभविष्यं सहोत्तरम् एवं षड्काण्डानि तथोत्तरम् आदि से प्रणवयुक्त षडक्षर के साथ उत्तरकाण्ड को लिखा, यह भी सिद्ध होता है जो सामान्यतम बुद्धि का व्यक्ति भी समझ जायेगा।

उत्तरकाण्ड को "पूर्णतः" प्रक्षिप्त मानने वाले ये महानुभाव मेरे प्रत्युत्तर में गायत्री रामायण का उपदेश देने चले थे किन्तु मैंने इनकी ही तेल बत्ती से इनकी ही लङ्का का दहन कर दिया। भगवान् ब्रह्मदेव ने बृहद्धर्मपुराण के रामायण कवच के अन्त में वाल्मीकि जी को आदेश किया कि सात काण्डों वाली रामायण की रचना करो - रामायणं कुरु सप्तकाण्डम्। आनन्दरामायण में भी कहा - सप्तकाण्डमितं शुभम्। वैसे भी उत्तरकाण्ड को "पूर्णतः" प्रक्षिप्त कहने की बात वहीं निरस्त हो जाती है जहाँ मैंने श्रीरामानन्दाचार्य भगवान् के आनन्दभाष्य से उत्तरकाण्ड का प्रमाण दे दिया था।

इन महोदय को शास्त्र और प्रमाण आदि शब्दों का यथार्थतः बोध है, ऐसा मुझे नहीं लगता है। भगवान् अहिर्बुध्न्य रुद्र देवर्षि नारद को प्रमा, प्रमाण और प्रामाणिक शास्त्रों का बोध कराते हुए पुराणों का भी नाम लेते हैं -

मितिर्मा गदिता सद्भिः प्रकृष्टा मा प्रमा स्मृता।
प्रकर्षश्च मितेः सोऽयं यद्यथार्थावधारणम्॥ धीसाधकतमं यत्तत्प्रमाणमिति शब्द्यते।
प्रमाणत्वेन निर्दिष्टा पण्डितैरर्थकामयोः॥ इतिहासपुराणाख्य उपवेदो हि यः स्मृतः॥
(अहिर्बुध्नसंहिता, अध्याय – १३)

आगे विष्णु संहिता का प्रमाण देखें जहाँ भगवान् ने पुराणों का उदाहरण देकर उनकी वेदसम्मत और आप्तसम्मत स्थिति के दृष्टान्त से तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता समझायी है -

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः॥
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते। वेदमूलतया तन्त्रमाप्तमूलतयाऽथवा॥

पुराणवत् प्रमाणं स्यात् तथा मन्वादिवाक्यवत्।
(विष्णुसंहिता, पटल - ०२)

स्कन्दपुराण में कहते हैं कि वेद, स्मृति और पुराण, इन तीन प्रधान विद्याओं को ही धर्मशास्त्र के निर्णय में प्रधान समझना चाहिए, इसमें ब्रह्माजी के आदेश से पुराण को पञ्चम वेद कहा गया है। इस बात से श्रीमद्भागवत भी सहमत हैं -

तिस्रो विद्या इमा मुख्याः सर्वशास्त्रविनिर्णये।
पुराणं पञ्चमो वेद इति ब्रह्मानुशासनम्॥
(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड/रेवाखण्ड, अध्याय – ०१, श्लोक - १९)

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते॥
(श्रीमद्भागवतमहापुराण, स्कन्ध – ०१, अध्याय – ०४, श्लोक - २०)

स्वयं वेद भगवान् भी पुराणों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। अथर्ववेद-आथर्वणरहस्य की नारायणपूर्वतापिनीय श्रुति के पञ्चम खण्ड में वर्णन है -

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं मन्त्रशास्त्रकम्। विद्याश्चाष्टादश प्रोक्ता नारायणनिवेशिताः॥

इतना ही नहीं, छान्दोग्योपनिषत् में भी देखें -

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥
(छान्दोग्योपनिषत् - ७/२)

वहीं सप्तम अध्याय के सप्तम खण्ड के प्रथम को ही देखें -

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाँश्च मनुष्याँश्च पशूँश्च वयाँसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥

विज्ञान के द्वारा ही पुराणों का ज्ञान सम्भव है, ऐसा वेद कहते हैं। और आपने भी तो छान्दोग्य श्रुति के स्वकृत राघवकृपाभाष्य में उपर्युक्त अंश के अन्तर्गत मत्स्य, भागवत आदि पुराणों को पञ्चम वेद स्वीकार किया ही है। हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र, प्रश्न ०१ के मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् सूत्र की महादेवकृत वैजयन्ती देखें -

भगवता योगीश्वरेण याज्ञवल्क्येन-
'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥' इति।
पुराणग्रहणमितिहासरामायणादिकाव्यादीनामप्युपलक्षणम्।

इस प्रकार से सबों ने पुराणों की प्रामाणिकता को निर्विवाद स्वीकार किया है। गोस्वामीजी वेदों से पूर्व मानस को 'पुराणसम्मत' कहते हैं - नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्। भगवान् वेदान्तदेशिक स्वामी पाञ्चरात्ररक्षा के प्रथम अधिकार में चार सिद्धान्तों के विषय में लिखते हैं, जिसमें वेदसिद्धान्त के साथ तन्त्र और पुराणसिद्धान्त का नाम भी लिखते हैं -

श्रीकरसंहितायां च प्रागुक्तस्यैव सिद्धान्तचतुष्टयस्य वेदसिद्धान्तो दिव्यसिद्धान्तस्तन्त्रसिद्धान्तः पुराणसिद्धान्त इति

प्रागुक्तादूरविप्रकृष्टैर्नामभेदैर्विभागमुक्त्वा पुराणसिद्धान्तसंज्ञितस्य तन्त्रान्तरसिद्धान्तस्य मोक्षप्रदस्यापि विशेषतः श्रीकरत्वमुक्तम्।

"एतत् पुराणसिद्धान्तं श्रीकरं च विशेषतः।
इदं श्रीकरसंज्ञाख्यं भोगमोक्षफलप्रदम्।" इति ।

आगे चलकर श्रीवाराहे पुराणे द्वात्रिंशदपचारा पठिता एवं "इति श्रीवाराहे पुराणे धरणीप्रश्ने द्वात्रिंशदपचारो नाम पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥" इति कहकर वाराहपुराण का प्रमाण बत्तीस अपराधों की सूची के अन्तर्गत देते हैं। आह्निककृत्य के अन्तर्गत पुराणों के पाठ का निर्देश देते हैं - तदिदमुक्तं व्यासेन तत्कालकृत्यम्– "इतिहासपुराणाभ्या वेदं समुपबृंहयेत्' इति। दक्षेण तु "इतिहासपुराणाभ्या षष्ठ सप्तममभ्यसेत्' इति। एवम् "भुक्त्वोपस्थाय चादित्यं पुराणानि सदा पठेत्'। इत्यादिकञ्च द्रष्टव्यम्। संहिताग्रन्थों का भी सर्वथा प्रमाण स्वीकार करते हैं।

नारदपुराण के मोहिनीप्रकरण में देखें। महाराज रुक्मांगद ने वेदों की अपेक्षा पुराणों के अर्थ को अधिक बताया है क्योंकि सभी वेदों की प्रतिष्ठा पुराण में ही है। बिना पुराणों को जाने जो वेद का अर्थ करने बैठता है, वेदों को भय लगता है कि अब ये अज्ञानी मेरी दुर्गति करेगा। साथ ही वेदों में ज्योतिष्, अनुष्ठान, व्रत, आख्यान आदि बहुत से विषय विस्तार से नहीं मिलते, जिनका बोध पुराणों से ही सम्भव है। जो वेद में नहीं मिलता है, उसका वर्णन स्मृतियों में मिलता है। जो ज्ञान वेद-स्मृति दोनों में नहीं, वह पुराण से मिलता है -

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने॥
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेष्वेव सर्वदा। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥
न वेदे ग्रहपञ्चारो न शुद्धिः कालबोधिनी। तिथिवृद्धिक्षयो वापि पर्वग्रहविनिर्णयः॥
इतिहासपुराणैस्तु निश्चयोऽयं कृतः पुरा।
यन्न दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ॥ उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते।
आगे यह भी कहते हैं -
यद्वेदैर्गीयते सुभ्रु उपाङ्गैर्यत्प्रगीयते। पुराणैः स्मृतिभिश्चैव वेद एव निगद्यते॥

(नारदपुराण, उत्तरार्ध, अध्याय - २४)

ब्रह्मपुराण, अध्याय - २४३ के श्लोक - ०७ में राजा जनक कहते हैं -

प्रमाणं यच्च वेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते।
वेदशास्त्रप्रमाणं च प्रमाणं तत्सनातनम्॥

अब शास्त्रोक्त प्रमाण में कौन कौन हैं, इसके विषय में आचार्य कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्तिक में कहते हैं -

चतुर्दशाष्टादश वा विद्यास्थानानि धर्मप्रमाणत्वेन शिष्टैः परिगृहीतानि वेदोपवेदाङ्गोपाङ्गाष्टादशधर्मसंहितापुराणशास्त्रशिक्षादण्डनीतिसंज्ञकानि न च तेषां मध्ये बौद्धार्हतादिग्रन्थाः स्मृता गृहीता वा।

अब श्रीरामभद्राचार्य यदि पुराणों को प्रमाणकोटि में नहीं मानते हैं तो उन्हें शिष्ट समझा जाए अथवा अशिष्ट ? क्योंकि पुराणों को तो शिष्टजन ही प्रमाण मानते हैं। अजी, पुराण के निन्दक को व्यासपीठ से कथा बोलने का छोडिए, कथा 'सुनने' तक का निषेध बताया गया है क्योंकि वह अश्रद्धालु है -

श्रुतिस्मृतिपुराणानां निन्दकेभ्यः कथञ्चन। पापिभ्यश्च महाराज श्रावयेन्नैव वाचकः॥
(पद्मपुराण के अन्तर्गत हरिवंशमाहात्म्य)

ऐसे में पुराण को अप्रामाणिक कहकर उनके प्रति श्रद्धारहित निन्द्यभाव रखने वाला व्यक्ति क्या पुराणपुरुषोत्तम भगवान् पर आघात करके भी स्वयं को सार्वभौम वैष्णव जगद्गुरु कहलाने का महापातक नहीं कर रहा है ?

एकं पुराणं रूपं वै तत्र पाद्मं परं महत्। ब्राह्मं मूर्धा हरेरेव हृदयं पद्मसंज्ञितम्॥
वैष्णवं दक्षिणो बाहुः शैवं वामो महेशितुः।

ऊरू भागवतं प्रोक्तं नाभिः स्यान्नारदीयकम्॥
मार्कण्डेयञ्च दक्षाङ्घ्रिर्वामो ह्याग्नेयमुच्यते। भविष्यं दक्षिणो जानुर्विष्णोरेव महात्मनः॥
ब्रह्मवैवर्तसंज्ञं तु वामजानुरुदाहृतः। लैङ्गं ह गुल्फकं दक्षं वाराहं वामगुल्फकम्॥
स्कान्दं पुराणं लोमानि त्वगस्य वामनं स्मृतम्।
कौर्मं पृष्ठं समाख्यातं मात्स्यं मेदः प्रकीर्तितम्॥
मज्जा तु गारुडं प्रोक्तं ब्रह्माण्डमस्थि गीयते। एवमेवाभवद्विष्णुः पुराणावयवो हरिः॥
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय - ६२, श्लोक – ०२-०७)

भगवान् के एक ही रूप में पुराण अंगों के आधार पर निश्चित हैं। ब्रह्मपुराण मस्तक है, पद्मपुराण हृदय है, विष्णुपुराण दाहिना एवं शिवपुराण बायाँ हाथ है। उरुभाग श्रीमद्भागवत पुराण है, नारदपुराण नाभि है, मार्कण्डेयपुराण दाहिना और अग्निपुराण बायाँ चरण है। भविष्यपुराण दाहिना और ब्रह्मवैवर्तपुराण बायाँ जानुभाग है। लिंगपुराण दाहिना एवं वाराह पुराण बायाँ गुल्फप्रदेश है। स्कन्दपुराण रोम हैं, वामनपुराण त्वचा है। कूर्मपुराण पीठ है, मत्स्यपुराण मेद है। गरुडपुराण मज्जा एवं ब्रह्माण्डपुराण हड्डी है। इस प्रकार पुराणपुरुष भगवान् नारायण हैं।

श्रीरामभद्राचार्य ने तो कोई गोसहस्रनाम भी लिखी है जो नित्यानन्दमिश्र एवं जयशर्मा को सुनायी थी, उसमें इन्होंने स्वयं को ऋषि घोषित कर दिया। इनका लोभ और कितना आगे जाएगा, ज्ञात नहीं। पहले इनको जगद्गुरु बनना था, फिर हमने आपत्ति की तो सार्वभौम वैष्णव जगद्गुरु की उपाधि ले लिए और अब तो ऋषि ही बन गये हैं। ऋषि भी कैसे ? सर्वशास्त्रविशारदम्। अद्भुत, किन्तु आश्चर्य है कि सर्वशास्त्रविशारद जगद्गुरु को यही नहीं पता कि जिन पुराणों को वे प्रमाणकोटि में नहीं गिनते, ब्रह्मदेव के मुख से निःसृत होने वाले सभी शास्त्रों में वे शतकोटिप्रविस्तर पुराण ही प्रथम हैं।

तपश्चचार प्रथमममराणां पितामहः। आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः॥
पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥
(मत्स्यपुराण, अध्याय - ०३)

अच्छा, फिर इन्होंने गोसहस्रनाम में लिखा कि स्वयं भगवान् रामानन्दाचार्य जी ने इन्हें वह प्रदान किया। इस बात पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि कामाख्या में तपस्या करके देवीकृपा से मुझे परमाक्षरसूत्र मिला, नाभिदर्शना नायिका की साधना से विशुद्धोपागम-प्राणविद्या मिली, पद्मिनी देवी की साधना से श्रीसूक्त की दिव्यवृत्ति एवं नृसिंहवृत्ति मिली, सूर्यदेव की साधना से सूर्यरहस्य प्राप्त हुआ। तो साधनात्मक विधि से दुर्लभ शास्त्र सीधे इष्ट या लोकोत्तर गुरुओं से प्राप्त हो सकते हैं, इसमें कोई बहुत बड़े आश्चर्य की बात सनातनी सिद्धान्त में नहीं है। किन्तु मुझे यह बात समझ में नहीं आयी कि जब श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य महाराज ने श्रीरामभद्राचार्य पर इतनी बड़ी कृपा की, कि साक्षात् संवाद करके गोसहस्रनाम दे दिया तो उन्होंने यह क्यों नहीं बताया कि बेटा रामभद्र ! तुम जो ये उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त घोषित किए फिर रहे हो, वो प्रक्षिप्त नहीं है। मैंने उसके उद्धरण अपने आनन्दभाष्य के देवताधिकरण में दिए हैं, उन्हें प्रक्षिप्त क्यों कहते हो ? और यदि कदाचित् यह मान लें कि पूर्व में श्रीरामानुजाचार्य जी श्रीभाष्य लिख चुके थे तो श्रीरामानन्दाचार्य जी ने स्वतन्त्र भाष्य नहीं लिखा, आनन्दभाष्य बाद में किसी की रचना है, तो कम से कम यही कह देते कि मेरे नाम पर नकली भाष्य चल रहा है अतः बेटा रामभद्र ! रामानन्दियों की अहमदाबाद वाली जो आनन्दभाष्यसिंहासीन गद्दी है, वह नकली है, उसका बहिष्कार करो, विरोध करो।

अर्थात् श्रीरामानन्दाचार्य जी का जब श्रीरामभद्राचार्य से संवाद हुआ तो बस वे गोसहस्रनाम देकर चले गए, इतने प्रमुख गम्भीर विषय पर कुछ नहीं कहा ? और यह गोसहस्रनाम दिया भी किसे, तो उस व्यक्ति को जो उनके ही लिखे वैष्णवमताब्जभास्कर के अनुसार उनके सम्प्रदाय के पीठ की गद्दी पर गुरु बनकर नहीं बैठ सकता। और तो और, उस स्तोत्र के ऋषि के रूप में श्रीरामभद्राचार्य को श्रीरामानन्दाचार्य का नाम लिखना चाहिए था क्योंकि स्तोत्र तो उन्होंने बताया, अर्थात् पूर्व में उन्हें बोध था। तो जब श्रीरामानन्दाचार्य जी पहले से जानते थे फिर उन्होंने अपने किसी ग्रन्थ में क्यों नहीं लिखा, अथवा अपने सुरसुरानन्द आदि द्वादशशिष्यों को क्यों नहीं बताया ? सीधे श्रीरामभद्राचार्य को बताया ? और फिर बताया भी तो उनका ही नाम ऋषि के स्थान पर दिया भी नहीं गया ? यदि यह कहें कि श्रीरामभद्राचार्य से उनसे पाया अतः श्रीरामभद्राचार्य का नाम ही ऋषि में होगा,

तो बन्धु ! श्रीरामभद्राचार्य से तो नित्यानन्दमिश्र और (रामचन्द्रदास) जयशर्मा ने पाया, उन्हें क्यों नहीं ऋषि बनाया गया ? मतलब जिनसे लिया वो भी ऋषि नहीं और जिनको दिया, वो भी ऋषि नहीं, बस श्रीरामभद्राचार्य बीच में ऋषि बन गये। अद्भुत दम्भ से भरा हुआ इनका व्यक्तित्व है। व्याकरण को छोड़कर ढंग से एक शास्त्र इन्होंने नहीं पढ़ा है और व्याकरण का भी आजतक मात्र अर्थ का अनर्थ करने में ही प्रयोग करते आ रहे हैं ये।

अब मेरे द्वारा लिखित शक्तिसूत्र के सृष्टिभाष्य में निग्रहागमसम्मत सर्वेश्वरी विद्या के विनियोग में कुछ लोग निग्रहऋषिः शब्द देखकर कह रहे हैं कि मैंने स्वयं को ऋषि घोषित कर दिया है। उन्हें ये समझना चाहिए कि निग्रहऋषि मेरा नाम नहीं है और मैंने स्वयं को ऋषि घोषित नहीं किया है। ललितासहस्रनाम में कहते हैं -

सर्वशक्तिमयी सर्वमङ्गला सद्गतिप्रदा। "सर्वेश्वरी" सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी॥

इनके विस्तार में आर्यासाहस्रीकार लिखते हैं -

औरसपुत्रा ननु ते सर्वे "सर्वेश्वरी त्वमेवासि"।
आरक्तवर्णयुक्ता काले काले स्थिते नमो ललिते॥
फिर आगे स्पष्ट करते हैं -
जितदैत्यराजचक्रे मार्गे "सिद्धासि निग्रहस्य" त्वम्।
"निग्रहमार्गः सोऽयं" ध्यानाभ्यासो हि योगिनां ललिते॥

निग्रहमार्ग में देवी सर्वेश्वरी सम्बन्धित मन्त्र के ऋषि की औपाधिक संज्ञा निग्रह ही होती है। जैसे वरुणसम्बन्धी गायत्रीशापविमोचन के 'धाम्नो धाम्नो राजन्नितो वरुण नो मुञ्चः' आदि मन्त्रों के ऋषि सातों सागर होते हैं - सप्तसागरा ऋषयः। औपाधिक और वैयक्तिक संज्ञाओं का भेद तक न समझने वाले जब आक्षेप करते हैं तो मैं क्या कहूँ।

शंकराचार्य जी ने कहा - द्वारं किमेकं नरकस्य नारी। सर्वज्ञ महावतार जगद्गुरु ने कहा -

ऐसे कैसे ? तुम कहाँ से टपके हो, क्या तुम्हारी माता स्त्री नहीं ? नरक का द्वार नहीं, नारायण का द्वार है नारी। फिर नारायण ने कपिलावतार में अपनी माता देवहूति जी को यही सिद्धान्त कहा - निरयद्वारमस्य (श्रीमद्भागवत) सर्वज्ञ महावतार जगद्गुरु जी ने इस बार कुछ नहीं कहा। पुराण हमारी प्रमाणकोटि में नहीं आते, इस भाव से कुटिल मुस्कान दे गये।

स्वयम्भू जगद्गुरु जी ने कहा कि रामानन्दाचार्य भगवान् श्रीराम के अवतार थे - रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले। किन्तु ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण, आनन्दभाष्य में उन्हीं श्रीरामानन्दाचार्य जी ने उत्तरकाण्ड से प्रमाण दिये, वो नहीं दिखता है इन्हें। वल्लभाचार्य जी ने शम्बूक वध का संकेत किया गीताभाष्य में, वो नहीं दिखता इन्हें। कात्यायन मुनि ने अपनी स्मृति में स्वर्णप्रतिमा की सीता का उल्लेख किया वो नहीं दिखता इन्हें। ऊपर से धौंस ये कि सब वेद, पुराण, स्मृति, शास्त्र, तन्त्र हमारे कण्ठ में ही बसे हैं, बस हम जो कह दें मात्र वही और उतना ही प्रामाणिक, बाकी सब प्रक्षिप्त। और चेले उड़ता पंजाब बने घूम रहे हैं। कहते हैं कि हिम्मत है तो आमने सामने बात करो। उस व्यक्ति से हम क्या बात करें जो रामानन्दाचार्य जी के सम्प्रदाय में होकर रामानन्दाचार्य जी की वाणी न माने।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का "नवीन" कुतर्क

वाल्मीकीयरामायण के मूलरामायण में श्लोक सं० ९७ में देवर्षि नारद महर्षि वाल्मीकि को सावधान करते हुए कह रहे हैं -

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥

इस श्लोक की और व्याख्या तो की जा चुकी है, अब श्लोक के अन्तिम खण्ड पर अवश्य ध्यान दें - महर्षि कहते हैं, "रामोराज्यमुपासित्वा" अर्थात् न्यूनतम तीस हजार वर्ष और तीस सौ वर्ष अर्थात् तैतीस हजार पर्यन्त राज्य की उपासना करके परब्रह्म श्रीराम लोगों को दर्शन देते रहेंगे अर्थात् राज्यशासन नहीं करेंगे। यहाँ 'उपासित्वा' शब्द पर हम विचार कर

रहे हैं उप् उपसर्ग पूर्वक अस् धातु से जब क्त्वा प्रत्यय होगा तब उसको ल्यप् आदेश हो जाएगा उपास्य बनेगा। जबकि यहाँ "उपासित्वा" का प्रयोग हुआ है, यदि कोई कहे कि आर्षत्वात् यह प्रयोग किया गया होगा तो यह पक्ष भी समीचीन नहीं है क्योंकि महर्षि वाल्मीकि कभी अव्याकृत (व्याकरणविरुद्ध) प्रयोग नहीं करते। इसीलिए नलचम्पू में त्रिविक्रमभट्ट ने कहा- "सदूषणापि निर्दोषा" अर्थात् दूषण की कथा से युक्त होने पर भी वाल्मीकीयरामायण की कथा निर्दोष है। इस परिस्थिति में मुझे यह निवेदन करना है कि यहाँ "उप" शब्द उपसर्ग नहीं है प्रत्युत 'उपा' शब्द सीताजी का नाम है। उ निश्चयेन भक्तान् पाति रक्षति इति उपाः। विश्वपा शब्द की भाँति। तया उपया सीतया सह राज्यं राजसिंहासनम् आसित्वा उपविश्य अर्थात् भगवती सीताजी के साथ न्यूनतम तैतीस हजार वर्ष पर्यन्त राज्यशासन करके परब्रह्म भगवान् श्रीराम उसे अपने दो पुत्रों और छह भतीजों को समर्पित करके भक्तों को दर्शन देते रहेंगे।

"कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ" (वा ० रा ० १/४/५) कोश के अनुसार युगलगायकों को कुशीलव कहते हैं। चारणास्तु कुशीलवाः। अमर -२ / १२) कुत्सितं शीलं अस्य इति कुशीलः। कुगतीति समासः। अन्यत्रापि दृश्यते इति वः। यद्वा कुशीलं वाति गच्छति प्राप्नोतीति यावत्। वाकः चारणः। इत्यमरः। 'कुशीलव' शब्द से कुश और लव अर्थ समझना तो संस्कृतव्याकरण की अनभिज्ञता एवं मूर्खता का ही परिणाम समझना चाहिए।

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः। अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ॥
कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ। भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ॥
(वा ० रा ० २ / ४ / ४-५)

महर्षि वाल्मीकि के यहाँ समस्त शास्त्रों का पठन-पाठन होता था, इसलिए कोई दो ब्राह्मण कुमार ही उनसे गान्धर्व वेद सीखने आये थे। वे दोनों सगे भ्राता थे। स्वरसम्पन्न थे। इसलिए उन्हीं को महर्षि ने रामायणगान की आज्ञा दी। यहाँ राजपुत्रौ शब्द से राजपुत्र की कल्पना नहीं की जा सकती। यक्ष एवं गन्धर्वों को भी राजा कहा जाता है, इसलिए यक्षगन्धर्वों के राजा कुबेर को राजराज या राजाधिराज कहकर वेद में सम्बोधित किया गया

है।

राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे। ऋग्वेद

“राज्ञां यक्षगन्धर्वाणां अधिराजः इति राजाधिराजः" ठीक उसी प्रकार “राज्ञः गायक वृत्तैः गंधर्वस्य वर्णतो ब्राह्मणस्य पुत्रौ इति राजपुत्रौ” याने ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए गायक वृत्ति वाले गन्धर्व को राजा कहते हैं। उसके ये दोनों पुत्र हैं। यदि यहाँ कुशीलव का तात्पर्य श्रीसीताजी के पुत्रों से रहा होता, तब महर्षि “रामपुत्रौ यशस्विनौ” कहकर परिचय देते। ये दोनों बालक वंशपरम्परया गायक हैं, इसलिए इनकी कुशीलव संज्ञा है, किन्तु कुश - लव तो क्षत्रिय कुमार होने से प्रधानतया वंशपरम्परया योद्धा हैं। क्षत्रिय कुमार के लिए गौणकला के रूप में भले ही संगीत सीखने की छूट दी गयी हो, पर मुख्यरूप से तो उन्हें धनुर्वेद की ही शिक्षा दी जाती है और उसी में उनकी निष्ठा भी रहती है।

धनुर्वेद च निष्ठितः (वा ० रा ० १/१/१४)

उनके वर्णधर्म में भी गायनकार्य विहित नहीं है -

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
(गीता १८/४३)

शूरता, तेज, धैर्य, शस्त्र चलाने में कुशलता, युद्ध में पीछे न मुड़ना, दान, ईश्वर-भाव अर्थात् शासन की वृत्ति - ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं जबकि गायकत्व कुशीलव का स्वाभाविक कर्म है जो कि ललितकला होने से एक रणकर्कश क्षत्रिय के लिए अस्वाभाविक के साथ-साथ उसके वर्ण-धर्म-मर्यादा के विरुद्ध भी है। इसलिए रामायण के गायक कुशीलव श्रीराम पुत्र कुश - लव नहीं हैं, अपितु कोई गान्धर्व कला - रसिक ब्राह्मण कुमार ही थे। पुनः चतुर्थ सर्ग के ग्यारहवें श्लोक को पढ़कर कुशीलव के रूप श्रीराम पुत्रों का होना आशंकित हो सकता है -

रूपलक्षणसम्पन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ। बिम्बादिवोत्थितौ बिम्बौ रामदेहात् तथापरौ॥
(वा ० रा ० १/४/११)

इस श्लोक पर सामान्यतः विचार करें तो भी यहाँ वर्णित कुशीलव की उपमाएँ श्रीराम पुत्र लव - कुश पर नहीं घटेंगी, क्योंकि उपमा से उपमान के आधार पर उपमेय को उसका पुत्र नहीं सिद्ध किया जा सकता, जैसे - चन्द्र इव मुखम् इस उपमा से क्या मुख को चन्द्र का बेटा माना जाएगा या किसी को काम की उपमा दी जाय- काम इव सुन्दरः तो वह काम का बेटा हो गया ? ठीक वैसे यहाँ पर भी “रामदेहात् बिम्बात् उत्थितौ अपरौ बिम्बौ इव” इस वाक्यखण्ड का सीधा अर्थ तो यही होगा कि वे रामायण के गायक कुशीलव मानो श्रीराम के शरीर से निकले हुए बिम्ब से उत्पन्न बिम्ब थे।

यदि यहाँ रामपुत्र कहने की इच्छा होती तो रामदेहात् न कहकर रामदेहस्य षष्ठ्यन्त प्रयोग होता क्योंकि पुत्र तो पिता का प्रतिबिम्ब होता है न कि पिता से निकले हुए प्रतिबिम्ब का। प्रतिबिम्ब वास्तव में रामदेहात् शब्द ल्यप् लोप पंचमी है अर्थात् रामदेहं आश्रित्य बिम्बः कामदेवः तम् आश्रित्य उत्थितौ बिम्बौ” तात्पर्य यह है कि कुशीलव को देखकर ऐसा लग रहा है मानो वे श्रीराम के शरीर से निकले हुए बिम्ब साक्षात् कामदेव के ही प्रतिबिम्ब हैं। लव-कुश को रामायण का गायक मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह होगी कि महर्षि वाल्मीकि में वर्ण-मर्यादा के उल्लंघन का आरोप होगा, क्योंकि लव-कुश क्षत्रिय कुमार हैं, क्षत्रिय कुमार को वाल्मीकिरामायण सुनाने का अधिकार नहीं है। इस बात को स्वयं महर्षि वाल्मीकि ही युद्धकाण्ड के अन्तिम सर्ग के फलश्रुति में कहते हैं -

प्रणम्य शिरसा नित्यं श्रोतव्यं क्षत्रियैर्द्विजात्। ऐश्वर्यं पुत्रलाभश्च भविष्यति न संशयः॥
(वा ० रा ० ६ / १२८/११८)

प्रेम से ब्राह्मण के चरणों में प्रणाम करके उसी ब्राह्मण श्रेष्ठ के मुख से क्षत्रिय को श्रीमद्रामायण का श्रवण करना चाहिए। जिससे उन्हें निःसन्देह ऐश्वर्य तथा पुत्र का लाभ

होगा। इस कथन के अनुसार क्षत्रिय कुल में जन्मे हुए लव-कुश श्रीरामायण श्रवण कराने के अधिकारी ही नहीं हैं। श्रोतव्यं क्षत्रियैर्द्विजात्। अर्थात् क्षत्रिय को ब्राह्मण से ही रामायण सुननी चाहिए। यहाँ तो कुश - लव ब्राह्मण ही नहीं। इसलिए रामायण के गायक लव-कुश नहीं हैं , प्रत्युत् कोई गान्धर्व विद्या - विशारद ब्राह्मण ही हैं, जिन्हें मूर्खतावश अद्यावधि लव-कुश के रूप में जाना जाता रहा है।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

जब मनुष्य के शरीर में प्राण और अपान के मार्ग में परिवर्तन हो जाता है, तब वह ऐसा ही व्याकरण वमन करता है। आज आचार्य पाणिनि यहाँ होते तो बस यही कहते - 'देख रहा है न बिनोद ! कैसे व्याकरण के नाम पर जनता को मूर्ख बनाया जा रहा है।' मुझे तो कभी कभी लगता है कि कहीं किसी व्यक्ति ने छल से श्रीरामभद्राचार्य को व्याकरण के नाम पर कुछ और ही तो नहीं पढ़ा दिया ? आपने कहा कि व्याकरण से विरुद्ध प्रयोग वाल्मीकिजी नहीं कर सकते, अतः उपासित्वा में उपा शब्द का अर्थ सीता है। अच्छा हुआ, आपने बता दिया अन्यथा यह अर्थ तो स्वयं वाल्मीकिजी को भी ज्ञात नहीं था। अपितु मैं तो यह समझता हूँ कि ऐसा अद्भुत अर्थ समझने वाले तो आप भूत, भविष्य और वर्तमान में अकेले हैं। वाल्मीकिजी तो व्याकरण के विरुद्ध प्रयोग नहीं कर सकते, तो क्या वेदव्यासजी करेंगे ? देखिए न -

ततो वर्षसहस्रान्ते योगात्तत्पारमेश्वरम्।
'उपासित्वा' महाभागाः शिष्येभ्यः प्रददुस्ततः॥
(वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, अध्याय - २३, श्लोक - ३०)

एक और उदाहरण देखिए -

दिव्यवर्षसहस्रान्ते 'उपासित्वा' महेश्वरम्। धर्मोपदेशमखिलं कृत्वा योगमयं दृढम्॥
(लिङ्गपुराण, पूर्वभाग, अध्याय - १६, श्लोक – ३८)

उपसर्गों के साथ ल्यप् न लगाकर क्त्वा लगाने के कुछ और भी आर्षप्रयोग देखें -

कस्यचित्त्वथ कालस्य हैहयाधिपतिः प्रभुः।
'विजित्वा' सर्वराष्ट्राणि सर्वसैन्यसमावृतः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय - २४१, श्लोक – २२)

श्रुत्वाख्यानं तु सङ्कष्टचतुर्थ्यां राजसत्तमः।
दूर्वाख्यानं तु 'संश्रुत्वा' चिन्ताविष्टो नृपोऽभवत्॥
(गणेशपुराण, उपासनाखण्ड अध्याय - ६८, श्लोक – ०२)

ततस्तु पुत्रं गिरिशादवाप्य रसातलं चण्डपराक्रमस्तु।
इमां धरित्रीमनयत्स्वदेशं दैत्यो 'विजित्वा' त्रिदशानशेषान्॥
(शिवपुराण, रुद्रसंहिता, युद्धखण्ड, अध्याय - ४२, श्लोक – ४२)

वामनपुराण में श्लोक है -

तत्राप्यकल्मषो भूतः स्तुत्वा मां भक्तितः पुनः।
'प्राप्त्वा' गणाधिपत्यं त्वं नाम्ना भृङ्गिरिति स्मृतः॥

यह श्लोक निम्न पाठभेद के साथ भी मिलता है, यद्यपि शब्दकल्पद्रुमकार आदि ने उपर्युक्त पाठ ही ग्रहण किया है -

तत्राप्यकल्मषो भूत्वा स्तुत्वा मां भक्तितः पुनः।
ख्यातो गणाधिपो भूत्वा नाम्ना भृङ्गिरिटिः स्मृतः॥
(वामनपुराण)

अन्य पुराणेतर प्रमाण देखें -

अष्टमे शुभपापौ चेत् स्यातां तुल्यबलौ यदा।

सह भर्त्रा तदा मृत्युं 'प्राप्त्वा' स्वर्याति निश्चयात् ॥
(बृहत्पाराशरहोराशास्त्र, अध्याय ८० – (स्त्रीजातकाध्याय), श्लोक - ५५)

बौद्धों के ग्रन्थों में भी कुछ अभिनवप्रयोग देखें -

तत्र विच्छिन्नशेषांशं शालिस्तम्बं विलोक्य ताः ।
चैत्याकारं समालम्ब्य 'संस्मृत्वा' सुगतालयम् ॥
सदा प्रदक्षिणीकृत्य 'प्रणत्वा' च मुहुर्मुहुः ।
चैत्यानुस्मृतिमाधाय भ्रमित्वा सम्प्रभेजिरे ॥
(अहोरात्रव्रतचैत्यसेवानुशंसावदान, श्लोक – २१२-२१३)

स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में देखें -

स्वं वृषं तु 'परित्यक्त्वा' परेण तु वृषायते ।
वृषली सा तु विज्ञेया न शूद्री वृषली भवेत् ॥

स्कन्दपुराण के नागरखण्ड में तो वेदव्यास जी ने स्थान-स्थान पर उपसर्ग के साथ त्त्वा का प्रयोग किया है, कुछ उदाहरण देखें -

तस्मादेकं 'परित्यक्त्वा' शेषान्प्रार्थय दैत्यप ॥
ततः स सुचिरं ध्यात्वा प्रोवाच वृषभध्वजम् ।
स्त्रियमेकां 'परित्यक्त्वा' नान्येभ्यस्तु वधो मम ॥

और भी,

ततो देहं 'परित्यक्त्वा' स्वकान्तं वीक्ष्य तं मृतम् ।
तत्र तोये जगामाथ ब्रह्मलोकं पतिव्रता ॥

और भी,

तस्मात्त्वं गृहमागच्छ त्यक्त्वेर्ष्यां पर्वतात्मजे।
प्रशस्यां त्वां 'परित्यक्त्वा' नान्यास्ति हृदये मम॥

और भी,

कस्यासौ वाटिका तत्र कथं तप्तवती तपः।
कस्माद्गृहं 'परित्यक्त्वा' शुकोऽपि वनमाश्रितः॥

और भी,

हा हा पुत्र 'परित्यक्त्वा' मां च क्वासि विनिर्गतः।
अनावृत्तिकरं स्थानं किं स्नेहो नास्ति ते मयि॥

और भी,

सुभिक्षे चापि संप्राप्ते नान्यत्कर्म करोति सः।
ब्राह्मीं वृत्तिं 'परित्यक्त्वा' चौर्यकर्म समाचरत्॥

और भी,

ततो बाल्यं 'परित्यक्त्वा' वल्कलावृतगात्रिका।
तस्यर्षेः सर्वकृत्येषु साहाय्यं प्रकरोति च॥

और भी,

ततो रतिं 'परित्यक्त्वा' प्रीतिं च शरपीडितः। विजनं कञ्चिदासाद्य प्रसुप्तः स तरोरधः॥

कुछ अन्य पौराणिक प्रमाण देखें -

यास्याम्यहं 'परित्यक्त्वा' चात्मानं तपसा गिरिम्।
जीवन्त्या नास्ति मे कृत्यं धूर्त्तेन परिभूतया॥
(मत्स्यपुराण, अध्याय - १५५, श्लोक - ०९)

'विजित्वा' तु यथान्यायं ततो बन्धं समाचरेत्।
कट्यां बद्ध्वा ततः खड्गं वामपार्श्वावलम्बितम्॥
(अग्निपुराण, अध्याय - २५१, श्लोक – ०७)

वीणां त्रितन्त्रीं दुष्प्राप्यां वामस्कन्धे निधाय च।
शुद्धस्फटिकमालां च 'विधृत्वा' दक्षिणे करे॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड, अध्याय – १३, श्लोक - १९)

महाभारत के सभापर्व में दुर्योधन के मायामहल में भ्रमित होने के प्रकरण में देखें -

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च।
सम्बोध्य 'प्रहसित्वा' च इतो द्वारं नराधिप॥

विदुरनीति में देखें - 'अपकृत्वा' बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्।

कहने का अर्थ यह है कि 'उपासित्वा' में तो आपने अनर्गल अर्थ करके उपा को सीता सिद्ध कर दिया किन्तु जो मैंने वायु तथा लिंगपुराण में 'उपासित्वा' प्रयोग दिखाया, उसका आप क्या करेंगे ? जो अन्य ग्रन्थों में मैंने दो दर्जन से अधिक स्थानों पर उपसर्ग के साथ त्त्वा का प्रयोग दिखाया, उसका क्या करेंगे ? प्रमाण तो मेरे पास बहुत हैं किन्तु दो दर्जन प्रयोग-उदाहरण तो मूर्ख को भी समझाने हेतु पर्याप्त हैं। अब यहाँ आप कह सकते हैं कि अन्य वेदव्यास आदि व्याकरण के विरुद्ध प्रयोग कर सकते हैं किन्तु महर्षि वाल्मीकि नहीं। अतः इस पूर्वपक्ष को भी मैं ऐसे उदाहरणों से ध्वस्त करूँगा कि वे निरुत्तर हो जायेंगे। पाठकगण ध्यान दें -

१) श्रीरामभद्राचार्य कह चुके हैं कि उपसर्ग और त्त्वा का प्रयोग एक साथ नहीं हो सकता अतः उपासित्वा में 'उप' उपसर्ग नहीं, 'उपा' अर्थात् सीता जी हैं।
२) श्रीरामभद्राचार्य कह चुके हैं कि वि उपसर्ग और सृज् धातु का सम्मिलित अर्थ रचना करना होता है अतः वैदेह्याश्च विसर्जनम् का अर्थ उनका त्याग नहीं, उनमें मातृत्व का सृजन करना है।

अब मैं उपासित्वा का उदाहरण दूंगा तो ये कहेंगे कि यहाँ उपसर्ग है ही नहीं. 'उपा' शब्द

है। अतः मैं वि उपसर्गपूर्वक सृज् धातु के क्त्वा प्रत्यय के साथ त्यागात्मक अर्थ में प्रयुक्त महर्षिवाल्मीकिकृत प्रयोगों को उदाहरण में लिख रहा हूँ। इससे एक साथ यह भी सिद्ध हो जायेगा कि उन्होंने उपसर्ग के साथ क्त्वा का भी प्रयोग किया है, एवं यह भी सिद्ध होगा कि उन्होंने विसर्जन शब्द का अर्थ त्यागात्मक ग्रहण किया है, और मैं उत्तरकाण्ड से कोई उदाहरण दूंगा ही नहीं।

बालकाण्ड से उदाहरण -

अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम्। 'विसर्जयित्वा' तान्विप्रान्सचिवानिदमब्रवीत्॥

बालकाण्ड से ही दूसरा उदाहरण -

गतेषु तेषु विप्रेषु मन्त्रिणस्तान्नराधिपः। 'विसर्जयित्वा' स्वं वेश्म प्रविवेश महामतिः॥

अयोध्याकाण्ड से उदाहरण -

प्रतिषिद्ध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलङ्कृते।
'विसर्जयित्वा' स्वजनं रथं पौरास्तथा जनान्॥

किष्किन्धाकाण्ड से उदाहरण -

'विसर्जयित्वा' स हरीन्सहस्रान् कृतकर्मणः।
मेने कृतार्थमात्मानं राघवञ्च महाबलम्॥

युद्धकाण्ड से उदाहरण -

विभीषणवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
'विसर्जयित्वा' तान् सर्वान् प्रविवेश स्वकं गृहम्॥

अब ये स्वयम्भू जगद्गुरु कहेंगे कि हम केवल वेदों को प्रमाण मानते हैं तो राजवेश्मनि द्वारे 'विसर्जयित्वा' (अथर्वपरिशिष्ट – ४.५.१०) एवं मुष्टी वाचञ्च 'विसर्जयित्वा' (हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र - प्रश्न १०) आदि का भी उदाहरण देख लें। तन्त्रशास्त्र से प्रमाण चाहिए तो वो भी ग्रहण करें - 'विसर्जयित्वा' वागीशीं तत्त्वं तु तदनन्तरम् (मालिनीविजयोत्तरतन्त्र – ९.६९)। यदि कहेंगे कि शाक्तों और शैवों का नहीं, वैष्णवों का तन्त्र चाहिए तो भी प्रमाण लीजिए - 'विसर्जयित्वा' स्वहृदि कुम्भस्थे वा खगेश्वरे (परमेश्वरसंहिता - १७.४७१)। यदि कहेंगे कि वैष्णवों में भी हम पाञ्चरात्र वाला नहीं, वैखानस वाला तन्त्रप्रमाण ग्रहण

करेंगे क्योंकि श्रीरामानन्दसम्प्रदाय वैखानसीय है, तो वह भी ग्रहण करें - हुत्वाग्निं 'विसर्जयित्वा' द्वात्रिंशत्प्रस्थसम्पूर्णखण्डस्फुटितकालवर्जितं पक्वबिम्बफलाकारं कुम्भमादाय ...(काश्यपसंहिता, ज्ञानकाण्ड, अध्याय - २४ का प्रारम्भ)। आशा है, पांच उदाहरण पर्याप्त होंगे। इस प्रकार हठपूर्वक श्रीरामभद्राचार्य ने उपासित्वा का जो सर्वथा अनुचित अर्थ लगाया है, वह निरस्त होता है। वाल्मीकिजी केवल पाणिनि महाराज के व्याकरण में आबद्ध नहीं हैं। उनके समकालीन हनुमानजी ने ही नौ प्रकार के व्याकरण पढ़े हैं, तो पाणिनि से विरुद्ध होकर भी वाल्मीकि जी का ऐसा प्रयोग साधु है।

अब आपके 'कुशीलवौ' के भ्रम का निग्रह करते हैं। मैं इसका विपरीत खण्डन करता हूँ, अर्थात् आपने जो कहा उसका उत्तर अवरोह क्रम से देता हूँ।

वाल्मीकजनितैर्मन्त्रैः कुशः कुशमयः प्रिये।
जानकीहृदयानन्दश्चिरञ्जीवी न किं श्रुतः॥
(जयद्रथयामल महातन्त्र, प्रथम षट्क, सप्तम पटल, श्लोक – २४)

इसी बात को भगवान् वाल्मीकि उत्तरकाण्ड में स्पष्ट करते हैं -

यस्तयोः पूर्वजो जातः स कुशैर्मन्त्रसत्कृतैः।
निर्माजनीयस्तु तदा कुश इत्यस्य नाम तत्॥
यश्चावरो भवेत्ताभ्यां लवेन स समाहितः। निर्माजनीयो वृद्धाभिर्लव इत्येव नामतः॥

उन दोनों बालकों में जो पहले उत्पन्न हुआ है, उसे मन्त्र से संस्कृत कुशों के द्वारा मार्जन किया जाये एवं इस प्रकार उसका नाम कुश होगा। जो छोटा बालक है, उसे वृद्ध माताएं लव से मार्जित करें, उसका नाम लव होगा। मल्लिनाथ आदि ने रघुवंशम् की व्याख्या में लव का अर्थ गाय की पूंछ से लिया है। यही कारण है कि कुश नामक बालक का संस्कार कुशों से होने के कारण उसे कुशी (न्) भी कह सकते हैं - कुशाः सन्त्यस्य संस्कारे कुशी।

अब आपके दूसरे आक्षेप का निवारण करते हैं जिसमें आपने कहा कि ये जो रामायणगायक 'कुशीलव' हैं ये श्रीसीताराम के पुत्र नहीं हैं। भगवान् वाल्मीकिजी उत्तरकाण्ड के सर्ग ९३ में ही स्पष्ट करते हैं -

सन्दिष्टौ मुनिना तेन तावुभौ मैथिलीसुतौ।
तथैव करवावेति निर्जग्मतुररिन्दमौ॥
शुश्राव तत्ताललयोपपन्नं सर्गान्वितं स स्वरशब्दयुक्तम् ।
तन्त्रीलयव्यञ्जनयोगयुक्तं कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम्॥
तस्मिन्गीते तु विज्ञाय सीतापुत्रौ कुशीलवौ।
तस्याः परिषदो मध्ये रामो वचनमब्रवीत्॥

आपको ऊपर के श्लोकों में मैथिलीसुतौ, कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम्, सीतापुत्रौ कुशीलवौ आदि शब्द मिलेंगे जिससे स्पष्ट है कि रामायण का गान करने वाले कुश-लव (कुशीलव) सीतारामपुत्र ही हैं। अब आप कहेंगे कि सारा झगड़ा तो उत्तरकाण्ड की प्रामाणिकता का ही है तो मैं आपको ऐसा प्रमाण दूँगा जिसमें वर्णन है कि 'लोकापवाद के भय से श्रीरामजी ने सीताजी का त्याग किया और सीताजी ने वाल्मीकिजी के आश्रम में कुश और लव (समस्तपद में श्लोकोक्त कुशीलव) को जन्म दिया और उन्होंने फिर रामायण का गान किया।

लोकापवादात्सन्त्रस्तः सीतां तत्याज धर्मवित्।
सा तु संप्राप्य वाल्मीकेराश्रमं न्यवसत्सुखम्॥
पुत्रौ च सुषुवे तत्र नाम्ना ख्यातौ कुशीलवौ।
वल्मीकिस्तु तयोः कृत्वा यथा समुदिताः क्रियाः॥
रामायणं विरच्यैतावध्यापयदुदारधीः। तौ गायमानौ सत्रेषु मुनीनां ख्यातिमागतौ॥
यज्ञे रामस्य संप्राप्तौ वाजिमेधे प्रवर्तिते। तत्र ताभ्यां तु तद्गीतं स्वचरित्रं प्रसन्नधीः॥

(नारदपुराण, उत्तरार्ध, अध्याय – ७५)

स्वयं श्रीनारायण यह कहते हैं -

न ज्ञातौ स्वसुतौ तेन रामेण च कुशीलवौ।
मुनिना कथितौ तौ तु तस्य पुत्रौ महाबलौ॥ १९ ॥
(श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, स्कन्ध – ०४, अध्याय – २५, श्लोक - १९)

अभिषिच्याथ काकुत्स्थः स्वात्मजौ च कुशीलवौ।
विभज्य रथनागाश्वं सधनं प्रददौ तयोः॥
कुशवत्यां कुशं तं च शरवत्यां लवं तथा। स्थापयामास धर्मेण राज्ये स्वे रघुसत्तमः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय – २४४)

इन दोनों प्रमाणों में श्रीरामजी के अपने पुत्रों के लिए, कुश और लव के लिए कुशीलवौ शब्द आया है। आधुनिक विद्वानों में अग्रणी धारापति भोजराज भी ऐसा प्रयोग इसी सन्दर्भ में करते हैं -

उपागतौ मिलितपरस्परोपमौ बहुश्रुतौ श्रुतिमधुरस्वरान्वितौ।
विचक्षणौ विविधनरेन्द्रलक्षणौ कुशीलवौ कुशलवनामधारिणौ॥
(चम्पूरामायण, बालकाण्ड - ०९)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रामायणगायक श्रीसीतापुत्र कुश और लव का सम्मिलित नाम ही कुशीलव था, वे कोई गन्धर्व या ब्राह्मणपुत्र नहीं थे। अब आपका अगला आक्षेप कि क्षत्रिय का कार्य तो युद्ध करना है, गायन नहीं। तो इन्हीं लव-कुश ने समय आने पर अश्वमेध का घोडा पकड़ कर युद्ध भी किया है। प्रमाण देखें -

इत्युक्त्वा त्वरितं वीरो जग्मतुस्तौ कुशीलवौ।
राज्ञो मौलिमणिं चित्रं जग्राह कनकाचितम्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय – ६४)

यहाँ पर कुशीलवौ शब्द भी आया है, वीरौ शब्द भी आया है और उनके द्वारा रामजी के अश्वमेध का घोडा बाँधने का वर्णन भी है। यदि आपकी कही बात के अनुसार कुशीलव का अर्थ इस प्रसंग में गायक या गन्धर्वपुत्र ले लेंगे तो वीरौ कहकर उनसे रामजी का घोडा बंधवाने का वर्णन वेदव्यासजी क्यों करते ? जैसे ब्राह्मण होकर भी द्रोणाचार्य और कृपाचार्य युद्ध लड़ते थे और क्षत्रियकुल के होकर भी भीष्मपितामह ने समयोचित धर्मोपदेश किया है, वैसे ही लवकुश ने भी समयानुसार गायन और युद्ध दोनों किया है। अब आपका अगला आक्षेप यह है कि यदि वे कुशीलव, ब्राह्मण गायक न होकर श्रीरामपुत्र ही थे तो वाल्मीकिजी ने 'राजपुत्रौ' क्यों लिखा ? 'रामपुत्रौ' ही लिखना था न। तो बन्धु ! अगर वाल्मीकिजी को थोडा सा भी अनुमान होता कि भविष्य में कोई अज्ञानी स्वयं को विद्वानों के समान प्रदर्शित करता हुआ ऐसा कुतर्क करेगा तो वे अवश्य ऐसा करते। किन्तु क्या करें। उन्होंने तो स्वयं श्रीराम और लक्ष्मणजी के लिए भी सम्मिलितरूप से 'राजपुत्रौ' शब्द का ही बहुतायत से प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण हेतु विश्वामित्र की यज्ञरक्षा का प्रसंग देखें -

तौ तु तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ। अनिद्रं षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम्॥
(वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, सर्ग – ३०, श्लोक – ०५)

रावण की सभा में हनुमानजी को लाये जाने पर विभीषण जी के उद्गार-प्रसंग में देखें -

तदेकदेशेन बलस्य तावत् केचित्तवादेशकृतोऽभियान्तु।
तौ राजपुत्रौ विनिगृह्य मूढौ परेषु ते भावयितुं प्रभावम्॥
(वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग – ५२, श्लोक – २७)

हनुमानजी के वापस लौटने पर देखें -

तौ जाताश्वासौ राजपुत्रौ विदित्वा तच्चाभिज्ञानं राघवाय प्रदाय।

देव्या चाख्यातं सर्वमेवानुपूर्व्याद्वाचा सम्पूर्णं वायुपुत्रः शशंस ॥
(वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग – ६५, श्लोक – २८)

आपने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ११२ में उच्चस्तरीय मूर्खता का ढोल पीटते, क्षमा करें, ढोल फाड़ते हुए लिखा - "यहाँ राजपुत्रौ शब्द से राजपुत्र की कल्पना नहीं की जा सकती। यक्ष एवं गन्धर्वों को भी राजा कहा जाता है, इसलिए यक्षगन्धर्वों के राजा कुबेर को राजराज या राजाधिराज कहकर वेद में सम्बोधित किया गया है।

राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे। ऋग्वेद
“राज्ञां यक्षगन्धर्वाणां अधिराजः इति राजाधिराजः" ठीक उसी प्रकार “राज्ञः गायक वृत्तैः गंधर्वस्य वर्णतो ब्राह्मणस्य पुत्रौ इति राजपुत्रौ” याने ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए गायक वृत्ति वाले गन्धर्व को राजा कहते हैं। उसके ये दोनों पुत्र हैं।"

तो महोदय ! आपके ही इस अ(न)र्थ के अनुसार क्या यह समझा जाए कि जब वाल्मीकि जी ने श्रीरामलक्ष्मण हेतु 'राजपुत्रौ' शब्द का प्रयोग किया तो उसके पीछे चित्रकूटीय रहस्य यह था कि दशरथजी ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए गायक वृत्ति वाले गन्धर्व थे इसीलिए उनको राजा कहते हैं और राम-लक्ष्मण को 'राजपुत्रौ' कहा गया ? ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए गायक वृत्ति वाले गन्धर्व को राजा कहते हैं ? मतलब कुछ भी ? आपको थोड़ा सा भी लगता है कि क्या बोल रहे हैं, क्या लिख रहे हैं ? क्यों अपने गुरुजनों का माथा झुकाते फिरते हैं आप ?

अब क्या चाहिए आपको ? राजपुत्रौ के स्थान पर रामपुत्रौ न। उसके बाद तो आप मानेंगे ? (क्या ख़ाक मानेंगे, इनके पास और कोई कुतर्क तैयार ही होगा) और रामपुत्रौ के साथ कुशीलवौ भी मिल जाये फिर तो विषय पूर्णतः स्पष्ट हो जायेगा। जब इतनी अधर्मपरक व्याख्या और लेखन करने के बाद भी आप 'धर्मचक्रवर्ती' कहा सकते हैं तो असंदिग्ध प्रमाणों की मार से धुँवा धुँवा कर देने वाला मैं 'प्रमाण-चक्रवर्ती' तो बन ही सकता हूँ। वाल्मीकिजी ने तो रामपुत्रौ तो नहीं लिखा किन्तु मुझे लगता है कि जब वेदव्यासजी भविष्यपुराण लिख रहे होंगे तो उन्होंने देखा कि जिस श्रीसम्प्रदाय के वे सप्तमाचार्य हैं

उसमें एक 'मुण्डी कुण्डी त्रिदण्डधृक्' घुसपैठिया अर्थ का अनर्थ करेगा, इसीलिए उन्होंने एक साथ 'रामपुत्रौ' एवं 'कुशीलवौ' दोनों लिखा। हम देते हैं प्रमाण -

सर्वत्रान्यत्र राजेंद्र रामपुत्रौ कुशीलवौ। गीयते अत्र संकोचः किं कृतो विदुषि त्वयि॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय- ६६)

एक और प्रमाण ले ही लीजिये -

बभूवतू रामपुत्रौ धार्मिकौ च कुशीलवौ। तयोश्च पुत्रैः पौत्रैश्च सूर्यवंशोद्भवा नृपाः॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अध्याय - ६२)

इस प्रकार कुशीलवौ जो हैं, वे सीतापुत्रौ, राजपुत्रौ और रामपुत्रौ सब स्पष्ट शास्त्रवाक्य से सिद्ध हो जाते हैं। अब आपने 'राजाधिराजाय' और 'महाराजाय' आदि शब्द से कुबेर जी के आश्रय के द्वारा यक्ष-गन्धर्व को राजा सिद्ध करके राजपुत्रौ शब्द का विपरीत गर्भाधान किया है, उस हिसाब से यदि कुतर्क ही करने पर आयें तो मैं तो आपसे भी एक कदम आगे जा कर कह दूंगा कि श्रीरामजी ने महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की ओर से युद्ध किया था। चिन्ता न करें, आपकी ही शैली से सिद्ध करता हूँ। आपने मूलरामायण के अन्तर्गत श्रीराम जी के गुणों में 'महेष्वासो' शब्द का वर्णन किया। श्रीमद्भगवद्गीता के पहले अध्याय के चौथे श्लोक में पाण्डवों के पक्षधर वीरों के अन्तर्गत 'अत्र शूरा महेष्वासाः' शब्द आया। बाकी वीर मनुष्य हैं अतः उनके निमित्त एकवचन आया किन्तु भगवान् के निमित्त 'आदरार्थे बहुवचनम्' से महेष्वासाः शब्द आया एवं सम्मानहेतु सबसे पहले उनका ही 'व्यंजनावृत्ति' से नाम लिया गया। तो जिस प्रकार से 'राजाधिराजाय' और 'महाराजाय' आदि शब्द से सीतापुत्र कुश और लव (कुशीलवौ) को श्रीरामभद्राचार्य ने गन्धर्वपुत्र सिद्ध कर दिया उसी प्रकार से महेष्वासाः शब्द से कुतर्कबुद्ध्या मैंने भी सिद्ध कर दिया कि श्रीरामजी महाभारत में पाण्डवों की ओर से लडे थे।

अब मूल विषय पर लौटते हैं। उसके अन्तर्गत निम्न बिन्दु ध्यातव्य हैं - भारद्वाजगृह्यसूत्र में कहते हैं - कुबेराय स्वाहा महाराजाय स्वाहा वैश्रवणाय स्वाहेति राजानं महयित्वाथेन्द्रं

देवानां महयति। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में भी कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः आदि मन्त्र हैं। मन्त्र एवं अर्थ में कोई समस्या नहीं है किन्तु क्या कुबेर के निमित्त ही महाराज शब्द आया है ? यदि श्रीरामभद्राचार्य को ब्राह्मणपुत्र ही सिद्ध करना था तो चन्द्रमा का उदाहरण लेते, वेद कहते भी हैं - सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। मैत्रायणीसंहिता के द्वितीय काण्ड, प्रपाठक – ०९ में चन्द्रमा के निमित्त महाराज शब्द भी आया है और वे ब्राह्मणों के राजा भी हैं - (तत्) सोमराजाय विद्महे महाराजाय धीमहि। तन्नश्चन्द्रः प्रचोदयात्॥ तो यक्ष और गन्धर्व का भेद तक न जानने वाले श्रीरामभद्राचार्य घुमाफिराकर यक्षराज कुबेर को गन्धर्वराज सिद्ध करके फिर ब्राह्मणकुल में उत्पन्न गन्धर्व को राजा कहते हैं, ऐसा प्रलाप करते हुए राजपुत्र का अर्थ गन्धर्वपुत्र करने के बाद फिर उसे ब्राह्मण सिद्ध करने के स्थान पर सीधे सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा एवं सोमराजाय विद्महे महाराजाय धीमहि के द्वारा महाराज और ब्राह्मण शब्द से कुशीलवौ को ब्राह्मणपुत्र सिद्ध कर सकते थे। किन्तु इन्होंने अपने ज्ञान का जो स्तर दिखाया है, उससे सिद्ध होता है कि तर्क तो छोडो, ये स्वयम्भू जगद्गुरु तो ढंग से कुतर्क करने के योग्य भी नहीं हैं।

लिङ्गपुराण, उत्तरभाग – अध्याय - ४८ में कुबेर गायत्री के अन्तर्गत - यक्षेश्वराय विद्महे गदाहस्ताय धीमहि। तन्नो यक्षः प्रचोदयात्॥ ऐसा वर्णन है। श्रीनगर के राजकीय शोध पुस्तकालय की पाण्डुलिपि संख्या ७८१ में वर्णित काश्मीरी अग्निकार्यपद्धति में तन्नो यक्षः के स्थान पर तन्नः कुबेरः, ऐसा पाठभेद है। पहली बात तो यह कि कुबेर जी यक्ष-राक्षसों के राजा हैं - वित्तेशो यक्षरक्षसाम् (गीता), गन्धर्वों के नहीं। कूर्मपुराण के अनुसार चन्द्रमा को किसी मत से एक साथ यक्ष एवं गन्धर्वों के देवत्व का अधिपति बताया गया है किन्तु गन्धर्वों के नायक तुम्बुरु आदि हैं और उनके राजा विश्वावसु अथवा मतान्तर से चित्ररथ हैं - गन्धर्वाणां चित्ररथः (गीता एवं अनेक पुराण), विश्वावसवे गन्धर्वराजाय स्वाहेति (काठकगृह्यसूत्र) एवं विश्वावसुरिति ख्यातो गन्धर्वाणां महेश्वरः (ब्रह्मपुराण)।

यक्ष एवं गन्धर्व उपदेवों की अलग ही योनि है जो मनुष्यों से विलक्षण हैं फिर भी ब्राह्मणकुल में उत्पन्न गन्धर्व को राजा कहते हैं, ऐसा उन्मत्त प्रलाप करने के बाद आपका दावा है कि आप प्रामाणिक जगद्गुरु हैं। क्या केवल कुबेर जी के निमित्त ही राजाधिराज

शब्द आया है ? यदि इसी शब्द से आपको राजपुत्र का अर्थ लगाना था तो शिवजी में क्या कांटे लगे हुए थे ? वैसे भी शिवजी का स्थान तो कुबेरजी से ऊपर ही है। भगवान् विष्णु देवाधिदेव महादेव की स्तुति करते हुए कहते हैं -

नमो राजाधिराजाय राज्ञामधिगताय ते।
(लिङ्गपुराण, पूर्वभाग, अध्याय – १८, श्लोक - ३५)

कोई बात नहीं। अब मैं राजाधिराज और महाराज, इन्हीं दो शब्दों के आश्रय से 'राजपुत्रौ' को स्पष्ट शास्त्रवाक्य से 'रामपुत्रौ' सिद्ध करूँगा। राजाधिराज शब्द से कुबेर का अर्थ लगाने वाले श्रीरामभद्राचार्य ने राजाधिराज का अर्थ विष्णु क्यों नहीं लगाया ? स्कन्दपुराण के वैष्णवखण्डोक्त वासुदेवमाहात्म्य के अध्याय – १५, श्लोक - २१ में साध्यगण भगवान् विष्णु की स्तुति करते हैं -

शास्ता नृपाणां च महोरगाणां दैत्याधिपानां च सुराधिपानाम्।
त्वं वै मनूनां च प्रजापतीनां 'राजाधिराजाय' नमोऽस्तु तुभ्यम्॥

अठारहों पुराण मेरे कंठ में हैं, ऐसा दावा करने वाले श्रीरामभद्राचार्य को यह क्यों नहीं सूझा कि राजाधिराजाय शब्द से कुबेर का नहीं, विष्णु का भी अर्थ लग सकता है ? और राजाधिराज विष्णु के अवतार श्रीराम जी के पुत्र होने से ही वाल्मीकि जी ने रामपुत्रौ को राजपुत्रौ लिखा ? यद्यपि यहाँ विषय को इतना घुमाने की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु यदि आपको राजपुत्रौ की व्याख्या राजाधिराज और महाराज शब्द से करके ही अपनी विद्वत्ता दिखानी है तो बिना अनर्थ किये भी तो राजाधिराज का अर्थ विष्णुपरक ले सकते हैं न।

चलिए, हो सकता है कि एक तो स्कन्दपुराण सबसे बड़ा पुराण है और दूसरे, समाज में उसका इतना व्यावहारिक प्रचार नहीं है, अतः आप भूल गये तो जिस श्रीमद्भागवत के नाम पर आप आजतक धन कमाते रहे, उसे ही देख लेते। राजाधिराज और महाराज शब्द

का अर्थ कुबेर करके श्रीरामभद्राचार्य ने जो दुष्कृत्य किया है, उसका मार्जन तो मैं राजाधिराज का अर्थ विष्णु सिद्ध करके कर चुका हूँ। अब 'महाराज' शब्द का सीधा अर्थ श्रीराम है एवं इसीलिए राजपुत्रौ वस्तुतः रामपुत्रौ ही हैं, यह मैं सिद्ध करूंगा, सम्भालें मेरा ब्रह्मास्त्र - श्रीमद्भागवत महापुराण के पञ्चम स्कन्ध, अध्याय – १९ में स्वयं श्रीहनुमानजी महाराज भगवान् श्रीरामचन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं -

नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासित लोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय 'महाराजाय' नम इति।

यदि श्रीरामभद्राचार्य वास्तव में धर्मनिष्ठ और शास्त्रनिष्ठ विद्वान् होते तो महाराज शब्द से सीधे रामार्थग्रहण करके राजपुत्रौ को रामपुत्रौ सिद्ध कर सकते थे किन्तु नेतृनिष्ठ बनकर इन्होंने व्याकरण का, अपने गुरु और इष्ट का जो अपराध किया है, यह अक्षम्य पातक है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का "नवीन" कुतर्क

सत्य तो यह है कि बालकाण्ड में भी द्वितीय सर्ग से चतुर्थ सर्ग पर्यन्त अंश महर्षि वाल्मीकि कृत नहीं है, क्योंकि कोई भी साहित्य का रचयिता अपने ही मुख से अपने को भगवान् आदि आदरणीय विशेषण नहीं दे सकता। जैसे प्रथम सर्ग में प्रश्न करते हुए महर्षि ने केवल अपने लिए तपस्वी लिखा है -

तपः स्वाधाय निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्। नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥
(वा ० रा ० १/१/१)

भला जो प्रथम सर्ग में अपने को केवल तपस्वी विशेषण देता है , वह बाद के पुनः सर्गों में स्वयं को भगवान् महर्षि भावितात्मा आदि विशेषणों से कैसे सम्बोधित करेगा ? यथा
(१) वाल्मीकेन महात्मना (वा ० रा ० १/२/७)

(२) ददर्श भगवांस्तत्र (वा ० रा ० १/२/९)
(३) वाल्मीकिर्भगवानृषिः (वा ० रा ० १/३/३९)
(४) महर्षेर्भावितात्मनः (वा ० रा ० १/४/४)

अतः दो से लेकर चार सर्ग तक पीछे से वाल्मीकि के किसी शिष्य ने या किसी श्रद्धालु भक्त ने उनका उत्कर्ष बढ़ाने के लिए जोड़ दिया। यदि इन तीन सर्गों को हटा दिया जाय तो भी कथा के प्रवाह में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, बल्कि इन तीन सर्गों के रहने पर सीतानिर्वासन, उत्तरकाण्ड की प्रामाणिकता आदि सारहीन और अप्रामाणिक तथ्य ही सामने आएँगे। चौथे सर्ग में जो रामायण के सर्गों की संख्या लिखी है, उसके औचित्य की भी एक समस्या खड़ी होगी, क्योंकि वहाँ सम्पूर्ण रामायण की सर्ग संख्या मात्र पाँच सौ लिखी है, यथा -

"तथा सर्गशतान्पञ्च" (वा ० रा ० १/४/२)

जबकि युद्ध तक सर्ग संख्या पाँच सौ से ऊपर जा रही है, यथा बा० ७७, अयोध्या ० ११९, अरण्य ७५, कि ० ६७, सुन्दर ६८, यु ० १२८ कुल ५३४ योग, इसलिए विषय विरोध की दृष्टि से भी इन तीन सर्गों का मानना ही उचित है। इसी कारण से वाल्मीकिरामायण के सबसे प्राचीन टीकाकार गोविन्दराज ने भी यही कहा कि द्वितीय सर्ग से चतुर्थ सर्ग पर्यन्त कथा वाल्मीकि का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए उन्हीं के किसी शिष्य ने बाद में जोड़ दी। वस्तुतः मूल रामायण के पश्चात् पाँचवें सर्ग को ही द्वितीय सर्ग के रूप में होना चाहिए। यदि कहें कि बालकाण्ड के पंचम सर्ग के चतुर्थ श्लोक में भी “तदिदं वर्तयिष्यावः" अर्थात् अब हम दोनों उस प्रसिद्ध रामायण का गान प्रस्तुत करेंगे (हम दोनों अर्थात् लव, कुश) इस प्रकार द्विवचनान्त प्रयोग देखकर लवकुश के रामायण गायक होने का प्रमाण मिलता है। इसका समाधान यह है कि प्राचीन पुस्तकों में “वर्तयिष्यावः" के स्थान पर “वर्तयिष्यामि” यह एकवचनान्त पाठ स्वीकारा गया है, और इसी के अनुरूप भूषणटीका भी है -

ब्रह्मप्रसादादेवोत्पन्नत्वे तव किं कृत्यं तत्राहतदिति।

तद्ब्रह्मप्रसादोत्पन्नमिदं रामायणं वर्तयिष्यामि प्रवर्तयिष्यामि ॥

वाल्मीकि कहते हैं मैं ही इसका प्रवर्तन करूंगा। इस प्रकार तीनों सर्गों को प्रक्षिप्त मान लेने पर सम्पूर्ण दुस्तकों को भूमिसात किया जा सकता है। इसके समर्थन में भूषणटीका की उद्धृत पंक्तियाँ देखिये यथा -

"नन्वात्मप्रशंसापरमिदं सर्वत्रयं कथमृषिः स्वयमेव वक्तुमर्हतीति चेन्न अन्यापरिज्ञातस्यैतस्य वृत्तान्तस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्यर्थमादायावश्यं वक्तव्यत्वात्। यद्वा सर्गत्रयमिदं केनचित् वाल्मीकि शिष्येण निर्वृत्यनन्तरं निर्माय वैभवप्रकटनाय सङ्गमितं यथा याज्ञवल्क्यस्मृत्यादौ तथैवतत्र विज्ञानेश्वरेण व्याकृतम्।"

(वा ० रा ० १/५/१ गो ० टीका)

इन पंक्तियों का भाव पहले ही कहा जा चुका है। अतः स्पष्ट है कि वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड के तृतीय सर्ग में लिखी हुई विषयानुक्रमणिका अप्रामाणिक है, अतएव इसी अनुक्रमणिका में आया हुआ "वैदेह्याश्च विसर्जनम्" सीता का निर्वासन प्रसङ्ग भी अप्रामाणिक है क्योंकि इन तीनों सर्गों का प्रक्षिप्तत्व पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है।

सौभाग्य से परम प्रामाणिक नारद द्वारा भाषित मूलरामायण की अनुक्रमणिका में सीताजी के निर्वासन की कोई चर्चा नहीं है। मूलरामायण में तो श्रीरामराज्य में कृतयुग के अवतरण का वर्णन है। नित्यप्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा (वा ० रा ० बा ० १।१।९४) गोस्वामीजी भी कहते हैं -

ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी ॥

(मानस ७ / २३/६)

भला जहाँ कृतयुग (सतयुग) का वातावरण हो वहाँ कलियुगी लोगों के लिए भी निन्दास्पद सीतानिर्वासन जैसी कल्पनाओं का जन्म हो सकता है ? यदि कहें कि विश्वामित्रयज्ञरक्षण,

अहल्योद्धरण आदि बालकाण्ड के बहुतेरे प्रसङ्ग जैसे मूलरामायण की सूची में न होने पर भी योग दृष्टि से देखकर वाल्मीकि के द्वारा लिख दिये गए, उसी प्रकार सीता- निर्वासन प्रसङ्ग भी मूलरामायण की विषय सूची में न होता हुआ भी वाल्मीकि द्वारा योग दृष्टि से अनुभव करके लिखा गया, पर यह कहना भी ठीक नहीं है , क्योंकि वाल्मीकिरामायण में उत्तरकाण्डीय सीता - निर्वासनादि प्रसङ्गों के अतिरिक्त कोई ऐसा प्रसङ्ग नहीं है, जिसका संकेत मूलरामायण में न हो जैसे "इक्ष्वाकुवंशप्रभवः" से जन्म, "जनैः श्रुतः" से अहल्योद्धरण , “महीवीर्यः" से शिव धनुर्भङ्ग , “विपुलांशो महाबाहुः" से राक्षससंहार , 'धर्मस्य परिरक्षिता' से यज्ञरक्षा, 'अदीनात्मा' से परशुराम पराजय , ' जनकस्य कुले जाता' से सीताजी का वंश परिचय आदि समस्त प्रसङ्ग सूत्ररूप से कह दिये गये हैं। "विष्णुना सदृशो वीर्ये" से विश्वामित्र यज्ञरक्षा और राक्षसवध, "सोमवत्प्रियदर्शनः" से शिवधनुर्भङ्ग, "कालाग्नि सदृशः क्रोधे" से परशुरामजी के समक्ष श्रीराम के क्रोध का अभिनय , "क्षमया पृथिवी समः" से परशुराम जी के समक्ष श्रीरामजी की क्षमा, ये सब संकेत हैं पर सीतानिर्वासन का कहीं संकेत नहीं मिलता।

" जगदंबा संततमनिंदिता" अर्थात् जगज्जननी सीता सदैव अनिन्दिता हैं, उनकी कभी किसी ने निन्दा नहीं की। इसी से सीतावनवास की घटना निरस्त कर दी गई। यहाँ क्षेपक डालने वालों की नहीं चली, क्योंकि यह प्रबन्धकाव्य ही इतना सघन लिखा गया है कि यहाँ सामान्य प्रतिभा की दाल गलाए नहीं गलती, तब उन्होंने प्रथम सोपान के वन्दना प्रकरण दोहा क्रमाङ्क सोलह की तृतीय पंक्ति में दो अक्षर की मूर्खता कर दी, अयोध्यावासियों की वन्दना का प्रकरण चल रहा है -

प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन पर प्रभुहिं न थोरी॥
मानस १/१६ / २)

अर्थात् अब मैं श्रीअवध के पुर नर - नारियों को प्रणाम कर रहा हूँ, जिन पर प्रभु श्रीराम को बहुत ममता है, इसके अनन्तर पंक्ति है -

तिय निन्दक अघ ओघ नसाए। लोक बिशोक बनाइ बसाए॥
(मानस १/१६/३)

अवधवासियों पर ममता का क्या प्रमाण है ? इस अपेक्षा पर कहते हैं, प्रभु उन पर इतनी ममता रखते हैं कि अवध - निवासी होने के कारण अपनी निन्दा करने वाली मन्थरा के भी पाप समूहों को नष्ट कर दिया, उसे वनवास से लौटने के पश्चात् सम्मान देकर इस लोक में शोक रहित किया और दिव्य सान्तनिक लोक में निवास दिया। इसी पंक्ति में विधर्मियों ने 'तिय' शब्द को काटकर 'सिय' शब्द जोड़ दिया, अतः अब सब प्रतियों में यही पाठ हो गया कि -

सिय निंदक अघ ओघ नसाए। लोक बिशोक बनाई बसाए॥

इसी एक 'सिय निंदक' शब्द को आधार मानकर लोगों ने तुलसी साहित्य द्वारा भी सीतानिर्वासन को प्रमाणित करना प्रारम्भ किया, पर भगवान् के सामने किसी की नहीं चलती। सप्तम सोपान में प्रयुक्त “जगदंबा संततमनिंदिता" पंक्ति ही प्रथम सोपान में आए हुए “सिय निंदक" शब्द को क्षेपक सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। कोई भी महाकवि अपने महाकाव्य में पूर्वापर विरोध को कभी स्थान नहीं देता। सप्तम सोपान में जो गोस्वामीजी श्रीसीताजी को "संततमनिंदिता" कह रहे हैं वे ही प्रथम सोपान में "सिय निंदक" शब्द से सीताजी की निन्दा का समर्थन कैसे करेंगे ? इसलिये "संततमनिंदिता" की निन्दा सम्भव नहीं। अतः “सिय निंदक अघ ओघ नसाए" के स्थान पर "तिय निंदक अघ ओघ नसाए" पाठ को ही प्रामाणिक मानना चाहिये।

कदाचित् कोई यह शङ्का उठाये कि सप्तम सोपान की "जगदंबा संततमनिंदिता" इस पंक्ति को ही प्रक्षिप्त मान लिया जाय और प्रथम सोपान की "सियनिंदक अघ ओघ नसाए" पंक्ति को ही प्रामाणिक माना जाय, क्योंकि प्रथम रचना इसी की हुई है ? इस शङ्का का उत्तर यह है कि यदि सीतावनवास प्रामाणिक रहा होता तो सप्तम सोपान में लव - कुश जन्म के पहले ही सीतावनवास की अवश्य चर्चा होती।

अब हम उत्तरकाण्ड के २४ वें दोहे पर एक सिंहावलोकन प्रस्तुत कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं -

कोटिन बाजिमेध प्रभु कीन्हें। दान अनेक द्विजन कहँ दीन्हें॥
(मानस ७/२४/१)

अर्थात् श्रीरामजी ने करोड़ों अश्वमेध यज्ञ किये और ब्राह्मणों को अनेक दान दिये। यहाँ जिज्ञासा हुई - क्या अश्वमेध यज्ञों के समय सीताजी श्रीराम के साथ थीं ? इस प्रश्न के उत्तर में गोस्वामी तुलसीदासजी ने दो चौपाइयाँ पढ़ीं -

श्रुतिपथपालक धर्म धुरन्धर। गुनातीत अरु भोग पुरन्दर॥
(मा ० ७/२४/१)

श्रीराम वेदपथ के पालक हैं , धर्म धुरन्धर हैं, तीनों गुणों से अतीत हैं और भोग में इन्द्र के समान हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीराम श्रुतिपथपालक होने के कारण और धर्म की धुरी को धारण करने के कारण सीताजी के बिना अश्वमेध यज्ञ कर ही नहीं सकते। यदि कहें कि सीताजी की स्वर्णप्रतिमा को प्रतिनिधि बनाकर श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ किये होंगे ? तो उसके उत्तर में गोस्वामी जी कहते हैं कि 'धर्मधुरन्धर' अर्थात् धर्मशास्त्र के अनुसार स्वर्णप्रतिमा किसी की प्रतिनिधि नहीं बन सकती। उसमें देवत्व आ जाता है और जीवित व्यक्ति की किसी प्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा नहीं की जा सकती है। यदि यह कहें कि लोकापवाद के डर से श्रीराम ने सीताजी का त्याग किया होगा ? तब गोस्वामीजी कहते हैं- गुणातीत श्रीराम तीनों गुणों से परे हैं, तो वे मान और अपमान की चिन्ता क्यों करेंगे ? वे भोग में इन्द्र के समान हैं। जैसे इन्द्र से शची का अलगाव नहीं होता उसी प्रकार सीताजी का अलगाव नहीं होगा।

इस प्रकार मानस की दृष्टि से सीतानिर्वासन निर्मूल सिद्ध हो गया। अब तुलसी ग्रन्थावली पर विचार करते हैं। मानस के पश्चात् गोस्वामीजी का सबसे प्रामाणिक गन्थ है विनय

पत्रिका, उसमें दो स्थानों पर सीता-निर्वासन का संकेत प्रतीत होता है। विनय पत्रिका १५२ में -

बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको।
सो पामर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि मन थाको ॥१० ॥

इस पंक्ति से कथञ्चित् सीताजी के निन्दक का अर्थ लगाया जा सकता है, पर विचार करने से यह पंक्ति प्रक्षिप्त लगती है क्योंकि श्रीगोस्वामीजी के सभी ग्रन्थों के उपजीव्य ग्रन्थ श्रीरामचरितमानस में सीतावनवास की चर्चा नहीं है। इसमें सबसे बड़ा प्रमाण है, भुशुण्डिजी के द्वारा गाया हुआ सप्तम सोपान दोहा क्रमाङ्क ७ से दोहा ६८ ' क ' पर्यन्त मूलमानस है। इसमें भुशुण्डिजी ने गरुड़जी को श्रीरामचरित्र के चौरासी प्रसङ्ग सुनाए हैं और ये ही चौरासी प्रसङ्ग सातों काण्डों में विस्तार से वर्णित हुए, जिसमें इक्यासी प्रसङ्ग पूर्व के छः सोपानों में कहे गए हैं। सप्तम सोपान में केवल तीन प्रसङ्ग हैं, ८२वाँ प्रसङ्ग राम का अयोध्या आगमन, ८३वाँ श्रीरामराज्याभिषेक और ८४वाँ राजनीति वर्णन प्रसङ्ग है, इसमें सीताजी के वनवास का नाम निशान भी नहीं है, यथा -

जेहि बिधि राम नगर निज आए। बायस बिशद चरित सब गाए॥
कहेसि बहोरि राम अभिषेका। पुर बरनत नृपनीति अनेका॥
कथा समस्त भुशुण्डि बखानी। जो मैं तुम सन कही भवानी॥
(मानस ७/६८ / ५, ६, ७)

इस प्रकार उपजीव्य ग्रन्थ मानस में जिस घटना का वर्णन नहीं आया है वह यदि अन्य ग्रन्थों में मिलता भी हो तो उसे प्रक्षिप्त ही माना जायेगा अथवा यहाँ भूल से इकार के स्थान पर 'ओ' कार हो गया है अर्थात् "बालिसबासी अवध की बूझिये न खाको" सो पामर पहुँची तहाँ, इस प्रकार 'ओ' कार के स्थान पर 'इ' कार मान लेने से मन्थरापरक अर्थ हो जायेगा। इसी प्रकार विनय पत्रिका से १६५ वें छन्द में भी -

तिय निंदक मति मंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई ॥४ ॥

इस पंक्ति में सीताजी के निन्दा की प्रतीति तो हो रही है किन्तु गोस्वामीजी की काव्यकला के अनुसार अवरेवान्वय करने से समाधान बन जायेगा। इसका अन्वय होगा -

निंदक, रज मति मंद, प्रजा, तिय, निज नय नगर बसाई।

अर्थात् "निंदक" माने अपनी निन्दा करने वाली (कैकेयी के समक्ष मन्थरा द्वारा भगवान् की निन्दा सर्वविदित है) “रज मति मंद" याने रजोगुण के कारण मन्द बुद्धि वाली “प्रजा” अर्थात् सामान्य प्रजा वर्ग में जन्म ली हुई दासी “तिय" याने स्त्री मन्थरा को भी , "निज नय नगर बसाई” माने अपने नित्य नवीन नगर साकेत में वास दिया। इस प्रकार विनयपत्रिका में भी सीतानिर्वासन का कोई सूत्र सिद्ध नहीं हो पाता।

संस्कृत साहित्य का महाभारत सबसे विशाल एवं परम प्रामाणिक सर्वमान्य महाकाव्य है, जिसके सम्बन्ध में वेदव्यास की उक्ति है कि "यन्न भारते तन्न भारते" उस महाभारत में "वनपर्व" एवं "द्रोणपर्व" इन दो स्थानों पर सम्पूर्ण रामकथा चार बार कही गई, परन्तु सौभाग्य से उन चारों श्रीरामकथाओं में सीतानिर्वासन की चर्चा तक नहीं आई है। महाभारत के खिलभाग हरिवंशपुराण में भी रामकथा है, पर भगवदिच्छा से वहाँ सीता निर्वासन की चर्चा नहीं है। अतः महाभारत में न होने से इस प्रकार की घटना इस भारतवर्ष में घटी ही नहीं यह ऋषिप्रमाण है। कदाचित् प्रक्षेप करने वालों को महाभारत में इस विषय को प्रक्षिप्त करने का अवकाश नहीं मिला इसे भगवत्कृपा ही कहना चाहिये।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

पूर्वप्रकरण को पढकर एक आचार्य जी ने मुझे कहा कि आपने उपसर्गपूर्वक त्त्वा प्रत्यय के उदाहरण तो वाल्मीकीय रामायण से दिए किन्तु यदि उपसर्गरहित ल्यप् प्रत्यय के प्रमाण भी देते तो और दृढ बात होती, सो उनकी बात का समादर करते हुए मैं वाल्मीकिजी के द्वारा उपसर्गरहित ल्यप् प्रत्यय के अपाणिनीय प्रयोगों के कुछ प्रमाण (उत्तरकाण्ड वाले

नहीं), दे रहा हूँ -

युद्धकाण्ड, सर्ग - ५२ में है -

धूम्राक्षेणार्दितं सैन्यं व्यथितं 'दृश्य' मारुतिः।
अभ्यवर्तत सङ्क्रुद्धः प्रगृह्य विपुलां शिलाम्॥

अरण्यकाण्ड, सर्ग - ६९ में है -

ततः परं जनस्थानात्त्रिक्रोशं 'गम्य' राघवौ। क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ॥

युद्धकाण्ड, सर्ग - ८१ में है -

तां दीनां मलदिग्धाङ्गीं रथस्थां 'दृश्य' मैथिलीम्।
बाष्पपर्याकुलमुखो हनुमान् व्यथितोऽभवत्॥

बालकाण्ड, सर्ग - ३० में है -

विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम्।
निरस्तं 'दृश्य' मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥

आदि उपसर्गरहित ल्यप् के उदाहरण हैं। अस्तु, अब मूल विषय पर आते हैं। आपने कहा कि सत्य तो यह है कि वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड के दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग अप्रामाणिक और प्रक्षिप्त हैं। अभूतपूर्व ज्ञान है आपका, मानना पड़ेगा। जब यही सत्य था तो आपने यह रहस्य अपनी पुस्तक के ११७वें पृष्ठ में क्यों बताया ? इतनी देर से तीसरे सर्ग में वर्णित 'वैदेह्याश्च विसर्जनम्' में विसर्जन शब्द का अर्थ गर्भाधान क्यों सिद्ध कर रहे थे ? चौथे सर्ग के 'राजपुत्रौ' शब्द की व्याख्या में उन्हें 'गन्धर्वपुत्रौ' क्यों सिद्ध कर रहे थे ? आपने मेरे विरुद्ध अपनी पुस्तक के पृष्ठ १४ और ३७ में प्रमाणस्वरूप तीसरे सर्ग का **वैदेह्याश्च विसर्जनम्** वाला श्लोक क्यों लिखा ? आपने मेरे खण्डन में अपनी पुस्तक के पृष्ठ १८ में प्रमाणस्वरूप दूसरे सर्ग का **यथा ते नारदाच्छ्रुतम्** वाला श्लोक क्यों लिखा ? आपने मेरे विरुद्ध अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३४ में प्रमाणस्वरूप दूसरे सर्ग का **मा निषाद प्रतिष्ठां** वाला श्लोक क्यों लिखा ? पृष्ठ ३७ में तीसरे सर्ग को प्रमाण क्यों सिद्ध किया ?

आखिर इन्हीं सब सर्गों के आधार पर तो आप अभी तक कह रहे थे कि नारद जी के मुख से जैसा सुना, वैसा ही लिखने का आदेश ब्रह्मदेव ने दिया, अतः सीतानिर्वासन अप्रामाणिक है। गोविन्दराज जी ने इन तीन सर्गों को अप्रामाणिक नहीं कहा है, उन्होंने मात्र निजी रूप से आशंका व्यक्त की है कि 'हो सकता है, किसी ने जोड़ा हो'। आशंका और तथ्य में भेद समझ आता है आपको ? आपके ही कहने के अनुसार यदि हम इन तीन सर्गों को प्रक्षिप्त मान लें तो फिर जो पूरे वाल्मीकीय रामायण की रचना का मूल स्रोतश्लोक 'मा निषाद प्रतिष्ठां' है, वह भी प्रक्षिप्त हो जाएगा। यथा ते नारदाच्छ्रुतम् वाला श्लोक भी प्रक्षिप्त हो जायेगा और वैदेह्याश्च विसर्जनम् एवं राजपुत्रौ यशस्विनौ वाला श्लोक भी प्रक्षिप्त हो जाएगा। कुल मिलाकर जिन श्लोकों और सर्गों के आधार पर आपने सीतानिर्वासन को प्रक्षिप्त सिद्ध करने में अपनी पुस्तक के सौ से अधिक पृष्ठ लिखे हैं, अन्त में आकर अब आप स्वयं ही उन्हीं सर्गों को अप्रामाणिक कह रहे हैं ? उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त घोषित करने के चक्कर में श्रीरामभद्राचार्य उसी बालकाण्ड के उन्हीं सर्गों की प्रामाणिकता नहीं बचा सके जिनके आधार पर वे पिछले सौ पृष्ठों तक मेरा खण्डन करते आये थे।

फिर आपने कहा कि जब श्रीरामराज्य में सत्ययुग के समान माहौल बन गया था तो सीतानिन्दा जैसी कुबुद्धि लोगों में कैसे आ सकती है ? इसका उत्तर यह है कि रामराज्य के कारण त्रेतायुग में सत्ययुग का आरोपण तो छोड़ दें, रामजी के ही पूर्वज महाराज मान्धाता, जो सत्ययुग में ही शासन करते थे, उनके समय रावण आदि थे कि नहीं ? वे अत्याचार करते थे कि नहीं ? फिर महाराज मान्धाता को युद्ध करके उनका निग्रह करना पडता था या नहीं ? इसीलिए तो उनका नाम त्रसदस्यु भी पड़ गया था। क्या सत्ययुग में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु ने खूब अधर्म नहीं फैलाया ? क्या सत्ययुग में ही उत्पन्न महाराज ध्रुव को अपनी विमाता सुरुचि के द्वेष का भाजन नहीं बनना पड़ा ? ऐसे ही समझना चाहिए कि पूर्वकाल के नियत पक्षीशाप को चरितार्थ करने हेतु रजक के मन में सीतापवाद की प्रेरणा हुई। यह श्रीसीताराम का वियोग सीताहरण के समय इसीलिए पूर्ण नहीं हो सका क्योंकि शाप के फलित होने में सीताजी के गर्भवती होने की बात निश्चित की गयी थी।

अब आपने पुनः मूलरामायण के आधार पर भगवान् के एक एक गुणों का सम्बन्ध

सांकेतिक रूप से उनकी लीलाओं से जोड़ने का प्रयास किया है, उसमें भी पर्याप्त विरोधाभास है। आपने लिखा 'जनैः श्रुतः' से अहल्योद्धरण। किन्तु पृष्ठ २१ में तो आपने सुविक्रमः शब्द का सम्बन्ध अहल्योद्धार से सिद्ध किया था। आपने अभी लिखा 'विष्णुना सदृशो वीर्ये', किन्तु पृष्ठ २० में आपने स्वयं ही इसका सर्वथा विपरीत अर्थ 'विष्णुना असदृशो वीर्ये' सिद्ध किया था। अभी फिर आपने एक स्थान पर महीवीर्यः (टंकण दोष होगा, सही शब्द महावीर्यः है) से शिवधनुर्भंग सिद्ध करके पुनः पांच पंक्तियों के बाद ही सोमवत्प्रियदर्शनः शब्द का तात्पर्य शिवधनुर्भंग से सिद्ध कर दिया है जो किस व्याकरण के किस नियम से हुआ यह तो आपके अतिरिक्त शायद ही कोई जाने। बिना सींग पूँछ के कुछ भी क्यों लिखते रहते हैं ? इतना ही अवकाश रहता है तो किसी योग्य गुरु से शास्त्रों का अध्ययन क्यों नहीं करते ? यदि ऐसे ही किसी भी गुण से किसी भी कथा को जोड़ना ही उद्देश्य है तो मैं भी 'रक्षिता स्वस्य धर्मस्य' से सीतात्याग के द्वारा अपने राजधर्म की रक्षा तथा 'रक्षिता जीवलोकस्य' से शम्बूकवध के द्वारा जीवों की रक्षा आदि का व्यवहारसम्मत अर्थ प्रस्तुत कर सकता हूँ, क्या आपत्ति है ?

अब उस बिन्दु पर चर्चा करते हैं जिसमें आपने कहा कि वाल्मीकिजी स्वयं के निमित्त भगवान् शब्द का प्रयोग कैसे कर सकते हैं, अतः दूसरा, तीसरा और चौथा सर्ग प्रक्षिप्त है। मुझे लगता है कि आपके प्रकोप से अब केवल उत्तरकाण्ड ही नहीं, बालकाण्ड की रक्षा भी मुझे करनी होगी। जब बिना ऋषि बने आप स्वयं को गोसहस्रनाम में ऋषि घोषित कर सकते हैं तो वाल्मीकिजी स्वयं के निमित्त भगवान् शब्द का प्रयोग क्यों नहीं कर सकते, जबकि वे तो भगवान् हैं भी। वे ही क्यों ? सभी ऋषि महर्षि भगवान् ही तो हैं। विष्णुसंहिता में दिव्य मुनियों के अन्तर्गत वाल्मीकिजी का भी नाम है -

श्वेतकेतुश्च व्यासश्च वाल्मीकिः सुयशास्तथा॥
और्वशेयश्च शक्तिश्च तथा चैव पराशरः। सप्तैते दिव्यमुनयो मङ्गलं प्रदिशन्तु नः॥
(विष्णुसंहिता, २२.४३-४४)

यही कारण है कि विद्यार्थी के लिए वाल्मीकिजी एवं वेदव्यासजी की पूजा करने का विधान है। आवाहन का मन्त्र भी बताया -

अहमावाहयिष्यामि वाल्मीकिं तपसां निधिम्।
वाल्मीके त्वमिहाभ्येहि वेदोद्धरणतत्पर॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)
विद्याकामोऽथ वाल्मीकिं व्यासं वाप्यथ पूजयेत्॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड – ०३, अध्याया - ११८)

विष्णुपुराण में स्पष्ट परिभाषा है -

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा॥

सभी सिद्धियाँ, पराक्रम, यश, वैभव, ज्ञान एवं वैराग्य, इन छः को 'भग' कहते हैं। ये जिसमें विद्यमान् हैं, उसे भगवान् कहते हैं। हाँ, यह अवश्य स्पष्ट किया है कि ईश्वर (भगवान् विष्णु, भगवान् शिव, भगवान् सूर्य) आदि के निमित्त जब भगवान् शब्द का प्रयोग होता है तो उसका अर्थ औपचारिक है, अन्यत्र लौकिक में सम्मान हेतु अनौपचारिक है - पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्यौपचारिकः। भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो चक्रवर्ती राजा हुए, जो ऋषि महर्षि हैं, वे भगवान् के ही अंश हैं। भगवान् ने ही वेदव्यास के रूप में महाभारत और वाल्मीकिजी के रूप में रामायण लिखी -

मया वाल्मीकिना कार्यं काव्यं रामायणं तथा।
व्यासेन वेदा वक्तव्या आख्यानं भारतं महत्।
मया ब्राह्मणशार्दूल तथा द्वैपायनात्मना॥
एवं आगे भी
ममांशेन विजानीहि पृथिव्यां चक्रवर्तिनः। ऋषयश्च तथा ज्ञेया ममैवांशसमुद्भवाः॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड – ०३, अध्याय - ३५१)

अतएव शास्त्रों में वाल्मीकि, वेदव्यास, अगस्त्य एवं नारद जैसे ऋषियों के लिए तथा

प्राचीनबर्हि जैसे चक्रवर्ती राजाओं के निमित अनौपचारिक रूप से भगवान् शब्द आया है। महाभारत और श्रीमद्भागवत तो वेदव्यासजी जी ने ही लिखे हैं, वहाँ भी उन्होंने स्वयं के निमित्त भगवान् शब्द का प्रयोग किया है -

त एव वेदा दुर्मेधैः धार्यन्ते पुरुषैर्यथा। एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – ०१, अध्याय – ०४, श्लोक - २४)

तत उत्थाय भगवान्व्यासो द्वैपायनः प्रभुः।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत्॥
(महाभारत, आदिपर्व)

वाल्मीकि मुनि ने भी मात्र अपने लिए ही नहीं, अपितु वशिष्ठ, नारद, अगस्त्य एवं दुर्वासा आदि के निमित्त भी भगवान् शब्द का प्रयोग किया है -

तथा तयोः संवदतोर्दुर्वासा भगवानृषिः। रामस्य दर्शनाकाङ्क्षी राजद्वारमुपागमत्॥
(रामायण - ७.१०५.१)
पूर्वं समभवत्तत्र ह्यगस्त्यो भगवानृषिः। नाहं सुतस्तवेत्युक्त्वा मित्रं तस्मादपाक्रमत्॥
(रामायण – ७.५७.५)
अथाब्रवीद्दशग्रीवं नारदो भगवानृषिः। क्व खल्विदानीं मार्गेण त्वया ह्यन्येन गम्यते॥
(रामायण - ७.२०.२०)
राजन्प्रभुर्यतोऽस्माकं वसिष्ठो भगवानृषिः। प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देवतुल्यं पुरोधसम्॥
(रामायण - ७.६५.३०)
यमस्मै प्रथमं प्रादादगस्त्यो भगवानृषिः। ब्रह्मदत्तं महाबाणममोघं युधि वीर्यवान्॥
(रामायण - ६.१११.४)

विश्वप्रसिद्ध आदित्यहृदयस्तोत्र में देखें -
दैवतैश्च समागम्य द्रष्टुमभ्यागतो रणम्।

उपागम्याब्रवीद्राममगस्त्यो भगवानृषिः (तदा) ॥
(रामायण - ६.१०७.२)

कितनी घृणित बात है कि अपनी अज्ञानता से आपने जो भ्रम और कुतर्क उत्पन्न किए हैं, उनकी पुष्टि हेतु आप लिखते हैं - 'गोस्वामीजी ने उत्तर दिया कि सीताजी यज्ञकाल में श्रीराम जी के साथ थीं क्योंकि जीवित की प्राणप्रतिष्ठा नहीं होती।' स्मृतिकार ऋषि कात्यायन ने श्रीराम जी के द्वारा स्वर्णसीता के माध्यम से यजन करने का उदाहरण भी दिया है जिसमें एक श्लोक तो विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी आया है जिससे इसकी प्रसंग की प्रामाणिकता एवं साधुता की पुष्टि होती है -

मृतायामपि भार्यायां वैदिकाग्निं न हि त्यजेत्।
उपाधिनापि तत्कर्म यावज्जीवं समापयेत्॥
रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्।
ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरच्युतः॥
(कात्यायनस्मृति, खण्ड - २०, श्लोक – ०९-१०)

इसके आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं - भार्या मरणमापन्ना देशान्तरगतापि वा। सीताजी देशान्तर में ही तो थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वर्णप्रतिमा वाली बात प्रामाणिक है और श्रीरामभद्राचार्य के कुतर्क का निग्रह होता है और उन्होंने अपनी बात को पुष्ट करने हेतु गोस्वामीजी जी की चौपाई में धर्मधुरन्धर शब्द का मनमाना अर्थ किया है। फिर इन्द्र और शची का नाम लेकर इन्होंने लिखा कि जैसे इन्द्र और शची का अलगाव नहीं होता वैसे ही सीताराम का भी नहीं होगा किन्तु स्वयम्भू जगद्गुरु यह भूल गये कि जैसे वृत्रासुर के वध के बाद परिस्थितियों के कारण इन्द्र का शची से दीर्घकालीन वियोग हुआ, वैसे ही भौतिक दृष्टि से सीतात्याग की परिस्थितियों के कारण श्रीसीताराम का भी वियोग हुआ।

सिय निन्दक शब्द को हठपूर्वक काल्पनिक प्रक्षेपक के ऊपर आरोप करके उसे 'तिय निन्दक' शब्द बनाना, फिर विनयपत्रिका के 'बालिस बासी अवध को' में आये शब्द के अन्तर्गत अपने मन से ओकार को ईकार कर देना, 'अवध की बूझिये न खाको' बनाकर

फिर तिय निन्दक मतिमन्द प्रजा की पंक्ति को तोड़मरोड़कर शब्दों के उलटफेर से हठपूर्वक उसमें धोबी का सिद्ध अर्थ हटाकर मन्थरा का काल्पनिक अर्थ घुसाकर अन्त में यह कह देना कि गोस्वामीजी ने सीतात्याग का वर्णन नहीं किया, यह दुराग्रह दिखाता है कि शास्त्रों की मौलिकता के साथ खिलवाड़ करके मात्र अपनी ढहती प्रतिष्ठा को बचाने के उद्देश्य से श्रीरामभद्राचार्य कितना नीचे गिर सकते हैं। फिर इन्होंने कुतर्क किया कि काकभुशुण्डि जी ने कथाओं की सूची में सीतानिर्वासन का वर्णन नहीं किया, तो बन्धु ! गरुड जी जितना पूछेंगे, भरद्वाज और पार्वती देवी जितना पूछेंगी उतना ही न काकभुशुण्डि, याज्ञवल्क्य एवं भगवान् शिव बताएँगे ? अब शैली देखें श्रीरामभद्राचार्य की -

१) यदि गोस्वामीजी ने मानस में प्रत्यक्षरूप से सीतानिर्वासन का उल्लेख किया रहता तो विनयपत्रिका के समान ये उसे भी प्रक्षिप्त घोषित करके कहते कि जो प्रश्न श्रोता ने पूछा ही नहीं, वक्ता ने उसका अनावश्यक उत्तर कैसे दे दिया, फलतः यह प्रसंग प्रक्षिप्त है।

२) गोस्वामीजी ने उल्लेख नहीं किया तो अब कह रहे हैं कि सीतानिर्वासन प्रामाणिक होता तो गोस्वामीजी ने क्यों उल्लेख नहीं किया ? अर्थात् किसी भी स्थिति में इन्हें अपने प्रक्षिप्तवाद का पोषण करना ही है।

हास्यास्पद बात यह है कि जहाँ गोस्वामीजी ने वर्णन किया है, उन प्रसंगों को ये महाशय शब्दों में उलटफेर और व्यतिक्रम करके मनमाना अर्थ लगाकर प्रक्षिप्त घोषित कर दे रहे हैं। स्वयं कहते हैं कि "यहाँ क्षेपक डालने वालों की नहीं चली, क्योंकि यह प्रबन्धकाव्य ही इतना सघन लिखा गया है कि यहाँ सामान्य प्रतिभा की दाल गलाए नहीं गलती", और फिर अगले ही अनुच्छेद में लिख दिया कि विधर्मियों ने तिय निन्दक को काट कर सिय निन्दक कर दिया। इनका स्वयं का पक्ष अनिश्चितता और अज्ञान से भरा हुआ है। ये स्वयं जिस सर्ग के आधार पर तर्क देते हैं, आगे उसी सर्ग को स्वयं ही प्रक्षिप्त कह देते हैं। श्रीरामभद्राचार्य दूसरा हास्यास्पद कुतर्क करते हैं - *यन्न भारते तन्न भारते* ... जिस घटना का सङ्केत महाभारत में नहीं, वह घटना भारतवर्ष में घटी ही नहीं। यह श्रीरामभद्राचार्य की बालबुद्धि का परिचायक है। उक्त कथन का तात्पर्य केवल महाभारत को चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि हेतु जिस धर्मज्ञान की आवश्यकता है, उस धर्मज्ञान के उपदेश एवं सर्वथा

स्वतन्त्र दक्षता से युक्त बताने के वैशिष्ट्य हेतु प्रयुक्त किया गया है, इसका सम्बन्ध ऐतिहासिक कथानकों की सम्पूर्णता से नहीं है।

यदि हम यह मान लें कि महाभारत में जिसका वर्णन नहीं, वो घटना भारतवर्ष में घटित ही नहीं हुई, फिर तो और भी समस्या हो जाएगी। महाभारत में तो प्रतापभानु की एवं नारद विमोहन की कथा भी नहीं है, साथ ही अयोमुखी राक्षसी और बर्बरीक का वृत्तान्त भी नहीं है, फिर तो हमें यह मान लेना चाहिए कि ये घटना भारतवर्ष में घटित ही नहीं हुई। इस हिसाब से तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में प्रतापभानु एवं नारद विमोहन का प्रसङ्ग कल्पना से मिथ्यारोपित किया है ? अयोमुखी का वर्णन करके वाल्मीकि जी ने भी मिथ्या लिखा है, और तो स्कन्दपुराण में बर्बरीक का वर्णन करके स्वयं वेदव्यास जी ही मिथ्याभाषी होते हैं क्योंकि उक्त कथाएं तो महाभारत में वर्णित ही नहीं हैं और श्रीरामभद्राचार्य के ही हिसाब से *यन्न भारते तन्न भारते* लागू हो जा रहा है। महाभारत में लक्ष्मण जी के हाथों कुम्भकर्ण के वध का वर्णन है तो वाल्मीकीय रामायण में श्रीराम के हाथों कुम्भकर्ण का वध हुआ है।

अब श्रीरामभद्राचार्य के हिसाब से जो घटना महाभारत में वर्णित नहीं, वह भारतवर्ष में घटी ही नहीं तो वाल्मीकि जी ने गलत लिख दिया, और यदि वेदतुल्य होने से वाल्मीकीय रामायण सही कह रहे हैं तो फिर महाभारतकार गलत कह रहे हैं और *यन्न भारते तन्न भारते* निरस्त हो गया। वस्तुतः कल्पभेद से हम दोनों को सही मानकर ग्रहण करेंगे, हमें आपत्ति नहीं किन्तु श्रीरामभद्राचार्य यदि दम्भपोषण एवं व्यक्तिस्थापना के स्थान पर शास्त्रपोषण एवं धर्मस्थापना में अपनी प्रतिभा और प्रतिष्ठा का नियोजन करते, तो क्या अच्छा नहीं होता ? उनकी लेखनी ऐसे ही बहुतेरे कुतर्क एवं प्रलाप से भरी हुई है जो कांच होकर मणि का अभिमान करती है। उनकी कृति सनातनी समाज के भ्रम एवं पतन का कारण न बने, एतदर्थ हमलोगों को न चाहते हुए भी उनका प्रतिरोध एवं निग्रह करना ही पड़ता है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का "नवीन" कुतर्क

अब हम एक ज्वलन्त चर्चा करने जा रहे हैं, जिसपर बहुत दिनोंसे विवाद चल रहा है। कुछ लोगों का कहना है कि श्रीरामने शम्बूकको मारा, यह न्यायके विरुद्ध हुआ। कुछ लोग कह रहे हैं कि श्रीरामने शम्बूक को मारकर बहुत अच्छा किया और कुछ लोग कह रहे हैं कि श्रीरामने को मारा ही नहीं। मेरा तृतीय पक्ष ही है कि श्रीरामने न तो शम्बूक सीताजीका निर्वासन किया और न ही शम्बूक का वध किया। इसलिए मैंने जानबूझकर इस पुस्तकका नामकरण किया - सीतानिर्वासन और शम्बूक - वध नहीं।

सामान्यतः जिज्ञासा होती है कि शम्बूकका अपराध क्या है, जिसके लिए श्रीराम उसे प्राणदण्ड दे रहे हैं ? इसका सामान्य उत्तर यह होगा कि त्रेतामें शम्बूक अनधिकृत तपस्या कर रहा था। उसे तपस्या करने का अधिकार नहीं था, फिर भी शीर्षासन करके सिर नीचे करके धूम्रपान करके तपस्या कर रहा था। इसपर मेरा एक विनम्र निवेदन है कि मन्त्रहीन तपस्या करने में चतुर्थ वर्णके लिए त्रेतामें भी कोई आपत्ति नहीं थी, न आज है।

रावण - वधके पश्चात् भगवान् के सम्पर्ण ऐश्वर्य प्रकट हो चुके थे, तो उनको नारदादिकी सहायता क्यों लेनी पड़ी - और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग (वा ० २.७७)। मान लो ! शम्बूकने गलती की, तो उसपर कोई अनिष्ट होना चाहिए था। ब्राह्मणकी मृत्यु क्यों हो रही है ? और वो भी ब्राह्मण कैसा ? आप कथाकी सारहीनतापर विचार कीजिये । ब्राह्मण कह रहा है -

अप्राप्तयौवनं बालं पञ्चवर्षसहस्रकम्। अकाले कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रक॥
(वा ० रा ० गी ० प्रे ० ७/७३/५)

"यद्यपि तुम पाँच हजार वर्षके हो चुके हो, फिर भी तुमको अभी युवावस्था प्राप्त नहीं हुई ?" युवावस्था इतनी प्रतीक्षा करती है क्या ? रामचन्द्रजी पच्चीस वर्ष में युवा हो रहे हैं। शूर्पणखा कहती है -

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ। पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ॥
(वा ० रा ० ३ / १९ / १४)

वाल्मीकिजी अयोध्याकाण्ड के प्रथम सर्ग में कहते हैं -

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान् देशकालवित्
(वा ० रा ० २/१/१८)

अर्थात् रामचन्द्रजीमें कोई रोग नहीं है, रामजी युवक हैं। कालिदासजी कहते हैं - चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा (र ०रं० १२.२०) अर्थात् रामचन्द्रजी युवक होकर वृद्धेक्ष्वाकुओं का व्रत कर रहे हैं और यह ब्राह्मण पाँच हजार वर्षका हो गया, फिर भी बालक है ? निश्चित रूपसे यह कथा पूर्णतया कल्पित है। फिर रामचन्द्रजी नारदजीसे पूछते हैं। इतना ही नहीं। श्रीरामचन्द्रजी पुष्पकसे ढूँढ़ते - ढूँढते शम्बूक के पास जा रहे हैं। सर्वज्ञ होकर उन्हें इतना ढूँढ़ना पड़ रहा है ? वहाँ जाकर पूछते हैं कि तुम कौन हो ? उसने बता दिया कि मैं शूद्र हूँ। भगवान् ने उसका सिर काट दिया। हम कहते हैं कि क्या दोष है उसका, जो रामजी सिर काटेंगे ? जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि त्रेता में भी तपस्या विहित है। जो लोग जंघासुरकी बात कर रहे हैं, उनसे मैं पूछता हूँ कि महाभारत के किस अध्याय में जंघासुरका वर्णन किया गया है ? एतावता, शम्बूक - वध का प्रकरण भी पूर्ण निरर्थक है। यह केवल विद्वेषके लिए जोड़ा गया।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

मैं पूर्वकाल में स्पष्ट कर चुका हूँ कि शम्बूक का वर्णन जंघासुर के रूप में वायुदेवावतार मध्वाचार्य जी ने किया है। दिव्य ज्ञानावतार आचार्यगण तपोबल से ऐसी कथाओं को भी जानते हैं जो जनसामान्य नहीं जानता है। उन्होंने महाभारततात्पर्यनिर्णय लिखा और किसी बात का तात्पर्य समझाने हेतु अन्य शास्त्रों का भी आश्रय लेना पड़ता है अतः आप्तोपदिष्ट शब्दप्रमाण से वह ग्राह्य है। अपनी विगत एवं इस वर्तमान पुस्तक में पद्मपुराण के प्रमाण से मैं सिद्ध कर चुका हूँ कि शम्बूक को बिना कारण और परिचय जाने भगवान् ने नहीं

मारा है अपितु सब जानने के बाद ही मारा और दिव्यधाम भी दिया, कोई नरक नहीं। मैं पूर्वपुस्तक में पहले ही शास्त्रवाक्य से लिख चुका हूँ कि राजा के दोष से प्रजा पर हानि आती है।

अब आपकी उस बात पर आते हैं कि ५००० वर्ष का होकर भी ब्राह्मण का बालक युवा क्यों नहीं हुआ ? यहाँ सामान्य सी बात है। दस रोटी खाकर मनुष्य का तो पेट भर जायेगा किन्तु हाथी का नहीं। कलियुग में सौ वर्ष का आयुप्रमाण है किन्तु वह त्रेतायुग था और आपके ही अनुसार त्रेतायुग में भी विशेषकर रामराज्य में सत्ययुग की स्थिति आ गयी थी। त्रेतायुग में भी राजा दशरथ साठ सहस्र वर्ष की आयु वाले थे और सत्ययुग में तो लोगों की सामान्य आयु एक लाख वर्ष तक थी, ऐसे बहुत से शास्त्रवाक्य उपलब्ध हैं। तो इस अनुसार सत्ययुग और कलियुग के अनुपात में आयु के अनुसार देखें तो एक लाख में ५००० वर्ष ही जीना, अर्थात् मात्र ५%, कलियुग के अनुसार सौ वर्ष की आयु में बालक बस ५ वर्ष ही जीवित रहा। त्रेतायुग के ही अनुसार देखें तो राजा दशरथ आदि के साठ हज़ार वर्ष की आयु के अनुपात में मात्र पांच हज़ार वर्ष जीने वाला बालक तो लगभग ८% ही जी पाया, सौ वर्ष के अनुसार देखें तो मात्र आठ वर्ष।

यदि आपकी अशुद्धकाल गणना के अनुसार भी रामजी का ही कार्यकाल तैंतीस हज़ार वर्ष का मान लें तो बालक लगभग १५% ही जीवित रहा है, सौ वर्ष के अनुपात में मात्र १५ वर्ष। क्या उस युग के अनुसार अपनी आयु का मात्र ५-१५% काल ही जीवित रहना युवा होना कहलायेगा ? शारीरिक रूप से युवा हो भी जाए किन्तु कालानुपात में वह युवा नहीं है। आज सौ वर्ष के अनुपात में कोई पांच या अधिकतम पन्द्रह वर्ष की आयु में मर जाए तो आप उसे युवा कहेंगे या बालक ? रामराज्य के समय सत्ययुग के समान प्रभाव हो गया था और सत्ययुग में सामान्य मानवीय आयु एक लाख वर्ष की होती थी तो उसमें ब्राह्मण का बालक पांच हज़ार वर्ष अर्थात् ५% आयुभोग तक ही जीवित रहा। सामान्यतः कालनिर्धारण में आयु को सौ वर्ष मानकर चलते हैं, वेदों ने भी जीवेम शरदः शतम् कहा। इस अनुसार तो सौ वर्ष के कालानुपात में बालक मात्र पांच वर्ष ही जीवित रहा है। अतः महर्षि वाल्मीकि ने आनन्द रामायण के राज्यकाण्ड (पूर्वार्द्ध) के दशम सर्ग में मृत ब्राह्मण बालक की आयु पांच वर्ष ही लिखी है। मैं सम्बन्धित सर्ग के प्रधान श्लोकों को सानुवाद

प्रस्तुत कर रहा हूँ ताकि लोग समझ जाएँ कि शम्बूक की शास्त्रविरुद्ध तपस्या के कारण केवल ब्राह्मण का बालक ही नहीं मरा, सभी वर्णों के आबालवृद्ध स्त्रीपुरुष मर रहे थे -

अथैकदा तु साकेतवासिनो भूसुरस्य च।
पञ्चत्वं पञ्चवर्षीयः पुत्रः प्राप्तः शिशुः प्रियः॥
तदा विप्रः सपत्नीकस्तत्प्रेतमरुणोदये। राजद्वारं समानीय रुरोदोच्चैः स्वरैर्मुहुः॥

एक समय अयोध्या में एक ब्राह्मणके पञ्चवर्षीय बालककी मृत्यु हो गयी। सवेरा होते ही वे ब्राह्मणदम्पती बच्चे के शव को लेकर राजद्वार पर आये और बड़े जोर-जोर से रोने लगे। (इसके बाद भगवान् सभी बातों की पूछताछ करने पुष्पक पर बैठकर जाने ही वाले थे कि, आगे कुछ श्लोकों में)

तावद्ददर्श पुरतः पौरः संवेष्टितां स्त्रियम्। शवमप्यपरं श्रृङ्गवेरतश्च समागतम्॥
रामं दृष्ट्वा पुष्पकस्थं रुदती ब्राह्मणी पुरः।
दीर्घस्वरैण प्रोवाच हस्ताभ्यां हृदि ताड्य सा॥
राम राम महाबाहो ते राज्ये गतभर्तृका।
अहं जाताऽस्मि त्वद्दोषान्मां दृष्ट्वा त्वं न लज्जसे॥

तबतक उन्होंने देखा कि एक स्त्रीको चारों ओरसे बहुतसे पुरवासी घेरे हुए हैं। उनके आगे श्रृङ्गवेरपुर की तरफ से एक और शव लदा हुआ आ रहा है। स्त्रीने जब राम को पुष्पक विमानपर बैठे देखा तो अपने हाथों से छाती पीटकर कहने लगी - हे राम ! हे राम !! तुम्हारे राज्यकाल में विधवा होकर मैं यहाँ आयी हूँ। मुझे इस दशा में देखकर तुम्हें लाज नहीं आती ? (भगवान् उन दोनों शवों को तेल से भरी नौका में रखवा कर कहते हैं कि एरे लौटने तक कोई अन्तिमसंस्कार मत करना, उसके बाद आगे के कुछ श्लोकों में)

एतस्मिन्नन्तरेऽयोध्यापुर्यां पञ्च शवानि हि॥
समानीतानि तैलस्य द्रोण्यां तान्यपि पूर्ववत्।

सुमन्त्रः स्थापयामास श्रीरामस्याज्ञयादरात् ॥
तेषु पञ्चशवेष्वेव चैकं मधुपुरि स्थितम्। क्षत्रियस्य च तज्ज्ञेयं समानीतं सुहृज्जनैः ॥
प्रयागस्थं द्वितीयञ्च शवं वैश्यस्य तत्स्मृतम्।
पूर्वे वयसि पञ्चत्वात्समानीतं हि तज्जनैः ॥
हस्तिनापुरसन्स्थं तत्तृतीयं शवमीरितम्। तैलकारस्य तज्ज्ञेयं समानीतं हि तज्जनैः ॥
शवं चतुर्थं तज्ज्ञेयं हरिद्वारस्थितं द्विज। लोहकारस्नुषायाश्च समानीतं हि तज्जनैः ॥
उज्जयिनीस्थं पञ्चमं च शवं ज्ञेयं महामते। चर्मकारदुहितायाः समानीतं हि तज्जनैः ॥
एवं पञ्च शवान्यासन् पूर्वे द्वे ब्राह्मणस्य च।
सप्तायोध्यापुरीमध्ये शवान्येवं स्थितानि हि ॥

इसी बीच अयोध्या में पाँच शव और आकर एकत्र हो गये। उन्हें भी सुमन्त्र ने पूर्ववत् तेलकी नौका में रखवा दिया। उन पाँचों में से एक शव मधुपुर गांव में रहनेवाले एक क्षत्रियका था जिसे उसके सुहज्जन रामके दरबार में से आये थे। दूसरा शव प्रयागनिवासी एक वैश्यका था। थोड़ी ही अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी थी इसीलिए उसके घरवाले रामके पास ले आये। तीसरा शव हस्तिनापुरनिवासी एक तेली का था। उसे भी उसके घरवाले राम के पास ले आये थे। चौथा शव हरिद्वारनिवासी एक लोहार की पुत्रवधू का था। पाँचवां शव उज्जैननिवासी एक चमार की बेटी का था और उसके घरवाले उसे अयोध्या ले आये थे। इस प्रकार ये पाँच शव तथा पूर्व के दो ब्राह्मण के, सब मिलाकर सात शव एकत्र हो गये।

रामोऽपि दण्डकं पश्यन् स बभ्राम समन्ततः।
ययौ विन्ध्याचलं धीमान् रेवावारिपरिप्लुतम् ॥
तत्र वृक्षे लम्बमानं धूमं पातुमधोमुखम्। शूद्रं निरीक्ष्य स्वर्गेच्छं तं हन्तुं समुपस्थितः ॥
तदा तं राघवः प्राह भो शूद्र श्रृणु मद्वचः। ब्राह्मणादित्रिभिर्वर्णैस्तपः कार्यं न चेतरैः ॥
शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषा सदा कार्यातिभक्तितः।
द्विजकृत्यं त्वया चात्र कृतं पापात्मना जड ॥

इदानीं त्वां हनिष्यामि जीवयिष्यामि तान्मृतान्।
तुष्टोऽहं त्वां त्वत्तपसा वरं वरय वाञ्छितम्॥
इति रामवचः श्रुत्वाऽधोमुखो रामपादजः। उवाच भयभीतः सन्नत्वा रामं मुहुर्मुहुः॥
राम रावणदर्पघ्न यदि तुष्टोऽसि मां प्रभो। तर्हि ते वरयाम्यद्य येन शूद्रगतिर्भवेत्॥

राम रेवानदी से परिप्लुत विन्ध्यपर्वतकी ओर बढ़े एवं दण्डकारण्य में अच्छी तरह घूमकर देखा कि एक शूद्र उलटा लटक कर नीचे जल रही आग की धूनी का धुँवा पी रहा है। इस प्रकार उग्र तपस्या करके स्वर्ग चाहनेवाले उस शूद्रको राम मारनेके लिए तैयार हो गये और उसके पास जाकर कहने लगे हे शूद्र ! ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, इन तीन वर्णों के लिए तपस्या करने का विधान है। शूद्रों को तो भक्तियुक्त मन से द्विजाति की सेवा करनी चाहिए। अरे जड़ ! तुझ पापी ने अपने धर्मका उल्लङ्घन करके द्विजों के समान कर्म किया है। इस समय मैं तुझे मारकर उन लोगोंको जीवित करूँगा, जो तेरे धर्मविरुद्ध आचरणसे अकालमृत्युके ग्रास बने हैं। किन्तु मैं तेरी इस तपस्यासे प्रसन्न हूँ अतः बोल, तेरी क्या कामना है ? इस प्रकार रामकी वाणी सुनकर भयभीत हो और मस्तक झुकाकर बार - बार प्रणाम करके उस शूद्र ने कहा - हे रावणके अभिमानको दूर करनेवाले राम ! यदि वास्तव में आप मेरे ऊपर प्रसन्न है तो मुझे यह वरदान दीजिये कि जिससे शूद्रजाति को भी सद्गति प्राप्त हो, साथ ही मेरा भी उदार हो जाए।

ममापि येन कीर्तिः स्यात्तं वरं दातुमर्हसि। इति शूद्रवचः श्रुत्वा रामस्तुष्टोऽब्रवीद्वचः॥
मम रामेति यन्नाम तच्छूद्रैः सर्वदैव हि। जपनीयं कीर्तनीयं चिन्तनीयं मुहुर्मुहुः॥
भविष्यति गतिस्तेषामनेन मत्परो भव। तवानेनोपकारेण कीर्तिः शूद्रेषु वै भवेत्॥
इति रामवरं श्रुत्वा पुनः शूद्रोऽब्रवीद्वचः। शूद्राः कलौ मन्दधियो भविष्यति रघूत्तम॥
व्यग्रचित्ता भविष्यन्ति कृषिकर्मादिभिः प्रभो।
तदा तेषां कुतो बुद्धिर्जपादिषु भविष्यति॥
अतस्तदनुरूपोऽद्य वरो देयो विचार्य च। तत्तस्य वचनं श्रुत्वा रामस्तुष्टोऽब्रवीत् पुनः॥
परवन्दनकालेषु रामरामेति सर्वदा। शूद्रा वदन्तु सर्वत्र तेन तेषां गतिर्भवेत्॥

तवापीयं कथाकीर्तिः स्मरिष्यन्ति मदङ्घ्रिजाः।
त्वं मया निहतस्त्वद्य वैकुण्ठं प्रति यास्यसि॥

इस तरह शूद्रकी दीनतापूर्ण बात सुनकर रामजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले - मेरे "राम", इस पवित्र नामका जो शूद्र सदा जप, कीर्तन तथा चिन्तन करते रहेंगे, उन लोगों को सद्गति प्राप्त होगी और तुम भी इस तपस्याको छोड़कर मेरा चिन्तन करो। तुम्हारे इस उपकार से शूद्रों में तुम्हारी कीर्ति होगी। इस प्रकार रामजी से वर पाकर शूद्र ने कहा - हे रघुसत्तम ! आगे महाप्रचण्ड कलियुग आनेवाला है, उसमें शूद्रों की बुद्धि अधिक नहीं होगी कि वे जप और कीर्तन आदि किया करेंगे। अपनी खेती-बाडी के काम में बे सदा व्यस्त रहेंगे। ऐसे में उन्हें जप तथा कीर्तन करनेका अवसर ही कहाँ मिलेगा। इन शुभ कर्मों की ओर उनकी बुद्धि कैसे जाएगी, अतः उनके अनुरूप कोई वरदान दीजिए। उसकी यह बात सुनकर प्रसन्न हो, रामजी ने कहा - वे लोग एक-दूसरे को प्रणामाशीष, अभिवादन आदि के समय "राम-राम" ऐसा कहेंगे, इससे उनका उद्धार हो जाया करेगा। मेरे चरणों से उत्पन्न उस शूद्र समाज में तुम्हारा बड़ा नाम होगा। आज तुम हमारे हाथों मरकर वैकुण्ठधामको प्राप्त होगे।

पुनर्ययाचे श्रीरामं वरमन्यं स्वकारणात्।
अस्मिन् शैले सदा तिष्ठ सीतालक्ष्मणसंयुतः॥
अंशतस्ते पूर्वमेव दर्शनं मम ये नराः। करिष्यन्ति ततः पश्चाद्ये नरास्तव दर्शनम्॥
कुर्वन्ति सहितं भक्त्या मोक्षमेव व्रजन्ति ते।
मद्दर्शनं विना मर्त्यास्त्वां पश्यन्त्यविचारतः॥
तेषामुद्धरणं राम कुरु मद्वचनात् प्रभो। तथोवाच तदा रामो भक्तिं तस्मै ददौ हरिः॥
इति कृत्वा सुसंतुष्टं हत्वा शूद्रं रघूत्तमः। जीवयामास विप्रादीन्सप्त साकेतसंस्थितान्॥
तदाराभ्यात्र शूद्रैस्तु विष्णुदासावनीतले। परवन्दनकालेषु रामरामेति कीर्त्यते॥
(आनन्दरामायण, राज्यकाण्ड, पूर्वार्द्ध, सर्ग - १०)

इसके बाद उस शूद्र ने रामजी से यह वर मांगा कि जो आप सीता तथा लक्ष्मण के साथ सर्वदा इस पर्वतपर निवास करें। पहले मेरा दर्शन करने के पश्चात् आपका दर्शन करें,

उनको मोक्षपद प्राप्त हुआ करे इसके सिवाय जो लोग भ्रमवश बिना मेरा दर्शन किये हो आपका दर्शन कर लें उनका भी उद्धार हो जाय। (विशेष - यह स्थान वर्तमान में कहाँ और किस स्थिति में हैं, इसका परिज्ञान मुझे इस काल में नहीं है) श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर इसे भक्ति का वर दिया और उसे मारकर उन अकाल मृत्युसे मरे हुए लोगों को जीवित किया, जो ब्राह्मण क्षत्रियादि सात प्राणी अयोध्या में मरे पड़े थे। हे विष्णुदास ! तब से ही इस पृथ्वीमें शूद्र लोग आपस में प्रणाम और आशीष के समय "राम - राम" कहा करते हैं।

पद्मपुराण के प्रमाणों से मैंने पूर्व में सिद्ध किया था कि श्रीराम और शम्बूक के मध्य बहुत मधुर पितापुत्रवत् संवाद हुआ था। आनन्द रामायण के प्रमाण से अब यह सिद्ध किया कि शम्बूक की तपस्या के कारण केवल ब्राह्मण ही नहीं, अन्य लोग भी मर रहे थे। किसी का पुत्र, किसी का पति, किसी की बेटी तो किसी की बहू, सब मर रहे थे। ब्राह्मण के साथ साथ क्षत्रिय, वैश्य और तेली, लुहार, चमार आदि जातियों के लोग भी मर रहे थे। अब जो लोग शम्बूक को दलित, शोषित आदि घोषित करते फिरते हैं, वे ध्यान दें कि शम्बूक श्रीरामजी के राज्य में मुख्य स्वास्थ्याधिकारी था, कोई शोषित पीड़ित नहीं। आज की भाषा में कहें तो - CMO चीफ मेडिकल ऑफिसर, आईएएस के समान। कौशिक रामायण से प्रमाण देखें -

देवरात उवाच

श्रूयते रामचन्द्रस्य राज्ये द्विजसुतो मृतः।
स द्विजः शवमादाय रामद्वारि ह्यपाक्षिपत् ॥१॥
न मे कुटुम्बे कोऽप्यस्ति दुराचारपरायणः।
राज्ञो दोषेण मे बालो मृत इति विनिर्णयः ॥२॥
रामो नारदवाक्येन शम्बूकं तपसि स्थितम्।
शूद्रं जघान तत्कालं जीवितो मृतबालकः ॥०३॥
द्विजस्य बालकः कस्मात् शूद्रस्य तपसा मृतः।
इति मे संशयं छिन्धि सर्वज्ञस्त्वं मतो मम ॥४॥

देवरात ने कहा - सुना जाता है कि रामचन्द्र जी के राज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र मर गया था। ब्राह्मण ने अपने पुत्र का शव लाकर श्रीराम के द्वार पर पटक दिया और कहा कि मेरे परिवार में कोई भी दुराचारी नहीं हैं, अतः राजा के अपराध से ही मेरा पुत्र मरा है, यह निश्चित है। रामचन्द्र जी ने नारद जी के द्वारा यह जानकर कि शम्बूक नाम का एक शूद्र तप कर रहा है, तत्काल उस शूद्र को मार डाला, तब वह मृत पुनः जीवित हो गया। शूद्र के तप करने से ब्राह्मण के पुत्र के मर जाने में क्या तुक है ? मैं आपको सर्वज्ञ मानता हूँ, अतः मेरे इस संशय को दूर कीजिए।

कौशिक उवाच

श्रृणु पुत्र प्रसङ्गस्य रहस्यं परमाद्भुतम्।
रामराज्ये जनाः सर्वे वर्णाश्रमपरायणाः ॥०५॥
स्वं स्वं धर्मं विशेषेण पालयन्ति स्म सुव्रताः।
षट्कर्मनिरता विप्रा ज्ञानमार्गाधिकारिणः ॥०६॥
क्षत्रिया रक्षणे निष्ठाः सैन्यकर्माधिकारिणः।
वैश्याश्च कृषिगोरक्षावाणिज्येष्वधिकारिणः ॥०७॥
शूद्राश्च सेवानिरताः शौचाचारपरायणाः।
अन्त्यजा नगरग्रामपरिष्काराधिकारिणः ॥०८॥

कौशिक (विश्वामित्र) जी बोले - हे पुत्र ! इस प्रसङ्ग का एक परम अद्भुत रहस्य सुनो। रामजी के राज्य में सब प्रजा अपने-अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करती थी, सभी लोग वर्णाश्रमी ही थे जो बड़ी तत्परता से इस व्रत का पालन करते थे। ब्राह्मण स्ववर्णोचित (यज्ञ करना एवं कराना, दान लेना एवं देना, शास्त्र पढ़ना एवं पढ़ाना) षट्कर्मों का पालन करने वाले, ज्ञानमार्ग के अधिकारी होते थे। रक्षानिष्ठ क्षत्रिय सेना से सम्बन्धित कार्यों के अधिकारी होते थे। वैश्य कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य व्यापार के संरक्षक होते थे। पवित्र आचार वाले शूद्रजन सेवाक्षेत्र के कार्य में नियुक्त होते थे और अन्त्यज नगर और ग्रामों की स्वच्छता से सम्बन्धित कार्यों में संलग्न किये जाते थे।

शम्बूकोऽसावयोध्यायां स्वास्थ्यरक्षाधिनायकः।
सहस्रशोऽन्त्यजा अस्य शुद्धिसंस्कारकर्मणि ॥०९॥
आधिपत्ये नियुक्तास्तु कुर्वन्ति मार्जनादिकम्।
सोऽयं स्वास्थ्यविभागस्य प्रमुखो राजसेवकः ॥१०॥
अदत्वा सूचनां मूढो जगाम गहन वनम्।
तत्र देवत्वप्राप्त्यर्थं महोग्रं तप आस्थितः ॥११॥
पादौ बद्धा वटस्कन्धे लम्बितोऽयमधोमुखः।
अध्यक्षरहिते क्षेत्रे कर्मिणस्ते निरङ्कुशाः ॥१२॥
न सम्यग्विदधुः शुद्धिं प्रमादस्य वशानुगाः।
सम्मार्जनप्रोक्षणाभ्यां विहीना वीथयस्तथा ॥१३॥
पङ्किला दुर्मला जाता अतिदुर्गन्धसङ्कुलाः। मक्षिकाबहुला गेहा मशकव्रातपीडिताः।
विशूचिकारुजाग्रस्तो मृतस्तत्र द्विजार्भकः ॥१४॥

यह शम्बूक नाम का शूद्र अयोध्या नगरी की स्वास्थ्य रक्षा का मुख्य अधिकारी था। सहस्रोंअन्त्यज इसके आधिपत्य में नियुक्त नगर की सफाई से सम्बन्धित जो (आज की भाषा में नगर निगम वाली) जो सेवाएं आवश्यक थीं, वह किया करते थे। यह स्वास्थ्य विभाग का प्रमुख राजसेवक होते हुए भी बिना कुछ सूचना दिये ही गहन वन में तप करने चला गया। वह देवता बन जाने की अभिलाषा से बड़ा भारी उग्र तप करने लगा। यह अपने दोनों पैर एक वटवृक्ष के तने से बांधे, नीचे को शिर करके उल्टा लटक गया। जब अध्यक्ष नहीं रहा, तो नीचे काम करने वाले सब कर्मचारी मनमाने हो गए। उन्होंने प्रमादवश अच्छी तरह नगर की सफाई नहीं की। झाड़ू-बुहारी और धुलाई के बिना सब गलियां गन्दी हो गयीं। जगह-जगह कीचड और कचड़ा भर गया, बहुत दुर्गन्ध व्याप्त हो गया। घर घर में मक्खियां भिनभिनाने लगीं, मच्छरों के झुण्ड सर्वत्र छा गये। ऐसी दशा में विशूचिका (हैजा) के प्रकोप से एक ब्राह्मण बालक मर गया।

ब्राह्मणेन समादिष्टो राघवो मृत्युकारणम्।

अन्वेषमाणो बुबुधे शम्बूकस्यानुपस्थितिम् ॥१५ ॥
अगृहीत्वावकाशञ्च तथादत्वैव सूचनाम् ।
प्रयातोऽयं तपः कर्तुं पन्थानो मलदूषिताः ॥१६ ॥
एकस्य अपराधेनाऽनेके रोगेण पीडिताः ।
मृतो द्विजसुतो बालो ह्यनर्थानां परम्परा ॥१७ ॥
गुरुं पप्रच्छ धर्मात्मा को धर्मोऽत्र निरूपितः ।
उवाच मुनिशार्दूलः श्रृणु राम श्रुतीरितम् ॥१८ ॥
यः स्वधर्मं परित्यज्यात्यर्थं स्वार्थपरायणः ।
परान् क्लेशयति मन्दः स दण्ड्यो राजसेवकः ॥१९ ॥
यत्रैकस्य वधेनैव रक्षिताः स्युः सहस्रशः ।
तत्रैको मृत्युदण्डार्हः सोऽयं दण्डेन युज्यताम् ॥२० ॥
वशिष्ठवचनाद्रामो नारदेनानुमोदितः ।
गत्वा वनमपश्यत्तं शम्बूकं तपसि स्थितम् ॥२१ ॥

ब्राह्मण द्वारा आदिष्ट राघव भगवान् ने जब इस मृत्यु की जांच पड़ताल की, तो विदित हुआ कि यह अनर्थ शम्बूक की अनुपस्थिति के कारण हुआ है। अवकाश न ले कर, बिना कुछ सूचना दिए यह शम्बूक तप करने के लिए चला गया, इस कारण सब मार्ग मल से दूषित हो गए। इस एक व्यक्ति के अपराध से अनेक प्रजाजन रोगों से पीड़ित हो गए। ब्राह्मण का बालक मर गया, कितना अनर्थ फैला। तब धर्मात्मा भगवान् राम ने अपने गुरु वशिष्ठ जी से पूछा कि ऐसी स्थिति में राजा का धर्मशास्त्रों में क्या कर्तव्य निरूपित है ? तब मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी ने कहा कि हे राम ! इस विषय में वेद में जो कुछ कहा है, सुनो। जो मूर्ख अपनी व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए अपने धर्म का तो परित्याग कर देता है और अन्यजनों को क्लेश पहुंचाता है, वह राजकर्मचारी दण्ड के योग्य है। जहाँ एक व्यक्ति के वध से सहस्रोंकी जान बचती हो, वहां वह एक मृत्युदण्ड का पात्र है, सो इसे मृत्युदण्ड मिलना चाहिए। श्रीनारदजी ने भी वशिष्ठ मुनि की इस बात का समर्थन किया। तब गुरु की आज्ञा से राम वन को गए और वहां शम्बूक को तप करते हुए देखा।

पप्रच्छ रामः किमिदमकृत्यं क्रियते त्वया।
त्यक्त्वा वर्णोचितं धर्मं निजकृत्यं विहाय च॥२२॥
अनेन तेऽपराधेन रोगार्ता बहवो जनाः।
मृतो द्विजसुतो बालो धिक् त्वां देवत्वप्रार्थिनम्॥२३॥
मर्यादारक्षणार्थं हि वेदवित् साग्निको द्विजः।
शिवभक्तोत्तमः श्रीमान्नवध्यो रावणो हतः॥२४॥
प्रजाराधननिष्ठेन मया सीता पतिव्रता।
त्यक्ता रजकतुष्ट्यर्थं किं त्वया नावबुध्यते॥२५॥
स्वकीयः परकीयो वा ब्राह्मणो वा तथान्त्यजः।
मर्यादाभेदकः सर्वो मम वध्यो नराधमः॥२६॥
इत्युक्त्वा निजहस्तेन खड्गमुद्यम्य राघवः।
जनानां पश्यतां तस्य शिरः कायादपातयत्॥२७॥

श्रीराम ने पूछा - हे शम्बूक ! तुम यह क्या अकृत्य कर रहे हो ? तूने अपने वर्णोचित धर्म का और स्वकर्तव्य का भी परित्याग किया है, तेरे इस अपराध से अनेक जन पीड़ित हो गए हैं। एक ब्राह्मण का बालक मर गया है। देवता बनने की दुरभिलाषा करने वाले तुझे धिक्कार है। मैंने धर्ममर्यादा की रक्षा के लिए ही वेदपाठी, अग्निहोत्री, शिवभक्तों में अग्रगण्य, ब्राह्मण होने के कारण अवध्य ऐश्वर्यशाली रावण का वध किया था। प्रजानिष्ठ मैंने एक रजक प्रजा के संतोष के लिए ही पतिव्रता सीता का त्याग किया था। क्या तुझे मेरे इन कृत्यों का पता नहीं है ? अपना हो चाहे पराया हो, ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज हो, जो भी धर्ममर्यादा का उल्लंघन करेगा, वह नराधम मेरे द्वारा वध योग्य है। ऐसा कहते हुए राम भगवान् ने अपने हाथ में खड्ग उठाया और सब लोगों के देखते-देखते उसका शिर धड़ से अलग कर दिया।

पुनरागत्य साकेतं रामेण द्विजबालकः।

चिकित्सितो भिषग्वर्यैः ब्राह्मणैश्चाभिमन्त्रितः ॥२८॥
मृत्युञ्जयमहामन्त्रजपेन परिरक्षितः। अचिरेणैव कालेन सम्यग् जातो निरामयः ॥२९॥
देवा दुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिरभूत्तदा। रामस्य जयघोषेण पूरिताश्च दिशो दश ॥३०॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यच्छ्रुतं नारदान्मया। शम्बूकतापसवधरहस्यं हेतुगर्भितम् ॥३१॥

फिर श्रीराम अयोध्या में वापस आये। उन्होंने उत्तम वैद्यों द्वारा बालक की चिकित्सा करवाई और वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा धर्मानुष्ठान करवाया। महामृत्युञ्जय आदि सिद्ध मन्त्रों का जाप करवाया। इन सब कृत्यों से वह मृत बालक थोड़े ही समय में सब प्रकार से स्वस्थ हो गया। तब देवगण ने दुन्दुभियां बजायीं और पुष्पों की वर्षा होने लगी। श्रीराम भगवान् के जयघोष से दसों दिशाएं गूंजने लगीं। इस प्रकार मैंने नारद जी से शम्बूक तापस के वध का जो हेतु-गर्भित रहस्य सुना था, वह सब तुम्हें बता दिया है।

यहाँ ध्यान देंगे कि शम्बूक के सामने स्वयं भगवान् श्रीराम सीतानिर्वासन को स्वीकार कर रहे हैं। मैं पूर्वकाल में ऋग्वेद से सीतात्याग और शम्बूकवध का प्रमाण मन्त्र-रामायण के आधार पर दे चुका हूँ। वहाँ वाल्मीकिजी का नाम वम्री आया है। श्रीरामभद्राचार्य तो वेदों का प्रमाण स्वीकार करेंगे ही किन्तु यह भी कुतर्क कर सकते हैं कि जब श्रीरामजी त्रेतायुग में हुए तो ऋग्वेद में उनके द्वारा शम्बूक वध एवं सीतानिर्वासन की घटना का वर्णन कैसे हो सकता है क्योंकि वेद तो अनादि हैं, अपौरुषेय हैं, फलतः ऋग्वेद भी प्रक्षिप्त है। इस शंका का भी मैं सप्रमाण समाधान कौशिक रामायण से करता हूँ।

श्रीसूत उवाच
गाधीपुरस्य निकटे जाह्नव्या दक्षिणे तटे। क्षेत्रं बकसरो नाम नानावृक्षोपशोभितम् ॥
लतागुल्मनिकुञ्जाढ्यं सर्वर्तुसुखसंयुतम्। वन्यपुष्पसमाकीर्णं कन्दमूलफलाधिकम् ॥

श्रीसूतजी कहते हैं - गाधीपुर के निकट गंगा के दक्षिण तट के पास 'बकसर' नाम का क्षेत्र है जो नाना वृक्षों से सुशोभित है, वह लता, वनस्पति तथा निकुञ्जों से युक्त, सब ऋतुओं में सुखप्रद, वन्य पुष्पों से सुगन्धित एवं कन्दमूल फलों से समृद्ध था। (गाधीपुर का अर्थ

है, ऐसी नगरी जहाँ महाराज गाधि शासन करते हों। बकसर का अर्थ है, ऐसा स्थान जो बगुलों से भरे सरोवर से घिरा हो। कालान्तर में विधर्मियों के द्वारा गाधीपुर का नाम बिगाड कर गाजीपुर, एवं बकसर को बक्सर कर दिया गया।)

तत्र गाधीसुतः श्रीमान् कौशिको मुनिसत्तमः।
निर्माय स्वाश्रमं दिव्यमुवास तपसि स्थितः॥
स्वाध्यायनिरतास्तस्य शिष्या अयुतसंख्यकाः।
तत्रैव निवसन्ति स्म ब्रह्मचर्यव्रते स्थिताः॥
(एवं) कुलपतेस्तस्य प्रियः पुत्रत्वमागतः। शिष्येष्वन्यतमो वर्णी देवरात इति स्मृतः॥
एकदा कौशिकः श्रीमान् सम्यक् हुतहुताशनः।
आस्थितः शिष्यसदसि पाठयामास सुव्रतः। देवरातस्तदा वाक्यं प्रोवाच वदतांवरः॥

वहाँ महाराज गाधी के पुत्र श्रीमान् कौशिक (विश्वामित्र) नामक मुनीश्वर अपना दिव्य आश्रम बना कर तप करते हुए निवास करते थे। उनके वेदशास्त्र पढ़ने वाले दश सहस्र शिष्य थे, जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वहां निवास करते थे। उन कुलपति महर्षि कौशिक का प्रिय पुत्र रूप में स्वीकृत एक देवरात नाम का उत्तम ब्रह्मचारी शिष्य था। एक बार अच्छे व्रत का पालन करने वाले व्रत श्रीमान् कौशिक मुनि भलीप्रकार अग्निहोत्र आदि नित्यकृत्य से निवृत्त होकर शिष्यगणों में बैठे हुए उन्हें पढ़ा रहे थे। तब वक्ताओं में उत्तम देवरात शिष्य ने पूछा। (देवरात ने पहले विश्वामित्र और श्रीरामजी के द्वारा सम्मिलित यज्ञरक्षा और धनुषभंग आदि कथाओं का वर्णन किया और श्रीरामजी के वनगमन एवं रावणवध आदि का उल्लेख करके आगे के श्लोकों में पूछा -)

अतः पृच्छामि भगवन् प्रणम्य तव पादयोः।
कियत् रामायणं काव्यं सम्पूर्णं सर्वतोमुखम्॥
यत्पाठादखिलं रामचरितं विदितं भवेत्। अथ तत्रापि वैविध्यं किमर्थं मुनिसत्तम॥

अतएव आपके चरणों में प्रणाम करके मैं पूछता हूँ कि सम्पूर्ण रामायण काव्य कितने

प्रमाण वाला है, जिसके पढ़ने से सम्पूर्ण रामचरित का परिज्ञान हो जाए। अथवा रामचरित का अनेक ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से वर्णन किया मिलता है, यह विविधता क्यों है ?

कौशिक उवाच

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना॥
अनन्ता वै यथा वेदास्तथा रामकथा मता।
ऋग्वेदस्य च या मुख्या लोके शाकलसंहिता॥
तस्या हि विद्यते सूक्तं दृष्टं वम्रिमहर्षिणा।
तदेव प्रथमं बीजं प्रथमं श्रीरामचरितस्य हि॥
वेदे यो वम्रिरित्युक्तो लोके वाल्मीकिरेव सः।
द्वावप्येतौ समानार्थौ शब्दौ नात्र हि संशयः॥
दृष्ट्वा क्रौञ्चवधं क्षुब्धो निषादं मुनिपुङ्गवः। शशाप शोकसन्तप्तो भगवत्प्रेरिताशयः॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

श्रीकौशिकजी बोले - वेदों के द्वारा जिसको जाना जा सकता है, ऐसे परमपुरुष भगवान् जब दशरथ के यहां पुत्र रूप में अवतरित हुए, तब साक्षात् वेद ही प्रचेतापुत्र महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण के रूप में प्रादुर्भूत हो गये। सो जैसे वेद अनन्त हैं, इसी प्रकार रामकथा भी अनन्त है। ऋग्वेद की शाकल नाम की शाखा लोक में प्रसिद्ध है, उस संहिता में ही वम्रि नामक ऋषि द्वारा समाधि में दृष्ट एक सूक्त है। रामचरित का वह सूक्त ही प्रथम बीज है। वेद में रामचरित सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि का नाम 'वम्री' कहा गया है, लोक में उसे ही 'वाल्मीकि' कहा गया है। उक्त वम्री और वाल्मीकि दोनों ही शब्द समान अर्थ वाले हैं, इसमें संशय नहीं है। मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि जब एक निषाद द्वारा क्रौञ्चमिथुन में से एक पक्षी के वध से क्षुब्ध और शोक सन्तप्त हुए तो भगवत्प्रेरणा से उनके मुख से यह शाप निकला कि - 'हे निषाद ! तू दीर्घकालिक को प्रतिष्ठा को प्राप्त मत हो क्योंकि तूने क्रौञ्च युगल में से काममोहित एक पक्षी का वध कर डाला है।

(ऊपर वर्णित श्लोकसमूह में जो पहला श्लोक है, वेदवेद्ये परे पुंसि, उसे श्रीरामभद्राचार्य

अगस्त्य संहिता के सन्दर्भ से रामायण को वेदतुल्य सिद्ध करने हेतु कर प्रयोग कर चुके हैं। आगे के वेदे यो वम्रिरित्युक्तो आदि श्लोकों में मेरी उस बात का समर्थन है जिसमें ऋग्वेद से मैंने वम्री ऋषि/वाल्मीकि के द्वारा सीतात्याग और शम्बूकवध का प्रमाण दिया था। अन्तिम श्लोक मा निषाद प्रतिष्ठां, का वर्णन रामायण के दूसरे सर्ग में हुआ है जिसे पहले मेरे विरुद्ध प्रयोग करने के बाद श्रीरामभद्राचार्य ने स्वयं ही प्रक्षिप्त घोषित कर दिया था।) अच्छा, देवरात को इतना कहकर विश्वामित्र जी ने आगे बताया -

इत्थं श्लोकत्वमापन्नो यस्य शोको महात्मनः। स नारदोपदेशेन तद्बीजं वेदमध्यगम्॥
गृहीत्वा निर्ममे काव्यमादिमं मुनिसत्तमः। चतुर्विंशतिसाहस्रं नानाख्यानोपशाभितम्॥
तद्विद्धि छन्दसां मातुर्व्याख्यारूपं हि केवलम्।
एकैकाक्षरमादाय सहस्रश्लोकमण्डितम्॥

इस प्रकार जिस महात्मा वाल्मीकि का 'शोक' भी 'श्लोक' रूप को प्राप्त हो गया, तब देवर्षि नारद के उपदेश से वही वेदोक्त रामचरित का बीज लेकर उसी के उपोद्बलन द्वारा आदिकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) का निर्माण किया गया। यह ग्रन्थ चौबीस सहस्र श्लोकात्मक है और रामकथा से सम्बन्धित अनेक आख्यानों से संयुक्त है। यह काव्य वेदमाता गायत्री के चौबीस अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर पर एक-एक सहस्र श्लोकात्मक व्याख्या रूप ही है।

(इसके बाद महर्षि विश्वामित्र ने बताया कि कैसे रामायण सौ करोड़ श्लोकों की थी जिसे लेने के लिए तीनों लोकों में भगदड़ मची तो शिवजी ने उसे सबों में विभाजित किया और अन्त में बचे दो अक्षर 'राम' को स्वयं ग्रहण कर लिया। इस घटना का आनन्दरामायण के प्रमाण से अपनी पिछली पुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसंग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' में विस्तार से कर चुका हूँ, अतः कौशिकरामायण के श्लोक नहीं लिख रहा हूँ। अब इस प्रकरण के आगे के श्लोकों को देखें)

तदेव रामचरितं व्यासादिमुनिपुङ्गवैः। विभिन्नदृष्ट्या व्याख्यातं स्वस्वग्रन्थेषु सुव्रत॥

ऐतिहासिकदृष्ट्या तद्विद्धि वाल्मीकिवर्णितम्।
अध्यात्मदृष्ट्या चाध्यात्ममानन्दाख्ये रसात्मकम्॥
पुराणोपपुराणेषु भक्तिभावेन वर्णितम्। अद्भुते चाद्भुतं तद्धि दिव्यं हनुमदीरितम्॥
अनन्तं रामचरितमेकस्मिन् पुस्तके कथम्।
तद्धि वर्णयितुं शक्यमतो ग्रन्थाः सहस्रशः॥

हे अच्छे व्रत को धारण करने वाले देवरात ! वह रामचरित फिर वेदव्यास आदि महामुनियों द्वारा अपने रचित पुराणादि ग्रन्थों में विभिन्न दृष्टियों से निबद्ध किया गया है। उन में श्रीवाल्मीकि द्वारा वर्णित रामचरित इतिहास प्रधान शैली में निबद्ध है। अध्यात्म रामायण में यह आध्यात्मिक शैली से वर्णित है और आनन्द रामायण में रसात्मक शैली से वर्णित है। पुराणों और उपपुराणों में वह भक्ति प्रधान शैली से वर्णित है। अद्भुत रामायण में बड़ी अद्भुत रीति से वर्णित है, श्रीहनुमानजी के अपने 'हनुमन्नाटक' में वह दिव्य रूप में वर्णित है। जब श्रीरामचरित अनन्त है तब एक ग्रन्थ में कैसे सब समा सकता है, इसलिए रामायण के सहस्रोंग्रन्थ हैं।

अकूपारो यथा सिन्धुश्चुलकीकर्तुमक्षमः। तथैव रामचरितं नैकस्मिन् माति पुस्तके॥
अतो हि बहवो ग्रन्था नानारामकथात्मकाः।
नानात्वं दूषणं नास्ति भूषणं तद्धि सुव्रत॥
परस्परविरोधोऽपि यो ग्रन्थेषु विलोक्यते। सोऽपि साधुसमाधेयः कल्पभेदोपलक्षितः॥
कल्पे कल्पे भगवतो ह्यवतारा भवन्ति हि।
लीलावैविध्यमप्यस्मिन् नासम्भाव्यं हि पुत्रक॥

जैसे अपार समुद्र चुल्लू में भर सकना असम्भव है उसी प्रकार रामचरित भी एक ग्रन्थ में समा सकना असम्भव है। इसलिए भगवान् राम की नाना भांति की कथाओं वाले अनेक ग्रन्थ हैं। यह अनेकता दूषण नहीं किन्तु भूषण ही है। विविध रामायण ग्रन्थों में जो परस्पर विरोध दृष्ट है वह भी कल्पभेद से भली प्रकार समाधान करने योग्य है क्योंकि प्रत्येक कल्प में भगवान् के अवतार होते हैं, सो हे पुत्र ! विभिन्न कल्पों में लीलाओं का कुछ वैभिन्न्य भी

असम्भव नहीं है।

देवरात उवाच

अनादिनिधना वेदा इति शास्त्रविनिर्णयः। तत्रास्ति रामचरितं श्रीमद्भिरित्युदीरितम्॥
रामावतारो भवति ब्रह्मन् त्रेतायुगे सदा। त्रेताकालीनघटना वेदेषु घटते कथम्॥
तथा सति तु वेदानामनादित्वं विनश्यति। इति मे संशयस्तात समाधेयस्त्वयाधुना॥

देवरात ने कहा - समस्त शास्त्रों का यह निर्णीत सिद्धान्त है कि वेद अनादि और अनन्त हैं परन्तु आपने कहा है कि वेद में राम का चरित्र वर्णित है। हे ब्रह्मन् ! रामावतार तो त्रेतायुग में घटित होता है, फिर त्रेताकालीन घटना का वर्णन अनादि वेद में कैसे सम्भव है ? ऐसा मानने पर वेदों का अनादित्व नहीं रहता, मुझे यह बहुत बड़ा संशय है। हे तात ! अब इसका समाधान कीजिए।

कौशिक उवाच

अनादिनिधना वेदा इतिहासविवर्जिताः। मीमांसकानां सिद्धान्तः सर्वतन्त्रो न संशयः॥
परं भगवतो विष्णोर्नित्यलीलाश्रिताः कथाः।
त्रिकालाबाधिता या यास्तास्ता वेदेषु वर्णिताः॥
भूतं भव्यं भविष्यं यत्सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।
एषो मनूक्तस्सिद्धान्तोऽपवादः सर्वसम्मतः॥
त्रिकालज्ञप्रभोर्ज्ञानं नहि तत्कालबाधितम्। भविष्यमपि तद्ज्ञाने वर्तमानवदास्थितम्॥

कौशिक जी ने कहा - इसमें सन्देह नहीं कि मीमांसकों का यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि वेद आदि एवं अन्त से परे तथा इतिहास के उपाख्यानों से रहित हैं, परन्तु भगवान् विष्णु की जो त्रिकालाबाधित नित्य लीलाश्रित कथाएं हैं, वे सब वेद में वर्णित हैं। 'भूत भविष्यत् और वर्तमान सब कुछ वेद से सिद्ध होता है', यह मनुप्रोक्त सिद्धान्त सर्वसम्मत और अनैतिहासिकता का अपवाद है। त्रिकालज्ञ भगवान् का ज्ञान काल द्वारा बाधित नहीं होता, भविष्यत्कालीन ज्ञान भी भगवान् के ज्ञान में वर्तमान की भांति ही सदैव प्रस्फुटित रहता है।

वेदोक्तान्येव नामानि दर्शं दर्शं मुनीश्वराः।
पश्चात् लोकेषु तान्येव ख्यापयन्ति यथातथम्॥
वेदेऽवलोक्य गङ्गाया वर्णितं नाम सुव्रत।
दृष्ट्वा समाधौ लोके तद्भागीरथ्या विनिश्चितम्॥
भागीरथनृपात्पश्चान्निर्मिता वेदसंहिता। इत्याशङ्का मृषा यस्माद्वेदात्सर्वं हि निर्बभौ॥
तस्माद्वेदेषु दृश्यन्तेऽवताराणां शुभाः कथाः।
नैवात्र विस्मयः कार्यो वेदो नारायणः स्वयम्॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे स हि सर्वात्मा रामरूपी जनार्दनः॥

वेदोक्त नामों को देख-देख कर ही मुनीश्वरों ने पश्चात् संसार में वैसे ही नाम रखे हैं। हे सुव्रत ! वेद में गंगा का नाम 'भागीरथी' वर्णित देख कर मुनिजनों ने समाधि द्वारा यह निश्चय किया कि राजा भगीरथ द्वारा आनीत जलधारा का ही यह नाम होना चाहिये , अतः तथैव प्रख्यापित किया। सो , राजा भगीरथ के बाद वेद बने, यहां ऐसी कल्पना व्यर्थ है क्योंकि वेद से ही सब कुछ भासित हुआ है। इसलिए वेदों में भगवान् के अवतारों की शुभ कथाएं बीज रूप में उपलब्ध होती हैं, इस में तुम्हें कुछ सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि वेद तो स्वयं नारायण ही हैं। समस्त वेद जिस प्रभु के निःश्वासभूत हैं, जो वेदों के द्वारा ही समस्त जगत् की रचना करते हैं, वही जनार्दन विष्णु भगवान् श्रीराम रूप में अवतरित हुए।

वेदेषु दृश्यते यो हि शब्दब्रह्मस्वरूपधृक्। स एव रामरूपेण लोकेऽवतरति प्रभुः॥
स्वस्वाज्ञां स्वयमेवेशश्चरित्वा दर्शयत्यसौ। अतः श्रीरामचरितं वेदसिद्धान्तदर्शनम्॥
ज्ञानं हि द्विविधं प्रोक्तं सिद्धान्ताचारभेदतः। सैद्धान्तिकं वेददृष्टं चरितं व्यावहारिकम्॥
ऋगादिकं तयोराद्यं परं रामायणं स्मृतम्। अतः श्रीरामचरितं श्रुतीनामुपबृंहणम्॥

वेद में शब्दस्वरूपधारी जो ब्रह्म दिखाई पड़ता है, वही प्रभु लोक में राम रूप में अवतरित

होता है। वे प्रभु अवतरित हो कर वेद में आदिष्ट अपनी आज्ञाओं को आचरण में परिणत करके दिखाते हैं। इसलिए रामचरित वैदिक सिद्धान्तों का क्रियात्मक निदर्शन है। सिद्धान्त और आचार के भेद से ज्ञान दो प्रकार का होता है। सो वेद में वह ज्ञान सिद्धान्तरूप में स्थित है और रामायण में व्यवहार में आने वाले रूप में विद्यमान है। ऋग्वेद आदि चारों वेदों में सैद्धान्तिक ज्ञान है और रामायण में आचरित ज्ञान है इसलिए रामचरित वेदों का ही उपबृंहण (व्याख्यान) है।

रामानुकरणायासो वेदाज्ञापालनव्रतम्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन रामो ध्येयः सदास्तिकैः॥
अन्येषामवताराणां मुन्यर्षिगुरुतद्विदाम्। उपदेशोऽनुसर्तव्यः सर्वदा सर्वथा बुधैः॥
परं तेषां य आचारो यावान् वेदानुमोदितः। तावानेवाऽनुसर्तव्यो न वान्धश्रद्धयापरः॥
लीलावताराः सन्त्यन्येऽल्पज्ञाश्चैव नरादयः।
एको हि भगवान् रामो मर्यादापुरुषोत्तमः॥
तस्योपदेशश्चाचारो ग्राह्यौ यत्नेन द्वावपि। सर्वेषामेव शास्त्राणां मथिताऽर्थोऽयमद्भुतः॥

श्रीराम भगवान् के आचरण का अनुकरण करना वस्तुतः वेद की आज्ञा पालन करने का व्रत है। इसलिए आस्तिकों को सब प्रकार के प्रयत्न से राम भगवान् का ध्यान करना चाहिए। राम से भिन्न अन्यान्य सभी देवताओं का और ऋषि, मुनि, गुरु आदि पूज्यजनों का उपदेश ही आस्तिकों द्वारा सदैव सर्वथा अनुसरणीय है। परन्तु उनका आचरण जितना वेद द्वारा अनुमोदित हो उतना ही अनुसरणीय है, अन्धश्रद्धा के कारण अधिक अनुसरणीय नहीं है क्योंकि राम भगवान् के अतिरिक्त अन्यान्य अवतार प्रायः लीलावतार होते हैं, और अन्य मनुष्य तो अल्पज्ञ ही होते हैं। एकमात्र भगवान् राम ही 'मर्यादा पुरुषोत्तम' हैं। श्रीराम का उपदेश और आचरण दोनों ही अनुसरणीय है। समस्त शास्त्रों का यही अद्भुत सारार्थनिर्णय है।

वेदे शिष्याः प्रबोध्यन्ते गुरुणा स्वयमेव हि।
यानि सुचरितान्येव ह्यस्माकं श्रृणु पुत्रकाः॥
तान्येव समुपास्यानि नेतराणि कदाचन।
यतो नरो बहुज्ञोऽपि न सर्वज्ञ इति स्थितिः॥

अल्पज्ञत्वात्प्रमादाद्वा कदाचाररतो भवेत्।
तेजीयांसः समर्था ये तेषां दिव्यं हि जीवनम्॥
नानुकर्तुं हि तच्छक्यं मनुजैरल्पशक्तिभिः।
विषदिग्धं पूतनायाः पपौ स्तन्यं जनार्दनः॥
मुञ्जाटवीदवाग्निञ्च शिवो हालाहलं विषम्। अल्पशक्तिर्नरस्तस्मान्न देवचरितं चरेत्॥

वेद में गुरु शिष्य को सर्वप्रथम स्वयं यही उपदेश देते हैं कि हे पुत्र ! सुनो, हमारे जो वेदानुमोदित अच्छे आचरण हों, उनका ही तुम अनुकरण करना, अन्यों का नहीं क्योंकि मनुष्य बहुत कुछ का ज्ञाता होता हुआ भी सर्वज्ञ तो नहीं होता, यह बात स्पष्ट है। इसलिए अल्पज्ञ होने के कारण अथवा प्रमादवश मनुष्य अधर्म के आचरण में रत हो सकता है। जो तेजस्वी और समर्थ होते हैं उनका जीवन दिव्य कोटि का होता है, अल्पशक्ति वाला साधारण मनुष्य उनके दिव्य आचरणों की नकल नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने पूतना का विषाक्त स्तनपान किया और मुञ्जवन में लगी अग्नि का भी पान किया। भगवान् शिव ने हालाहल विष का पान किया, क्योंकि वे समर्थ थे। इसलिए अल्पशक्ति वाले मनुष्य को देवताओं के आचरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए।

अब श्रीरामभद्राचार्य ने दूसरा प्रश्न किया है कि भगवान् श्रीराम तो सर्वज्ञ हैं फिर नारद जी से या वशिष्ठ जी से क्यों पूछा, शम्बूक को 'खोजने' की क्या आवश्यकता रही, उसका परिचय पूछने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् तो तब भी सर्वज्ञ थे जब वे गुरुकुल गए। भगवान् तो तब भी सर्वज्ञ ही थे जब वे सीताजी के विरह में उन्हें 'खोज' रहे थे, और यही लीला भगवती सती के मोह का आधार बनी। श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – १०, उत्तरार्ध, अध्याय – ६४, श्लोक – ०७ में भगवान् श्रीकृष्ण सब जानते हुए भी राजा नृग से 'संसार को शिक्षा देने के लिए' उनका परिचय पूछते हैं -

पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम्॥

राजा नृग जानते हैं कि भगवान् सर्वज्ञ होते हुए भी लीलापूर्वक पूछ रहे हैं तो उन्होंने इस बात को जताते हुए उत्तर दिया कि आपकी आज्ञा के कारण बता रहा हूँ -

किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया॥

भगवान् लीला और मर्त्यशिक्षण के निमित्त सर्वशक्तिमान् होकर भी परामर्श - सहायता लेते हैं। सर्वज्ञ होकर भी पूछते हैं, खोजते हैं। भयनाशक होकर भी लोकापवाद से भयभीत होते हैं। श्रीकृष्ण के रूप में आते हैं तो माता यशोदा को बाललीला से आनन्दित करने हेतु उनकी छड़ी से बचने के लिए 'भयभीत होकर भागते और रोते हैं'।

तां आत्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरः ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥
अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलत् श्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत्॥
कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कर्षन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत्॥
त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – १०, पूर्वार्ध – अध्याय - ०९)

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – १०, पूर्वार्ध, अध्याय - ०८)

प्रेमभाव के कारण श्रीराधाजी से भी भयभीत होते हैं -

कृष्णं कृत्वा सावधानं गोपैः सार्द्धं पलायितः।
भयेन कृष्णः सन्त्रस्तो विहाय विरजां सतीम्॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, अध्याय - ४९, श्लोक - २०)

स्वयं जगन्नाथ होकर भी वैकुण्ठ पर हुए आक्रमण में हिरण्यकशिपु से भयाक्रान्त होने की लीला करते हुए उसके हृदय में छिप जाते हैं -

यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव।
अतोऽहं अस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः॥
एवं स निश्चित्य रिपोः शरीरमाधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेहस्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण)

महाकाल भगवान् शिव मृत्युंजय होकर भी भस्मासुर के प्रकरण में 'मृत्यु के भय से' भागने की लीला करते हैं -

स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताच्छिवः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – १०, उत्तरार्ध, अध्याय - ८८, श्लोक – २३)

ऐसे ही अन्य प्रकरणों में भी समझना चाहिए। अच्छा, श्रीरामभद्राचार्य के महिमामंडन में एक लेख आपने सोशल मीडिया पर अवश्य ही पढ़ा होगा जिसका सार यह था कि कैसे श्रीरामजन्मभूमि विवाद में न्यायालय के एक मुसलमान जज ने वेदों से प्रमाण माँगा था तब श्रीरामभद्राचार्य ने 'ऋग्वेद की जैमिनीय संहिता' से प्रमाण दिया। कोर्ट के आदेश से 'ऋग्वेद की जैमिनीय संहिता' मंगायी गयी और सारा प्रमाण अक्षरशः देखकर जज हैरान रह गया और इस प्रकार हिन्दुओं के पक्ष को श्रीरामभद्राचार्य के कारण बल मिला।
अब मैंने बहुत खोजा किन्तु आजतक मुझे कहीं से यह सूचना नहीं मिल पायी कि इतने

महत्वपूर्ण विषय पर हुई इस ऐतिहासिक घटना में कौन से दिनांक को यह घटना घटित हुई, किस अदालत में हुई, मुसलमान जज का नाम क्या था और सबसे बड़ी बात कि 'ऋग्वेद की जैमिनीय संहिता' कैसे और कहाँ से मिली ?

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः। इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते॥
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः। वैशंपायन एवैको निष्णातो यजुषामुत॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः। इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥
(श्रीमद्भागवत महापुराण, स्कन्ध – ०१, अध्याय- ०४, श्लोक - २०-२२)

सूतजी कहते हैं - वेदव्यासजी के द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का उद्धार किया गया। इतिहास (महाभारत) एवं पुराणरूपी पञ्चमवेद भी बनाये गये। इसमें ऋग्वेद पैल नामक ऋषि को, सामवेद विद्वान् जैमिनी ऋषि को, यजुर्वेद वैशम्पायन मुनि को एवं अथर्ववेद कठोर व्रत वाले सुमन्तु मुनि को पढाया गया। इतिहास और पुराण वेदव्यासजी ने मेरे पिता रोमहर्षण को पढाया।

अब मुझे यह समझ नहीं आता कि जब जैमिनी को सामवेद पढाया गया, ऋग्वेद नहीं, तो 'ऋग्वेद की जैमिनीय संहिता' श्रीरामभद्राचार्य को कहाँ से मिल गयी ? जैमिनीय सम्बन्धी वेदोक्त संहितारण्यकादि तो सामवेद में होते हैं, ऋग्वेद में नहीं। किन्तु कितने चमत्कार की बात है कि इतनी बड़ी घटना हुई कि मुसलमान जज ने व्यंग किया, श्रीरामभद्राचार्य ने ऋग्वेद की जैमिनीय संहिता से प्रमाण दिया. फिर कोर्ट के आदेश से वह ग्रन्थ मंगाकर जाँच की गयी और श्रीरामजन्मभूमि के पक्ष में निर्णय भी सुनाया गया किन्तु आजतक न तो उस मुसलमान जज का नाम ही पता चला और न किसी को ऋग्वेद की उस जैमिनीय संहिता के दर्शन ही हुए।

वेदों में अयोध्या का वर्णन अवश्य है किन्तु किसी 'ऋग्वेद की जैमिनीय संहिता' में नहीं, यजुर्वेद के तैत्तरीय आरण्यक में है और अथर्ववेद में भी है - अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। (अथर्ववेद, काण्ड- १०, सूक्त – ०२) इसका विस्तृत अर्थ और व्याख्यान

कौशिक रामायण में प्राप्त होता है -

देवरात उवाच
अयोध्येति पुरी नाम किं निर्हेतुकमुच्यते।
अपि वा हेतुसहितमेतन्मे छिन्धि संशयम्॥

देवरात बोले - इस पुरी का जो 'अयोध्या' नाम है, वह अकारण ही ऐसा है कि उक्त नाम का भी कुछ हेतु है, मेरे इस संशय को दूर कीजिए।

कौशिक उवाच
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरुदाहृता।
तस्यां हिरण्मयः कोशः सुगुप्तो ज्योतिषावृतः॥
इत्येतद्वेदमन्त्रेषु रहस्यं प्रतिपादितम्। परोक्षप्रियका देवाः परोक्षं भगवत्प्रियम्।
परोक्षेणैव कवयस्तत्त्वं प्रकटयन्ति हि॥
शब्दार्थश्लेषविधिना प्रायोऽर्थास्त्रिविधाः स्मृताः।
आत्मानमधिकृत्योक्तोऽर्थो ह्याध्यात्मिक उच्यते॥
अध्यात्मपक्षे देहोऽयमष्टवायव्यचक्रयुक्। एवमेव हि विज्ञेयावाधिदेवाधिभौतिकौ॥

कौशिक (विश्वामित्र) जी बोले - वेद में 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' ऐसा मन्त्र है और उसमें ज्योति से जाज्वल्यमान सुरक्षित कोश है, यह भी उक्त वेदमन्त्र में यह रहस्य वर्णित है। देवगण परोक्षप्रिय होते हैं, भगवान् को भी परोक्ष प्रिय है। कविजन भी परोक्ष शैली से ही गूढ़ तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं। शब्दों के अर्थ का विश्लेषण करने की रीति से अर्थ तीन प्रकार के होते हैं। जो आत्मा को अधिकृत करके अर्थ निकलता है उसे 'आध्यात्मिक' कहते हैं। अध्यात्म पक्ष में यह देह आठ प्रकार के वायुनिर्मित चक्रों (अदृश्य क्षेत्र) से युक्त है। इसी प्रकार 'आधिदैविक' और 'आधिभौतिक' अर्थ भी समझने चाहिए।

नव द्वाराणि सन्त्यस्मिन् पुरीयं देवनिर्मिता।
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलाकाशपञ्चभूतचयः पुमान्॥
सूर्यः प्राणान् मनश्चन्द्रो भौमः सत्त्वं बुधो गिराम्।
ईज्यो धियं कविः शुक्रं देहे दुःखं ददौ शनिः॥
देवैर्विरचिता ह्येषा तस्माद्देवपुरी स्मृता। अस्यां हि दहराकाशे हृदि कोशाख्य ईश्वरः॥
आस्ते सुरक्षितः सम्यग् ज्योतिर्भिः परिवारितः।
योद्धुमशक्या कालेन ततोऽयोध्येति कीर्तिता॥

इसमें नौ द्वार (दो अधोभाग में और सात ग्रीवा से ऊपर द्वार) बने हैं। देवताओं ने ही इस पुरी का निर्माण किया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों का संघात ही यह मनुष्य शरीर है। इस देह में सूर्य ने प्राण, चन्द्रमा ने मन, मंगल ने सत्व (अथवा रक्त), बुध ने वाणी, बृहस्पति ने बुद्धि, शुक्र ने वीर्य और शनि ने दुःख प्रदान किया है। क्योंकि इसका निर्माण देवगण द्वारा हुआ है इसलिए इसका नाम 'देवपुरी' है। इसमें हृदय के दहराकाश के मध्य में जो ईश्वरांशभूत चेतन जीव विद्यमान है वही ज्योतियों से जाज्वल्यमान भली प्रकार गुप्त खजाना है। साक्षात् काल के द्वारा भी यह सर्वथा अजेय है (इस मानव देह को जब चाहे तब काल नहीं खा सकता) इसलिए ' योद्धुमशक्या ' - अयोध्या' ऐसा इसका अन्वर्थ नाम है।

यथा रूपकमाश्रित्य देहोऽयं साधु वर्णितः।
तथैव वर्ण्यतेऽयोध्या रामस्य पावनी पुरी॥
अष्टचक्राप्तदुर्गेण महार्हेण सुशोभिता।
नवद्वारवती दिव्या रत्नकोशसमुज्ज्वला॥
एषापि योद्धुं न शक्या शत्रुभिः प्रबलैरपि।
अतोऽयोध्येति नामापि सहेतुकमुदाहृतम्॥
(कौशिकरामायण)

जिस प्रकार अध्यात्म पक्ष में उपर्युक्त रीति से अयोध्या वर्णित है उसी प्रकार राम भगवान्

की पवित्र पुरी भी वर्णित है। अयोध्या नगरी भी बहुत दिव्य आठ प्रकार के चक्ररूपी दुर्ग (किला) से सुशोभित है। नवद्वारों से संयुक्त है, नाना रत्नों से भरे कोश से यह देदीप्यमान है। इस नगरी से भी कोई प्रबल युद्ध करने की क्षमता नहीं रखता, इस प्रकार इस नगरी का यह 'अयोध्या' नाम भी सहैतुक है, ऐसा मैंने बताया।

अतः सनातनधर्म के सदस्यों को चाहिए कि बिना सत्य को जाने समझे किसी के निजी यश और प्रतिष्ठा को बढ़ाने के निमित्त फैलाये गये असत्यपूर्ण वक्तव्य और उपलब्धियों पर विश्वास नहीं करें। अपने धर्मशास्त्रों और उनकी प्रामाणिकता पर पूर्ण विश्वास और श्रद्धा रखें। भगवान् की लीला का कोई रहस्य एवं उद्देश्य समझने में भ्रम हो तो उसे प्रक्षिप्त घोषित करने के स्थान पर अपनी प्रतिष्ठा से शास्त्र की प्रतिष्ठा को ऊपर रखने वाले मान्य सदर्थप्रकाशक आचार्यों की शरण में जाकर उस प्रकरण को साङ्गोपाङ्ग समझें।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का "नवीन" कुतर्क

सनातनधर्म को निर्बल बनाने के लिए बौद्ध आचार्यों ने "दशरथजातक" में जिस प्रकार नीच कल्पना करने का साहस कर लिया कि राम ने अपनी बहिन सीता के साथ विवाह किया, पर सौभाग्य से पाली में था एवं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के निर्मल चरित्र के आलोक में इस अत्यन्त घृणित कल्पना को कोई स्थान न मिल पाया। परन्तु विधर्मी फिर भी सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने दूसरा चक्र चलाया। अब जैनधर्मावलम्बी गुणाढ्य नामक कवि ने पाली भाषा में 'बड्डकहा' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें यह सिद्ध किया कि राम एक ऐसे अनाचारी राजा थे, जिन्होंने कुछ लोगों के कहने पर अपनी गर्भिणी पत्नी का परित्याग कर दिया और सीताजी ने पृथ्वी में प्रवेश करके शुद्धता प्रमाणित कर दी तथा राम जैनमर्यादा के अनुसार लुञ्चक होकर महानिर्वाण को प्राप्त हुए। यह सनातनधर्म के आस्था केन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के चारु चरित्र पर सीधा वज्रप्रहार था। इसी 'बड्डकहा' का आचार्य क्षेमेन्द्र ने जो जैन थे वृहद्कथा के नाम से संस्कृत में अनुवाद किया।

इस उत्तरकाण्ड के प्रत्येक कथानक को निःसार समझ कर प्रक्षिप्त ही मानना उचित होगा। कुछ लोग एक अपलाप करके उत्तरकाण्ड को वाल्मीकीय सिद्ध करना चाहते हैं। उनका कहना है कि यदि उत्तरकाण्ड नहीं माना जाएगा तो भगवान् का परधाम गमन कैसे सिद्ध होगा ? इस पर मुझे यही कहना है कि क्या कथित उत्तरकाण्ड के पक्षपातियों ने श्रीराम परधामगमन का ठेका लिया है ? अरे पगले ! यदि श्रीराम का परधामगमन सिद्ध न भी हो तो इसमें हानि ही क्या है ? अच्छा होगा वे हमें निरन्तर दर्शन देते रहेंगे और आज भी भक्तों को दर्शन देते ही हैं, हाँ जिनकी आँखें फूट गईं हैं और वासना के मल से जिनका मनोदर्पण मलिन हो, उन्हें भगवान् के दर्शन न हों तो कोई आपत्ति नहीं -

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना॥
(मानस १/११५/४)

परमार्थतः श्रीराम का परधामगमन हुआ ही नहीं। वे तो सर्वव्यापक हैं। श्री अवध ही उनका नित्यधाम है , भले उसे स्थूल - सूक्ष्म भेद से दो मान लें परन्तु श्री अवध एवं श्रीचित्रकूट को छोड़कर श्रीराघवेन्द्र कभी भी कहीं भी नहीं जाते यथा -

राम लखन रिपुदमन भरत के चरित सरित अन्हवैया।
तुलसी तबकेसे अबहूँ जानिये रघुबर नगर बसैया॥
(गी ० रा ० बा ० ९)

चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत।
राम नाम जप जापकहि, तुलसी अभिमत देत॥
(दोहावली ४)

इसलिए अनादि अवधपति श्रीराघवेन्द्र सरकार के परधामगमन को सिद्ध करने की क्या आवश्यकता ? अतएव तुलसीदास जी ने भी सप्तम सोपान में श्रीअवध की शीतल अमराई में ही श्रीराम को विश्राम करा दिया।

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ शीतल अबँराई॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
(मा ० ७/५०/५, ६)

इसी हेतु इस झंझट से बचते हुए महर्षि वाल्मीकि ने युद्धकाण्ड में ही कथा को विश्राम दे दिया। यहाँ एक प्रश्न उठाना अत्यन्त स्वाभाविक होगा कि यदि राम का साकेतगमन नहीं तो फिर मानस में श्रीपार्वती जी ने भगवान् शंकर से तद्विषयक प्रश्न ही क्यों किया ?

बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंशमनि, किमि गवने निज धाम॥
(मा ० १ / ११०)

इसका उत्तर भी बहुत सूक्ष्म एवं आनन्दवर्धक है। यहाँ पार्वती जी प्रजा शब्द का प्रयोग अवधवासियों के लिए नहीं कर रही हैं, प्रत्युत वानरों के लिए दशवें प्रश्न में रावणवध की चर्चा आते ही पार्वतीजी प्रसन्नता के अतिरेक में सीधे रामराज्यलीला का प्रश्न कर बैठीं -

बन बसि कीन्हें चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥
राज बैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु शंकर शुभशीला॥
(मानस १ / ११० / ७,८)

पार्वती जी हर्ष के प्रवाह में रावणवध एवं रामराज्य के मध्यवर्ती श्रीराम के अवधगमनप्रसङ्ग को भूल गईं थीं, इसलिए प्रश्न के क्रम में पीछे लौटीं और कहा करुणायतन ! ग्यारहवें प्रश्न को कृपा करके फिर बतायें जो कि श्रीराम ने बहुत आश्चर्य किया। "कीन्ह जो अचरज राम" वह यह था कि आपके कथन के अनुसार वानरी सेना अनन्त है -

बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा॥

(मा ० ४/२२/१)

तो फिर अनन्त वानरी प्रजा को छोटे से पुष्पक में विराजमान कराकर श्रीराम सबके साथ पुष्पकविमान द्वारा श्रीअवध को कैसे गए ? इस प्रकार श्री राघव के परधामगमन विषयक प्रश्न को पार्वती जी ने स्वयं निर्मूल मान लिया, इसलिए उसको सिद्ध करने के लिए उत्तरकाण्ड को प्रामाणिक मानने में कुबुद्धियों को फोड़े की भाँति सँजोकर सनातनधर्म को विषाक्त बनाने का ये कुत्सित प्रयास ही है।

सौभाग्य से महाभारत, विष्णुपुराण, वाल्मीकीयमूलरामायण, मूल मानस आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में सीतानिर्वासन की चर्चा तक नहीं की गई। यद्यपि कालिदास भवभूति आदि भावुक कवियों ने सीतानिर्वासन घटना को प्रक्रिया के साथ स्वीकारा, परन्तु दक्षिणांचल अभिनव वाल्मीकि महाकवि कंब ने जो आठवीं शताब्दी में हुए सीता - निर्वासन की चर्चा तक नहीं की। इससे भी इस घटना की अप्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है। रंग - रामायण , रामनाथ- रामायण , एकनाथकृत - भावार्थ रामायण , उपेन्द्रभंज कृत वैदेही - सुविलास आदि ग्रन्थों में भी सीतावनवास की कोई चर्चा नहीं है। आधुनिक समालोचक वर्ग ने भी इस घटना के प्रति या तो प्रतिक्रिया व्यक्त की है या तो इसे प्रक्षिप्त मान लिया है।

शांतकुमार नान्हूराम व्यास ने तो अपने शोधप्रबन्ध में वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड को स्पष्ट रूप से प्रक्षिप्त ही माना है। हमारे पूर्वाचार्य साकेतवासी कवितार्किक सार्वभौम पण्डितराज जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीभगवदाचार्य महाराज ने तो उत्तरकाण्ड की क्षेपकता सिद्ध करने के लिए ही “उत्तरकाण्ड प्रविमर्श" नामक ग्रन्थ भी लिखा है। मणिपर्वत निवासी वेदान्त भूषण मानस तत्वान्वेषी पं ० श्री रामकुमार दासजी महाराज ने सीता - निर्वासन के खण्डन में 'अनिंदिता' नामक पुस्तक लिखी। एकांकी के जन्मदाता प्रयाग विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ ० रामकुमार वर्मा ने सीता - निर्वासन के ही विरोध में "उत्तरायण" नामक महाकाव्य लिखा। यद्यपि बहुतेरे संस्कृति के विद्वान् एवं अर्वाचीन हिन्दीसमीक्षक सीता - निर्वासन को मानते समय सन्देह या तो प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं पर तुलसीदास तुलसीदल के सामने यह एक क्षण नहीं टिक पाया।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

यह सत्य है कि बौद्ध और जैन साहित्य में बहुत सी आपत्तिजनक बातें लिखी हुई हैं किन्तु उन्हें इसी कारण से सनातन धर्म में प्रमाणस्वरूप स्वीकृत भी तो नहीं किया गया है। यहाँ तो स्पष्ट कहा गया है कि वेद, उपवेद, वेदांग, स्मृति, पुराण, उपपुराण, वेदसम्मत तन्त्र आदि एवं तदर्थप्रकाशक आप्तग्रन्थ, ऐसे चतुर्दश किंवा अष्टादश विद्यास्थान ही शिष्टजनों के द्वारा प्रमाण में ग्राह्य हैं जिसमें बौद्ध और जैन आदि के मत और ग्रन्थ ग्राह्य हैं ही नहीं। बौद्ध एवं जैनों के मत में जो श्रुतिमूलक पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि बातें हैं, बस वही उतने अंश में ग्राह्य हैं, अन्यथा कुछ भी नहीं। यह कितनी विचित्र बात है कि एक गुणाढ्य और क्षेमेन्द्र ने अपने मन से अपने स्वतन्त्र ग्रन्थों में कुछ जोड़ दिया तो हमारे सारे गुरुकुल और पाण्डुलिपि में उसे लोगों ने निर्विरोध स्वीकार कर लिया, और तो और पुराणों एवं अन्य रामायण आदि सब में मिलावट भी कर दी, साथ ही बौद्ध एवं जैन मतों के खण्डन में पूजा जीवन लगा देने वाले रामानन्दाचार्य जी, आचार्य कुमारिलभट्ट, वल्लभाचार्य जी, मध्वाचार्य जी आदि सबने उन नकली सीतात्याग, शम्बूक वध और उत्तरकाण्ड आदि से सम्बन्धित कथानक एवं सन्दर्भ अपने ग्रंथों में डालना भी आरम्भ कर दिया।

हे अज्ञानान्धकारप्रतिहतबुद्धे ! आप जो लिखते हैं कि उत्तरकाण्ड के प्रत्येक कथानक को प्रक्षिप्त मानना उचित होगा, उस सन्दर्भ में यद्यपि मैं विस्तार से सैकड़ों प्रमाण दे चुका हूँ किन्तु कुछ और प्रमाण ग्रहण करें। सीतात्याग, शम्बूक वध, लवणासुर वध, वाल्मीकि के आश्रम में सीताजी के द्वारा पुत्रों का जन्म, भगवान् का सभी प्रजाजनों के साथ अपने धाम जाना, दुर्वासा लक्ष्मण सम्वाद, श्रीराम के पास न्याय की आशा में कुत्ते का आना, महर्षि अगस्त्य के द्वारा श्वेत राजा का स्वशवभक्षण देखना आदि का और भी प्रमाण ग्रहण करें। बहुत विस्तार से नहीं लिख रहा हूँ, बस कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोक और ग्रन्थ का सन्दर्भ दे रहा हूँ, विस्तृत आख्यान वहीं मिलेगा। श्रीरामदरबार में कुत्ते का प्रमाण -

गच्छन्ति वै शुनो योनिं सत्यमेतद्वचो सम।
मया मठाधिपत्याच्च लब्धा योनिः शुनः स्वयम्॥

अतो मयाद्य यतये शिक्षितुं पदमर्पितम्। इति तद्वाक्यमाकर्ण्य नागराशिछन्नसंशयाः॥
ते ययुः स्वीयगेहानि ययौ श्वापि निजस्थलम्।
देहान्ते स यतिर्जातः शुनो योनौ स्वकिल्विषात्॥
आप स श्वा शुभां मुक्तिं भुक्त्वादौ स्वीयकिल्विषम्।
न ज्ञेयोऽयं यतिः शिष्य साकेतेऽत्र मृतस्त्विति॥
स्थलान्तरे मृतश्चायं गतः कार्यार्थमात्मनः। अयोध्यायां मृतानां च पुनर्जन्म न विद्यते॥
क्व यतिः सारमेयत्वं क्व स श्वा क्व गतिश्च सा।
गहना कर्मणश्चात्र गतिर्ज्ञेया महात्मभिः॥
क्व यतिः सारमेयः क्व न्यायश्चेत्थं रमापतेः।
आसीत्सत्यः सदैवात्र नान्यायस्तन्मुखेक्षणात्॥
(आनन्द रामायण, राज्यकाण्ड, पूर्वार्द्ध, सर्ग - १०, श्लोक - ४२-४९)

कुत्ते ने कहा - इस प्रसङ्गमें मैंने जो बातें कहीं हैं, वे सब सत्य हैं। मैंने स्वयं मठाधिपत्य के कारण ही कुत्ते की योनि पायी है। उस संन्यासीको उसकी करनीका फल देने ही के लिए मैंने उसे यह पद दिलाया है। इस प्रकार उसकी बात सुनकर सारे पुरवासियोंका सन्देह निवृत्त हो गया और सब लोग अपने - अपने घरोंको चले गये। कुत्ता भी अपने स्थानको चला गया। उस संन्यासीने मठाधिपत्यके मदमें आकर जो पाप किये, उनसे जन्मान्तर में उसे कुत्तेकी योनि मिली। वह कुत्ता जिसने कि रामचन्द्रजीके यहाँ दावा किया था, उसे अपना योनिभोग करने के बाद अयोध्या में मरने से शुभ गति मिली। किन्तु वह यति जो अपने पापोंसे कुत्ता हुआ था, अयोध्या में न मरकर किसी दूसरे स्थान पर मरा इस लिए उसे मुक्ति नहीं मिली। जो लोग अयोध्या में शरीर त्याग करते हैं, वे मरणके बन्धनसे कुछ दिनों मुक्त हो जाते हो जाते हैं। कर्म की गति बडी विचित्र होती है। कहाँ वह कुत्ता होकर भी मुक्त हो गया और एक यति होकर भी कुत्ता हो गया। श्रीराम ने दोनों का कितना अच्छा न्याय किया। सच तो यह है कि रामराज्य में किसीका मुँह देखकर न्याय नहीं किया जाता था, बल्कि जो न्याय बात होती, वही होती थी। शत्रुघ्न के द्वारा लवणासुर का वध एवं वाल्मीकिजी के आश्रम में सीताजी का प्रसव -

तद्दिने लवणं हत्वा शत्रुघ्नः स्वल्पसैनिकः।
आगमच्चाश्रमे चास्य वाल्मीकेर्निशि शोभने॥
तदा वाल्मीकिना शिष्टः शत्रुघ्नो रघुनायकम्।
मा शंस जानकीपुत्रौ कथयिष्याम्यहं पुरः॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५९, श्लोक - ७७-७८)

यस्मिन्नहनि शत्रुघ्नो वाल्मीकेराश्रमं गतः। उभौ प्रसूतौ तनयौ तस्मिन्नेवाह्नि जानकी॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड – ०१, अध्याया - २४६, श्लोक - ०४)

पुत्रौ च सुषुवे तत्र नाम्ना ख्यातौ कुशीलवौ।
वाल्मीकिस्तु तयोः कृत्वा यथा समुदिताः क्रियाः॥
(नारदपुराण, उत्तरार्ध, अध्याय - ७५, श्लोक - ५३)

सीताजी के द्वारा महर्षि वाल्मीकि को स्वयं अपने निर्वासन की सूचना देना -

श्रृणु मे वाक्यमर्थोक्तं सर्वदुःखस्य कारणम्।
जानीहि मां भूमिपते रघुनाथस्य सेवकीम्॥
अपराधं विना त्यक्ता न जाने तत्र कारणम्।
लक्ष्मणो मां विमुच्यात्र गतवान्राघवाज्ञया॥
इत्युक्त्वाश्रुकलापूर्णं बिभ्रतीं मुखपङ्कजम्।
वाल्मीकिः सान्त्वयन्प्राह जानकीं कमलेक्षणाम्॥
वाल्मीकिं मां विजानीहि पितुस्तव गुरुं मुनिम्।
दुःखं मा कुरु वैदेहि ह्यागच्छ मम चाश्रमम्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ५९, श्लोक - ५९-६२)

तावद्वाल्मीकिगेहे कृतवसतिरुपासूत सीता सुतौ ते।
(नारायणीयम् ३५८)

भगवान् का लोकापवाद के भय से सीताजी का त्याग और उनके भूमिप्रवेश की बात स्वयं स्वीकार करना -

पुरैवं वर्तमानेन प्राप्तराज्येन वै तदा।
लोकापवादभीतेन त्यक्ता सीता वने मया॥
कान्ताविरहजं दुःखं पुनः प्राप्तं दुरासदम्।
पातालं सा गता पश्चाद्धरां भित्त्वा धरात्मजा॥
(श्रीमद्देवीभागवत महापुराण, स्कन्ध – ०४, अध्याय - १८, श्लोक – ५६-५७)

वैसे कल्पभेद से एक बार सीताजी को पुनः पृथ्वी देवी ने वापस कर दिया था, फिर भी सीतात्याग, शम्बूकवध, वाल्मीकि के आश्रम में बच्चों का जन्म आदि हुआ ही है। आनन्द रामायण का प्रमाण देखें -

जानकी तव कन्येयं श्वश्रूस्त्वं मेऽधुना त्विह।
कन्यादानं कुरु मुदा त्वया पूर्व कृतं न हि॥
प्रसीद देवि नोचेन्मे त्वयि क्रोधा भविष्यति।

भगवान् ने कहा - यह सीता आपकी कन्या है इसनाते आप मेरी सास है। आपने विवाह के समय कन्यादान नहीं किया था, सो अब कर दीजिए। हे देवि ! आप मुझपर प्रसन्न जायें नहीं तो मैं आपके ऊपर क्रुद्ध हो जाऊंगा। (पृथ्वी देवी ने बात नहीं मानी तो)

चापमानय सौमित्रे शिक्षयेऽहं भुवं त्विमाम्। मत्क्षुरोपममात्रेण वसुधेयं विदेहजाम्॥
मामद्य दास्यति क्षिप्रमस्य घातं न रोचये।

भगवान् क्रुद्ध होकर बोले - लक्ष्मण ! मेरा धनुष तो उठा लाओ, मैं पृथ्वी को उसके दुराग्रहका दण्ड दे दूँ। मेरे छुरे के समान तीक्ष्ण बाणसे डरकर यह सीताको लौटा देगी। इसे मैं मारना नहीं चाहता हूँ, केवल यह सीता को वापस कर दे।

करााभ्यां जानकी धृत्वा रामस्याङ्के न्यवेशयत्।
श्रीरामपदयोः पृथ्वी शिरसा नमनं व्यधात्॥
(आनन्दरामायण, जन्मकाण्ड, सर्ग - ०८)

फिर भयभीत होकर पृथ्वीदेवी ने सीताजी को हाथ से पकड़कर श्रीरामजी की गोद में बिठा दिया एवं श्रीरामचरणों में प्रणाम निवेदित किया।
और कालान्तर में कालप्रतिज्ञाभंग के कारण लक्ष्मण जी के परित्याग का भी प्रमाण देखें -

व्रज लक्ष्मण मुक्तस्त्वं मया देशातरं द्रुतम्।
त्यागो वाथ वधो वाथ साधूनामुभयं समम्॥
न मया दर्शनं भूयस्तव कार्यं कथञ्चन।
न स्थातव्यं च देशेऽपि यदि मे वाञ्छसि प्रियम्॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय - १००, श्लोक – १३, १४)

बृहद्धर्मपुराण के रामायणकवच में भी काललक्ष्मणसंवाद का उल्लेख है। फिर भगवान् के द्वारा स्वयं पुनः सीता एवं लक्ष्मण का निर्वासन स्वीकार करने का प्रमाण -

ततः पृष्टस्तु मुनिना कथयामास विस्तरात्। वृत्तान्तं सर्वमात्मीयं स्वर्गस्य गमनं प्रति॥
यथा सीता परित्यक्ता यथा सौमित्रिणा कृतः।
परित्यागः स्वकीयस्य सन्त्यक्तेन महात्मना॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय - १०३, श्लोक – २३- २४)

अगस्त्य ऋषि के द्वारा श्वेत राजा का मांसभक्षण देखने का प्रमाण भी यहीं है।
परमधामगमन के समय श्रीसीता और लक्ष्मण जी को न देखकर वानरों ने उनके विषय में पूछा तो भगवान् ने दोनों के परित्याग के बारे में बताया, इससे सभी वानर दुःखी होकर रोने लगे, इसका प्रमाण -

वानरा ऊचुः

तेजसा त्वं विनिर्मुक्तो दृश्यसे रघुनन्दन। कृशोऽस्यतीव चोद्विग्नः कच्चित्क्षेमं गृहे तव॥
काये वाऽनुगतो नित्यं तथा ते लक्ष्मणोऽनुजः।
न दृश्यते समीपस्थः किमद्य तव राघव॥
तथा प्राणसमाऽभीष्टा (प्रिया) सीता तव प्रभो।
दृश्यते किं न पार्श्वस्था एतन्नः कौतुकं परम्॥

सूत उवाच

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा चिरं निःश्वस्य राघवः। वाष्पपूर्णेक्षणो भूत्वा सर्वं तेषां न्यवेदयत्॥
अथ सीता परित्यक्ता तथा भ्राता स लक्ष्मणः।
यदर्थं तत्र संप्राप्तः स्वयमेव द्विजोत्तमाः॥
तच्छ्रुत्वा वानराः सर्वे सुग्रीवप्रमुखास्ततः।
रुरुदुस्ते सुदुःखार्ताः समालिंग्य ततः परम्॥
(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय - १००, श्लोक - ६३-६८)

अब मैं भगवान् शिव के द्वारा मात्र ३२ श्लोकों में वर्णित उत्तरकाण्ड का सीतानिर्वासन, लवणासुर वध, शम्बूक वध, स्वर्णमयी सीता से यज्ञ और भूमिप्रवेश तक का प्रसंगसार प्रमाणरूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ -

शङ्कर उवाच

अथ रामस्तु वैदेह्या राज्यभोगान्मनोरमान्। बुभुजे वर्षसाहस्रं पालयन्सर्वतोदिशः॥
अन्तःपुरजनास्सर्वे राक्षसस्य गृहे स्थिताम्।
गर्हयन्ति स्म वैदेहीं तथा जानपदा जनाः॥
लोकापवादभीत्या च रामः शत्रुनिवारकः। दर्शयन्मानुषं धर्ममन्तर्वत्नीं नृपात्मजाम्॥
वाल्मीकेराश्रमे पुण्ये गङ्गातीरे महावने। विससर्ज महातेजा गर्भिणीं मुनिसंसदि॥
सा भर्तुः परतन्त्रा हि उवास मुनिवेश्मनि। अर्चिता मुनिपत्नीभिर्वाल्मीकमुनि रक्षिता॥

तत्रैवासूत यमलौ नाम्ना कुशलवौ सुतौ। तौ च तत्रैव मुनिना संस्कृतौ च ववर्धतुः॥
रामोऽपि भ्रातृभिस्सार्द्धं पालयामास मेदिनीम्। यमादिगुणसम्पन्नस्सर्वभोगविवर्जितः॥
अर्चयन्सततं विष्णुमनादिनिधनं हरिम्। ब्रह्मचर्यपरो नित्यं शशास पृथिवीं नृपः॥
शत्रुघ्नो लवणं हत्वा मथुरां देवनिर्मिताम्।
पालयामास धर्मात्मा पुत्राभ्यां सह राघवः॥
गन्धर्वान्भरतो हत्वा सिन्धोरुभयपार्श्वतः।
स्वात्मजौ स्थापयामास तस्मिन्देशे महाबलौ॥
पश्चिमे मद्रदेशे तु मद्रान्हत्वा च लक्ष्मणः।
स्वसुतौ च महावीर्यौ अभिषिच्य महाबलः॥
गत्वा पुनरयोध्यां तु रामपादावुपस्पृशत्। ब्राह्मणस्य मृतं बालं कालधर्ममुपागतम्॥
जीवयामास काकुत्स्थः शूद्रं हत्वा च तापसम्। ततस्तु गौतमीतीरे नैमिषे जनसंसदि॥
इयाज वाजिमेधं च राघवः परवीरहा। काञ्चनीं जानकीं कृत्वा तया सार्द्धं महाबलः॥
चकार यज्ञान्बहुशो राघवः परमार्थवित्। अयुतान्यश्वमेधानि वाजपेयानि च प्रभुः॥
अग्निष्टोमं विश्वजितं गोमेधं च शतक्रतुम्। चकार विविधान्यज्ञान्परिपूर्णसदक्षिणान्॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र वाल्मीकिः सुमहातपाः। सीतामानीय काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत्॥

वाल्मीकिरुवाच

अपापां मैथिलीं राम त्यक्तुं नार्हसि सुव्रत।
इयं तु विरजा साध्वी भास्करस्य प्रभा यथा।
अनन्या तव काकुत्स्थ कस्मात्त्यक्ता त्वयानघ॥

राम उवाच

अपापां मैथिलीं ब्रह्मन्जानामि वचनात्तव। रावणेन हृता साध्वी दण्डके विजने पुरा॥
तं हत्वा समरे सीतां शुद्धामग्निमुखागताम्।
पुनर्यातोस्म्ययोध्यायां सीतामादाय धर्मतः॥
लोकापवादः सुमहानभूत्पौरजनेषु च। त्यक्ता मया शुभाचारा तद्भयात्तव सन्निधौ॥
तस्माल्लोकस्य सन्तुष्ट्यै सीता मम परायणा।

पार्थिवानां महर्षीणां प्रत्ययं कर्तुमर्हति॥

महेश्वर उवाच

एवमुक्ता तदा सीता मुनिपार्थिवसंसदि। चकारप्रत्ययं देवी लोकाश्चर्यकरं सती॥
दर्शयंस्तस्य लोकस्य रामस्यानन्यतां सती। अब्रवीत्प्राञ्जलिः सीता सर्वेषां जनसंसदि॥

सीतोवाच

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये। तथा मे धरणी देवी विवरन्दातुमर्हति॥
यथैव सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च। तथा स्वपुत्र्यां वैदेह्यां धरणी सहसा इयात्॥

महेश्वर उवाच

ततो रत्नमयं पीठं पृष्ठे धृत्वा खगेश्वरः। रसातलात्तदा वीरो विज्ञाय जननीं तदा॥
ततस्तु धरणीदेवी हस्ताभ्यां गृह्य मैथिलीम्। स्वागतेनाभिनंद्यैनामासने संन्यवेशयत्॥
सीतां समागतां दृष्ट्वा दिवि देवगणा भृशम्।
पुष्पवृष्टिमविच्छिन्नां दिव्यां सीतामवाकिरन्॥
सापि दिव्याप्सरोभिस्तु पूज्यमाना सनातनी। वैनतेयं समारुह्य तस्मान्मार्गाद्दिवं ययौ॥
दासीगणैः पूर्वभागे संवृता जगदीश्वरी। संप्राप्य परमं धाम योगिगम्यं सनातनम्॥
रसातलप्रविष्टां तु तां दृष्ट्वा सर्वमानुषाः। साधुसाध्विति सीतेयमुच्चैः सर्वे प्रचुक्रुशुः॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय - २४४, श्लोक – ०१ - ३२)

आपने कहा कि उत्तरकाण्ड के समर्थकों ने क्या भगवान् के परमधामगमन का ठेका ले रखा है ? बिल्कुल ले रखा है। शास्त्रों और लीलाचरित्रों की प्रामाणिकता की रक्षा का ठेका प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है, आपका भी। परमधामगमन से यदि आप यह कहकर मना करेंगे कि चित्रकूट और अयोध्या में भगवान् नित्य स्थित हैं तो इस हिसाब से कण-कण में ही भगवान् नित्य हैं, उसका क्या ? श्रीकृष्ण भी तात्त्विक रूप से कभी वृन्दावन छोडकर नहीं जाते - वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति। तो क्या इस कारण उनका मथुरागमन, कंस वध, द्वारिकानिर्माण और अन्त में यदुवंश का संहार करा परमधामगमन, सब झूठ ? होने को तो भगवान् अजन्मा भी हैं तो क्यों रामनवमी मनाते हो ? होने को तो भगवान् और सीताजी का नित्य साहचर्य है तो क्यों सीताहरण का वर्णन करते हो ? लीला और

तत्त्व में भेद समझ आता है नहीं और दूसरे को कहते हैं कि आँखें फूटी हैं जो भगवान् का दर्शन नहीं करना चाहते।

अच्छा, पहले तो आप कह रहे थे कि श्रीमद्भागवत में वर्णित सीतात्याग इसीलिए प्रक्षिप्त है क्योंकि वहां सीताजी के भूमिप्रवेश के बाद भगवान् के साथ उनका वर्णन आया है, यह उलटफेर क्यों ? वैसे तो आनन्दरामायण से मैंने सीताजी के भूमिप्रवेश के बाद भी उनकी पुनः प्राप्ति का वर्णन कर दिया है किन्तु यदि आपका यही तर्क था तो यहाँ पार्वती जी के द्वारा 'प्रजा सहित रघुबंशमनि किमि गवने निज धाम' कहने पर आपने क्यों नहीं व्यतिक्रम का कुतर्क किया ? यहाँ तो आपने कह दिया कि पार्वती जी हर्ष के कारण पूछना भूल गयी थीं इसीलिए बाद में पुनः पूछा। अच्छा, तो यही तर्क आप श्रीमद्भागवत में भी लगा लेते किन्तु आपने वहां तो सीधे सीधे श्रीमद्भागवत को ही मिलावटी कह दिया, कौन से नर्क जायेंगे आप ? और पार्वती जी हर्ष के प्रवाह में भूल कर आगे बढ़ गयीं और प्रश्न के क्रम में पीछे लौटीं, ये बात आप पार्वती जी से पूछने गये थे या देवी पार्वती आपको बताने आयी थीं ?

सत्य तो यह है कि श्रीरामभद्राचार्य अपने अहंकार में इतने चूर हो गये हैं कि कभी कहते हैं कि अमुक सर्ग को हटा भी दें तो क्या हानि है, अमुक प्रसंग सिद्ध न हो तो क्या हानि है ? वस्तुतः विगत ४० वर्षों से इन्होंने भरी सभाओं में अपने अज्ञान का जो वमन किया है, अब यदि पीछे हटेंगे तो भारी निन्दा होगी, इसीलिए अपनी प्रतिष्ठा बचाने के चक्कर में नित्य ही शास्त्रों के सिद्ध वाक्यों को उन्मत्त की भांति मिलावटी कहते रहते हैं। अपनी निजी नकली रचनाओं को तुलसीदास जी के नाम से फैलाना और तुलसीदासजी की रचनाओं को नकली कहने का इन्होंने धन्धा बना लिया है।

पार्वती जी के प्रश्न में स्पष्ट है कि रावणवध एवं श्रीरामराज्याभिषेक की चर्चा करने के बाद अयोध्यावासियों के साथ भगवान् के परमधाम जाने के विषय में पूछ रहे हैं किन्तु (अ)धर्मचक्रवर्ती श्रीरामभद्राचार्य ने यहाँ भी अपनी दुर्बुद्धि का दुर्गन्ध फैलाया और कहा कि प्रजा का अर्थ वानर हैं और निज धाम का अर्थ अयोध्या है एवं पार्वती हर्ष के कारण भूलवश प्रश्न पूछने में क्रम का व्यतिक्रम कर बैठीं। वानरराज सुग्रीव हैं, राक्षसराज

विभीषण हैं। यद्यपि दोनों श्रीरामजी के ही अधीन हैं किन्तु सदैव अयोध्यापति राम ही कहते हैं, वानरराज किष्किन्धापति श्रीराम अथवा राक्षसराज लंकापति श्रीराम नहीं कहते। अतः जब श्रीराम जी की प्रजा का सन्दर्भ आएगा तो वहां वानर नहीं, अयोध्या के पुरवासियों का ही अर्थ होगा। धुन्धुकारी के उद्धार के बाद दूसरे सत्र की कथा के अन्त में गोकर्ण जी को जब भगवान् श्रीकृष्ण सभी श्रोताओं के साथ दिव्य गोलोकधाम ले जाते हैं तो उपमा में यही कहा जाता है कि इस घटना में ऐसा लगा जैसे श्रीराम सभी अयोध्यावासियों को साकेत ले गये थे। पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित श्रीमद्भागवत माहात्म्य के पञ्चम अध्याय के श्लोक - ८५ में वर्णन है -

अयोध्यावासिनं पूर्वं यथा रामेण सङ्गताः।
तथा कृष्णेन ते नीता गोलोकं योगिदुर्लभम्॥

कितने दुर्भाग्य की बात है कि जिस चित्रकूट में महर्षि शाण्डिल्य सदैव श्रीमद्भागवत आदि का पाठ करते हुए प्रसन्न होते हैं, उसी चित्रकूट में बैठकर एक शास्त्रहिंसक ज्ञानापराधी स्वयं को जगद्गुरु कहता हुआ श्रीमद्भागवत को ही मिलावटी कहता है -

इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः। पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः॥

आप कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने नहीं लिखा अपनी रामायण में, अमुक ने अपने शोध में उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त माना है आदि आदि। मैंने किसी व्यक्ति का नहीं, सीधे वेद, पुराण, स्मृति, तन्त्र, संहिता एवं दिव्यतम आचार्यों के परम्परागत ग्रन्थों से, जिसमें स्वयं श्रीरामरूप रामानन्दाचार्य भगवान् भी सम्मिलित हैं, वहाँ से उत्तरकाण्ड के समर्थन में प्रमाण दिया है। अजी, मिथिला वाले लोग, जो सीताजी को लेकर भावनात्मक रूप से अतिसम्वेदनशील हैं, उनमें भी जब चन्द्रकवि ने मैथिली रामायण लिखी तो सीतात्याग का उल्लेख किया क्योंकि वही सत्य है। समुद्री जीवों पर शोध करने वाला व्यक्ति समुद्र में न जाकर रेगिस्तान में समुद्री जीवों को खोजे और अन्त में लिखे कि समुद्री जीव काल्पनिक होते हैं तो क्या उसकी बात मान्य हो जायेगी ? ऐसे ही सीतात्याग का वर्णन जिन ग्रन्थों में हैं वहां खोजने

से मिलेगा न। आपने कहा कि अमुक अमुक ग्रन्थ में नहीं है। हाँ भाई, जब नहीं है तो हम वहां क्यों खोजेंगे ? जहाँ वर्णन है, वहाँ खोजेंगे न। और जहाँ वर्णन है वहां से जब मैंने सैकड़ों प्रमाण दिए तो आपने कह दिया कि ये सब के सब मिलावटी हैं और मेरी प्रमाणकोटि में आते ही नहीं। अर्थात् जहाँ वर्णन है, उसको मिलावटी कहकर जहाँ वर्णन नहीं है, उसका सन्दर्भ देकर कह दो कि अमुक अमुक बात अप्रामाणिक है, और ऐसी निम्नस्तरीय बुद्धि का व्यक्ति स्वयं को सर्वज्ञ समझता है, कहता है कि मैं जगद्गुरु हूँ।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का अन्तिम कुतर्क

युद्धकाण्ड के अन्तिम सर्ग में महर्षि वाल्मीकि ने ग्रन्थ की फलश्रुति लिख दी है अतः इसके बाद उत्तरकाण्ड की रचना करना निरर्थक है क्योंकि फलश्रुति ग्रन्थ के अन्त में लिखी जाती है। महर्षि वाल्मीकि श्रीरामराज्याभिषेक का वर्णन करके और उनकी भावी कथाओं का सङ्क्षेप में वर्णन करके स्पष्टरूप से यह कह रहे हैं -

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्॥
(वा०रा० ६/१२८/१०७)

अर्थात् महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रथम ही इस आदिकाव्य की रचना कर दी गयी थी। जो धर्म से अनपेत, यशोवर्द्धक, आयुष्य को बढ़ाने वाला और राजाओं को विजय दिलाने वाला है। यदि उत्तरकाण्ड लिखना होता तो यहाँ फलश्रुति की आवश्यकता क्या थी ? ऋग्वेद से लेकर अद्यावधि जितने आर्ष ग्रन्थ हैं, जो आस्तिक ग्रन्थ हैं, प्रत्येक की समाप्ति में ही फलश्रुति होती है। यदि उत्तरकाण्ड लिखना ही होता तो वाल्मीकि युद्धकाण्ड के अन्त में फलश्रुति क्यों लिखते ? फलश्रुति देखकर ही यह निश्चित हो जाता है कि उत्तरकाण्ड बाद में जोड़ा गया।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा प्रतिखण्डन

उमा संहिता में रामायण के प्रत्येक काण्ड, सातों काण्ड की विस्तृत फलश्रुति दी हुई है जो

स्वयं भगवान् शिव ने उमादेवी को सुनाया है। वहीं पर बालकाण्ड में ही अवतार के प्रसङ्गकाल में कहते हैं -

विष्णो पुत्र त्वमागच्छ कृत्वात्मानञ्चतुर्विधम्।
रावणस्य विनाशाय रावणेर्निधनाय च॥
लवणस्य वधार्थाय गन्धर्वाणां वधाय च।
कर्तव्यं निधनं देव चतुर्णां देवशत्रुणाम्॥
(उमा संहिता, पञ्चम अध्याय)

पुत्रभाव से विष्णु को सम्बोधित करते हुए प्रार्थियों ने कहा - आप अपने को चार भागों के रूप में करके अवतार ग्रहण करें। (रामरूप से) रावण के विनाश के लिए, (लक्ष्मणरूप से) रावणि-मेघनाद के वध हेतु, (शत्रुघ्नरूप से) लवणासुर के वध के लिए एवं (भरतरूप से) गन्धर्वों के वध के लिए। इस प्रकार से हे देव ! आपके द्वारा देवताओं के इन चारों शत्रुओं का वध किया जाना चाहिए। पाठक ध्यान दें कि उपर्युक्त प्रसङ्ग में लवणासुर एवं गन्धर्वगण के वध का प्रसङ्ग वाल्मीकि जी ने उत्तरकाण्ड में ही लिखा है तथा *तथोत्तरम्* शब्द के द्वारा उमा संहिता में ही शिव जी ने उत्तरकाण्ड को स्वीकृत भी किया है।

तथा सर्गशतान्पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम्।
कृत्स्नं रामायणं यो वा श्रृणोति श्रावयेत वा॥
सर्वबन्धविनिर्मुक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
(उमा संहिता, तृतीय अध्याय)

अब फलश्रुति की बात पर आते हैं। श्रीरामभद्राचार्य ने जो यश, आयुष्य, विजय आदि फल का प्रयोग किया है, उसकी संगति भी उत्तरकाण्ड से बनती है। बृहद्धर्म पुराण में रामायणसंकीर्तन प्रसङ्ग के अन्तर्गत देवी ने अपनी जया आदि सखियों को रामायण के सातों काण्ड की फलश्रुति बतायी है, जिसमें आनन्द एवं विजयसूचक फल उत्तरकाण्ड को पढ़ने या सुनने का है -

यः पठेत् श्रृणुयाद्वापि काण्डमभ्युदयोत्तरम्।

आनन्दकार्ये यात्रायां स जयी परतोऽत्र च॥

अब प्रश्न ये है कि उन्होंने युद्धकाण्ड के अन्तिम में फलश्रुति क्यों लिखी। देखिए, लिखने को तो उन्होंने उत्तरकाण्ड के अन्त में भी लिखी है किन्तु उसके मानने से विवाद कैसे होगा, विवाद नहीं होगा तो प्रसिद्धि कैसे होगी, इसीलिए आप उसे मानना नहीं चाहते।

वाल्मीकि जी ने जब युद्धकाण्ड तक का लेखन किया, तब उस समय तक लीला में भी भगवान् वहीं तक पहुंचे थे, अतएव वाल्मीकि जी ने कहा कि एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानम्। ये आख्यान इतिहास रूप में, इस प्रकार अभी इस समय में यहीं तक घटित हुआ है। इतने दूर तक लेखन हुआ है, इसका विश्वासपूर्वक गायन करो, उसकी अमुक अमुक फलश्रुति है। किन्तु लोगों में यह सन्देश न जाये कि इसके आगे लिखेंगे ही नहीं, इसीलिए आदिकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में ही संकेत कर दिया था, वैधानिक निर्देश कर दिया रहा - *सभविष्यं सहोत्तरम्*। कि ध्यान रहे, भविष्य की घटना के साथ, उत्तरकाण्ड के साथ लिख रहा हूँ, युद्धकाण्ड तक ही पढ़ कर मत बन्द कर देना, आगे का भी लिखा है। उमा संहिता में शिवजी ने भी इसीलिए *तथोत्तरम्* एवं *कृत्स्नं रामायणम्* एकसाथ कहा, तात्पर्य यह है कि रामायण उत्तरकाण्ड के साथ ही पूरी है। और बृहद्धर्म पुराण में तो ब्रह्माजी ने वाल्मीकि को *रामायणं कुरु सप्तकाण्डम्* का स्पष्ट आदेश दिया ही है।

ऐसा नहीं है कि मात्र ग्रन्थ के अन्त में ही फलश्रुति लिखी जाती है। गरुड़पुराण के तीन काण्डों में आचारकाण्ड के अन्त में भी फलश्रुति मिलती है और ब्रह्मकाण्ड के अन्त में भी मिलती है -

वसुराजो गारुडं वै श्रुत्वा सर्वमवाप्तवान्। गरुडो भगवान्विष्णुध्यायन्सर्ववाप्तवान्॥
तदुक्तं गारुडं पुण्यं पुराणं यः पठेन्नरः। सर्वकाममवाप्याथ प्राप्नोति परमां गतिम्॥
श्लोकपादं पठित्वा च सर्वपापक्षयो भवेत्। यस्येदं वर्तते गेह तस्य सर्वं भवेदिह॥
गारुडं यस्य हस्ते तु तस्य हस्तगतो नयः।
यः पठेच्छृणुयादेतद्भुक्तिं मुक्तिं समाप्नुयात्॥
धर्मार्थकाममोक्षांश्च प्राप्नुयाच्छ्रवणादितः।

पुत्रार्थो लभते पुत्रान् कामार्थो काममाप्नुयात्॥
विद्यार्थो लभते विद्यां जयार्थो लभते जयम्।
ब्रह्महत्यादिना पापी पापशुद्धिमवाप्नुयात्॥
वन्ध्यापि लभते पुत्रं कन्या विन्दति सत्पतिम्।
क्षेमार्थो लभते क्षेमं भोगार्थो भोगमाप्नुयात्॥
मङ्गलार्थो मङ्गलानि गुणार्थो गुणमाप्नुयात्।
काव्यार्थो च कवित्वं च सारार्थो सारमाप्नुयात्॥
ज्ञानार्थो लभते ज्ञानं सर्वसंसारमर्दनम्। इदं स्वस्त्ययनं धन्यं गारुडं गरुडेरितम्॥
नाकाले मरणं तस्य श्लोकमेकं तु यः पठेत्।
श्लोकार्धपठनादस्य दुष्टशत्रुक्षयो ध्रुवम्॥
सूताच्छ्रुत्वा शौनकस्तुनौमिषे मुनिभिः क्रतौ।
अहं ब्रह्मेति सन्ध्यायन्मुक्तोभूद्गरुडध्वजात्॥
(गरुडपुराण, आचारकाण्ड, अध्याय - २४०)

बीच बीच में तो छोटी फलश्रुतियाँ बहुत स्थानों पर ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलती ही रहती हैं। ब्रह्माण्डपुराण के मध्यभाग के अन्त में सांक्षेपिक फलश्रुति का वर्णन करने के बाद भगवान् वेदव्यासजी ने आगे उत्तरभाग का भी लेखन किया है। शिवपुराण के तो प्रारम्भ में ही एक स्थान पर उसकी फलश्रुति का वर्णन वेदव्यासजी ने कर दिया है। प्रमाण देखें -

अस्य शैवपुराणस्य कीर्तनश्रवणाद्द्विजाः।
फलं वक्तुं न शक्नोमि कार्त्स्न्येन मुनिसत्तमाः॥
तथापि तस्य माहात्म्यं वक्ष्ये किञ्चित्तु वोनघाः।
चित्तमाधाय श्रृणुत व्यासेनोक्तं पुरा मम॥
एतच्छिवपुराणं हि श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च।
यः पठेद्भक्तिसंयुक्तस्स पापान्मुच्यते क्षणात्॥
एतच्छिवपुराणं हि यः प्रत्यहमतन्द्रितः। यथाशक्ति पठेद्भक्त्या स जीवन्मुक्त उच्यते॥

एतच्छिवपुराणं हि यो भक्त्यार्चयते सदा। दिने दिनेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम्॥

एतच्छिवपुराणं यस्साधारणपदेच्छया।

अन्यतः श्रृणुयात्सोऽपि मत्तो मुच्येत पातकात्॥

एतच्छिवपुराणं यो नमस्कुर्याददूरतः। सर्वदेवार्चनफलं स प्राप्नोति न संशयः॥

एतच्छिवपुराणं वै लिखित्वा पुस्तकं स्वयम्।

यो दद्याच्छिवभक्तेभ्यस्तस्य पुण्यफलं श्रृणु॥

अधीतेषु च शास्त्रेषु वेदेषु व्याकृतेषु च। यत्फलं दुर्लभं लोके तत्फलं तस्य सम्भवेत्॥

एतच्छिवपुराणं हि चतुर्दश्यामुपोषितः। शिवभक्तसभायां यो व्याकरोति स उत्तमः॥

प्रत्यक्षरं तु गायत्रीपुरश्चर्य्याफलं लभेत्।

इह भुक्त्वाखिलान्कामानं ते निर्वाणतां व्रजेत्॥

उपोषितश्चतुर्दश्यां रात्रौ जागरणान्वितः। यः पठेच्छृणुयाद्वापि तस्य पुण्यं वदाम्यहम्॥

कुरुक्षेत्रादिनिखिलपुण्यतीर्थेष्वनेकशः। आत्मतुल्यधनं सूर्यग्रहणे सर्वतोमुखे॥

विप्रेभ्यो व्यासमुख्येभ्यो दत्त्वायत्फलमश्नुते।

तत्फलं सम्भवेत्तस्य सत्यं सत्यं न संशयः॥

एतच्छिवपुराणं हि गायते योप्यहर्निशम्। आज्ञां तस्य प्रतीक्षेरन्देवा इन्द्र पुरो गमाः॥

एतच्छिवपुराणं यः पठञ्छृण्वन्हि नित्यशः।

यद्यत्करोति सत्कर्म तत्कोटिगुणितं भवेत्॥

समाहितः पठेद्यस्तु तत्र श्रीरुद्र संहिताम्।

स ब्रह्मघ्नोऽपि पूतात्मा त्रिभिरेवादिनैर्भवेत्॥

तां रुद्र संहितां यस्तु भैरवप्रतिमान्तिके।

त्रिः पठेत्प्रत्यहं मौनी स कामानखिलाँल्लभेत्॥

तां रुद्रसंहितां यस्तु सपठेद्वटबिल्वयोः। प्रदक्षिणां प्रकुर्वाणो ब्रह्महत्या निवर्तते॥

कैलाससंहिता तत्र ततोऽपि परमस्मृता।

ब्रह्मस्वरूपिणी साक्षात्प्रणवार्थप्रकाशिका॥

कैलाससंहितायास्तु माहात्म्यं वेत्ति शङ्करः।

कृत्स्नं तदर्द्धं व्यासश्च तदर्द्धं वेद्म्यहं द्विजाः ॥
तत्र चित्प्रवक्ष्यामि कृत्स्नं वक्तुं न शक्यते ।
यज्ज्ञात्वा तत्क्षणाल्लोकश्चित्तशुद्धिमवाप्नुयात् ॥
न नाशयति यत्पापं सा रौद्री संहिता द्विजाः ।
तन्न पश्याम्यहं लोके मार्गमाणोऽपि सर्वदा ॥
शिवेनोपनिषत्सिन्धुमन्थनोत्पादितां मुदा ।
कुमारायार्पितां तां वै सुधां पीत्वाऽमरो भवेत् ॥
ब्रह्महत्यादिपापानां निष्कृतिं कर्तुमुद्यतः । मासमात्रं संहितां तां पठित्वा मुच्यते ततः ॥
दुष्प्रतिग्रहदुर्भोज्यदुरालापादिसम्भवम् ।
पापं सकृत्कीर्तनेन संहिता सा विनाशयेत् ॥
शिवालये बिल्ववने संहितां तां पठेत्तु यः । स तत्फलमवाप्नोति यद्वाचोऽपि न गोचरे ॥
संहितां तां पठन्भक्त्या यः श्राद्धे भोजयेद्द्विजान् ।
तस्य ये पितरः सर्वे यान्ति शम्भोः परं पदम् ॥
चतुर्दश्यां निराहारो यः पठेत्संहितां च ताम् ।
बिल्वमूले शिवः साक्षात्स देवैश्च प्रपूज्यते ॥
(शिवपुराण, विश्वेश्वरसंहिता, अध्याय - ०२, श्लोक - १८-४६)
(विद्येश्वरसंहिता या विश्वेश्वरसंहिता, ये दोनों नाम पाठभेद से मिलते हैं)

पुराणों की प्रामाणिकता को स्वीकार किए बिना कोई ऐतिहासिक कथानक या वेदों को समझना चाहे तो बहुत बड़ी समस्या हो जायेगी। पुराणों की प्रामाणिकता तो स्वयं वेद भी स्वीकार करते हैं -

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यः । अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः ।
इतिहासपुराणं पुष्पम् । ता अमृता आपः ॥
(छान्दोग्यश्रुति ३.४.१)
तेन इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति ।

(रामतापिन्युपनिषत्)

इतिहासपुराणानां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति।

(महोपनिषत्)

और तो और, पुराणों के रूप में स्वयं भगवान् नारायण ही सूर्यवत् ज्ञान का प्रकाश फैलाते हैं अतः वैष्णवों को तो विशेषकर पुराणनिष्ठ होना चाहिए। जो स्वयं को वैष्णव कहते हुए भी पुराणनिष्ठ न हो, उसे तो मैं वैष्णव मानता ही नहीं। बाकी वेष से तो कालनेमि भी उर्ध्वपुण्ड्र ही लगाता था और रावण भी त्रिदण्ड ही धारण करके आया था। पुराणों में निष्ठा न रखने वाले वैष्णव मेरी प्रमाणकोटि में आते ही नहीं हैं। ऐसा व्यक्ति तो वैष्णवों के द्वारा पंक्तिबाह्य किया जाने योग्य है। भले ही वह अपने नाम के आगे सार्वभौम वैष्णव जगद्गुरु लगा कर घूमे, मैं उन्हें वैष्णव मानता ही नहीं हूँ चाहे उन्हें किसी अखाडा, परिषत् या संस्था से कोई भी उपाधि मिल गयी हो। पुराण स्वयं शब्दनारायण हैं एवं उनका एक एक अक्षर असन्दिग्ध रूप से वैष्णव कलेवर है।

पुराणं श्रृणुयान्नित्यं महापापदवानलम्। पुराणं सर्वतीर्थेषु तीर्थं चाधिकमुच्यते॥
यस्यैकपादश्रवणाद्धरिरेव प्रसीदति। यथा सूर्यवपुर्भूत्वा प्रकाशाय चरेद्धरिः॥
सर्वेषां जगतामेव हरिरालोकहेतवे। तथैवान्तःप्रकाशाय पुराणावयवो हरिः॥
विचरेदिह भूतेषु पुराणं पावनं परम्। तस्माद्यदि हरेः प्रीतेरुत्पादे धीयते मतिः॥
श्रोतव्यमनिशं पुम्भिः पुराणं कृष्णरूपिणम्।
विष्णुभक्तेन शान्तेन श्रोतव्यमपि दुर्लभम्॥
पुराणाख्यानममलममलीकरणं परम्। यस्मिन्वेदार्थमाहृत्य हरिणा व्यासरूपिणा॥
पुराणं निर्मितं विप्र तस्मात्तत्परमो भवेत्।
पुराणे निश्चितो धर्मो धर्मश्च केशवः स्वयम्॥
तस्मात्कृते पुराणे हि श्रुते विष्णुर्भवेदिति।
साक्षात्स्वयं हरिर्विप्रः पुराणं च तथाविधम्॥

(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय - ६१, श्लोक – ५९-६६)

भगवान् शिव के साथ शास्त्रार्थ करने का दावा करने वाले श्रीरामभद्राचार्य को क्या यह

नहीं ज्ञात है कि भगवान् शिव तो वेदों के ही समान पुराणों को निश्चल एवं असन्दिग्ध मानते हुए कहते हैं कि वेदों में भी जो ज्ञान नहीं, वह पुराणों से प्राप्त हो जाता है, अतः वेदों को जानकर भी पुराणों को न जानने वाला व्यक्ति विद्वान् हो ही नहीं सकता -

वेदवन्निश्चलं मन्ये पुराणं वै द्विजोत्तमाः। वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः॥
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यति। इतिहासपुराणैस्तु निश्चलोऽयं कृतः पुरा॥
यन्न दृष्टं हि वेदेषु न दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः। उभयोर्यत्र दृष्टं च तत्पुराणेषु गीयते॥
यो वेद चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः। पुराणं नैव जानाति न च स स्याद्विचक्षणः॥
(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, प्रभासक्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय - ०२, श्लोक - ९०-९३)

और तो और, भगवान् यहाँ तक कहते हैं कि जो पुराणों को नहीं जानता, वह तो कुछ जानता ही नहीं है, उसे धर्म का कदापि बोध नहीं हो सकता -

यो न वेद पुराणं हि न स वेदात्र किञ्चन।
कतमः स हि धर्मोऽस्ति किं वा ज्ञानं तथाविधम्॥
(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड, रेवाखण्ड, अध्याय - ०१, श्लोक - २०)

इस प्रकार से समझना चाहिए कि मात्र युद्धकाण्ड के अन्त में फलश्रुति के वर्णन से ग्रन्थ पूर्ण नहीं हो जाता है एवं प्रक्षिप्तवादियों का यह कुतर्क सर्वथा निराधार है।

मूरख हृदय न चेत – निष्कर्ष

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का निष्कर्ष

मैं शुद्ध अन्तःकरण से प्रभु श्रीसीताराम जी को साक्षी मानकर निर्विवाद रूप से यह कह रहा हूँ कि भगवती सीताजी का द्वितीय वनवास नहीं हुआ। लव - कुश का जन्म श्रीअवध के राजभवन में हुआ। जैसे विशेष दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए भगवान् राम ने वसिष्ठजी के अतिरिक्त विश्वामित्रजी को गुरु माना उसी प्रकार भगवती सीताजी ने वसिष्ठजी से शिक्षित - दीक्षित होने पर भी दिव्यास्त्रों की विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए लव - कुश को वाल्मीकिजी के आश्रम में भेज दिया था। मैंने यथासम्भव यथाधीत, यथामति, यथाश्रुत अपने पक्ष प्रस्तुत किए हैं। इतने पर भी कोई शंका - कुशंका करे तो उसके लिए मैं गोस्वामी तुलसीदासजी की पंक्ति निवेदन करूँगा -

एतेहु पर करिहैं जे शंका। मोहि ते अधिक ते जड़मति रंका॥
(मानस १/१२/८)

श्रीसीतारामजी की कृपा, जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य जी के चरणों के आशीर्वाद एवं परमाराध्य सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज के वात्सल्यप्रसाद से हमने उस भयंकर सन्देहमलेरिया के निवारणार्थ यहाँ बहुत परिश्रम करके यह शास्त्रीय तुलसीदल प्रस्तुत किया है। निःसन्देह इसके परिमल से करोड़ों वैष्णवों के मन एवं मस्तिष्क निर्मल होते रहेंगे।

श्रीसीतारामार्पणमस्तु
श्रीराघवः शन्तनोतु

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु का निष्कर्ष

कुछ पाठकों ने प्रश्न किया था कि राजा दशरथ की आयु का उपभोग करने के समय श्रीरामजी के राज्याभिषेक का प्रसङ्ग चल रहा था और उस समय उनकी आयु तो बहुत कम थी, फिर कैसे उनके ग्यारह हजार वर्ष पूर्ण हो सकते हैं, अथवा आनन्द रामायण के अनुसार जब सीताजी को पृथ्वीदेवी ने पुनः लौटा दिया तो क्या इससे राजा दशरथ की आयु के द्वारा श्रीरामजी दाम्पत्यपालन करने लगे ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीराम स्वयं कालातीत हैं। अतः राजा दशरथ की आयुदान का प्रसङ्ग भले ही राज्याभिषेक के समय का था किन्तु वह आयु निश्चय ही ग्यारह हजार वर्ष पूर्ण होने के बाद ही योजित हुई। ब्रह्मलोक के ब्रह्माजी, इन्द्रलोक के राजा दशरथ एवं भूलोक में स्थित श्रीरामजी के मध्य काल की गति एक समान नहीं रहती है। साथ ही, लवकुश का जन्म वन में होने के बाद श्रीरामजी के अन्य कोई सन्तान नहीं हुई, इससे यह भी सिद्ध है कि उन्होंने दाम्पत्यपालन नहीं किया, जिसे वेदव्यासजी ने भी - ब्रह्मचर्यमखण्डितम् शब्द से उल्लिखित किया है।

वैसे तो स्त्री का वध करना दस श्रेष्ठ ब्राह्मणों की हत्या करने से भी बड़ा पाप है किन्तु श्रीरामजी ने स्त्री होने के कारण ताड़का और पूतना को छोड़ नहीं दिया अपितु अधर्मपूर्वक अत्याचार करने के कारण उनका वध किया। वैसे ही रावण को भी ब्राह्मणकुल का होने पर भी अवध्य न समझते हुए उसका वध किया, एवं शम्बूक को भी उसकी अशास्त्रीय लोकविध्वंसकारिणी तपस्या के फलस्वरूप दण्डित किया। क्या यहां भीष्म पितामह आदि के निम्न वचनों के आधार पर श्रीरामभद्राचार्य स्त्रीहत्या को पातक बताते हुए ताड़का के वध का भी प्रसङ्ग प्रक्षिप्त बताएंगे ?

भीष्म उवाच

तदर्थं वद मे ब्रह्मन्प्रायश्चित्तं विशुद्धये। तपो वा यदि वा दानं व्रतं नियममेव वा॥

मार्कण्डेय उवाच

दशानां ब्राह्मणेन्द्राणां यद्वधे पातकं स्मृतम् तत्पापं स्त्रीवधे कृत्स्नं जायते भरतर्षभ॥

(स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय - ५७, श्लोक - १५-१६)

जैमिनीयन्यायमाला के धर्मप्रमाणपरीक्षाधिकरण में कहते हैं - वेदार्थस्य प्रधानत्त्वात्प्रथमं तत्परीक्ष्यताम्। इसी कारण से मैंने ऋग्वेद के दो मन्त्रों से नीलकण्ठभाष्य सहित सीतात्याग और शम्बूकवध का प्रमाण दिया। स्मृत्यधिकरण में कहते हैं - वैदिकैः स्मर्यमाणत्वात्सम्भाव्या वेदमूलता। अतः मैंने वेदमूलक मत का प्रतिपादन करने वाली कात्यायनस्मृति से स्वर्णमयी सीता के द्वारा श्रीरामजी के यज्ञकृत्य का प्रमाण दिया। फिर हिरण्यकेशिसूत्रों के आधार पर प्रतिनिधित्वसम्बन्धी शङ्का का निवारण किया। कल्पसूत्राधिकरण में आगे स्पष्ट किया कि धर्मसम्मत बोध कराने के कारण वेदों के ही समान कल्पग्रन्थों एवं स्मृतियों का भी प्रामाण्य है -

अपौरुषेयाः कल्पाद्याः कृत्रिमा वा न कृत्रिमाः।
श्रुतिस्मृत्योर्धर्मबुद्धेः स्वतो मात्वं यतः समम्॥

भगवान् गौतम कहते हैं - प्रमाणतस्सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः (न्यायसूत्र - २/१/१७)। अतः मैंने उत्तरकाण्ड को सिद्ध करने हेतु उत्तरकाण्ड से बाहर के अनेकानेक पुराणों, संहिताओं एवं आप्त आचार्यजनों के ग्रन्थों का आश्रय लेकर आपकी शङ्का का समाधान किया है। किन्तु आपने क्या किया ? आपने तो सीधे सीधे कह दिया कि आप पुराणों एवं संहिताओं को प्रमाण मानते ही नहीं हैं और इस प्रकार से सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधासिद्धिः (न्यायसूत्र - २/१/१३) की आशंका के अनुसार अन्ततः आगे आपने स्वयं के ही द्वारा अनेकों बार प्रमाणरूप से प्रस्तुत वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्डस्थ द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ सर्ग को भी प्रक्षिप्त घोषित कर दिया। श्रीसम्प्रदाय के ही सर्वमान्य श्रीवचनभूषणकार वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीहासपुराणैः सूत्र कहते हैं, व्याख्याकार उसके अन्तर्गत लिखते हैं -

वेदवेदान्ततत्त्वार्थो निश्चेतव्यो मनीषिभिः। स्मृतीतिहासवाक्येन पुराणवचनेन च॥

बुद्धिमानों के द्वारा वेद एवं वेदान्त के अर्थ स्मृति, इतिहास एवं पुराणों के वचनों के द्वारा

निश्चित किए जाने चाहिए। पुनः आगे श्रीवचनभूषणकार स्पष्ट करते हैं -

प्रायेण पूर्वभागार्थपूरणं धर्मशास्त्रतः। इतिहासपुराणाभ्यां वेदान्तार्थः प्रकाश्यते॥

पुनः नवें सूत्र लक्ष्म्याः प्रथमविश्लेषः स्वकृपाप्रकाशनार्थम् के अन्तर्गत कहते हैं कि लक्ष्मी (सीताजी) का श्रीरामजी से प्रथम विश्लेष (वियोग) अपनी कृपा को प्रकाशित करने के निमित्त हुआ, जिसमें रावण के द्वारा हरण किए जाने पर वे लङ्का जाती हैं एवं देवताओं की स्त्रियों को रावण के बन्धन से मुक्त करने का आश्वासन देती हैं। रावण के वध के बाद उत्साह में हनुमानजी जब सीताजी को कष्ट देने वाली राक्षसियों को दण्ड देने की इच्छा करते हैं तो सीताजी अपना अपकार करने वाली राक्षसियों को भी अभयदान देती हैं, कार्यं करुणमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति। यह उनकी कृपा का प्रकाशन ही श्रीरामजी से उनके प्रथम वियोग का हेतु है।

पुनः अगले सूत्र में कहते हैं - मध्यमविश्लेषः पारतन्त्र्यप्रकाशनार्थम्। दूसरा वियोग कब हुआ ? जब सीताजी को श्रीरामजी ने गर्भावस्था में निर्वासित करके वन में भेजा - मध्यमविश्लेषो नाम निवृत्य भगवता सहायोध्यायां गर्भिणीत्वेन स्थितिसमये। इस प्रकार से वन और महल में समान रूप से मैं अपने स्वामी की आज्ञा की अनुगामिनी हूँ, इस परतन्त्रता का प्रकाशन दूसरे वियोग के समय श्रीसीताजी ने किया। और फिर तीसरा वियोग ? भगवान् से अपनी अनन्यता को दिखाने के लिए किया, ग्यारहवें सूत्र में कहते हैं - अनन्तरविश्लेषोऽनन्यार्हत्वप्रकाशनार्थम्।

तथाहि - स्वामिन्यश्वमेधं कुर्वाणे श्रीवाल्मीकिनो भगवतो नियोगेन कुशलवयोरागत्य श्रीरामायणं गायतोः .... तयोर्गानं श्रृण्वति तदा तौ जानक्याः पुत्राविति ज्ञात्वा जानकी मनसा स्मृत्वा स्वात्मसाक्षिकं शुद्धा यदि शीघ्रमेतत्सदसि श्व आगत्य प्रत्ययमुखेन स्वशुद्धिं प्रकाशयविति .... तस्यां महापरिषदि भगवत्सन्निधावागत्य सङ्कोचेन स्थितायां वाल्मीकावपीय शुद्धेति बहुमुखेन वदति, स्वयमनीयं शुद्धेत्यहमपि

जानामि महर्ष्युक्तिरेवालं तथापि लोकापवादपरिहारार्थं कश्चन प्रत्ययोऽस्मिन्सदसि कर्तव्य इति वदति ...

आदि वचनों से श्रीवचनभूषणकार ने जानकीपुत्र लवकुश के द्वारा रामायणगान, सीताजी का भूमिप्रवेश आदि सब कुछ का वर्णन किया है। मैं जब छः वर्ष की दैहिक आयु में था, गीताप्रेस की वाल्मीकीय रामायण पढ़ रहा था, उत्तरकाण्ड में एक स्थान पर ब्रैकेट में प्रक्षिप्तसर्गः लिखा मिला। मैंने अपने पिताजी से पूछा कि इसका अर्थ क्या है, पिताजी ने कहा कि किसी ने बाहर से डाल दिया। फिर मेरे मन में प्रश्न उठा कि किसने मिला दिया, और जब मिलाया तो सबों ने स्वीकार कैसे कर लिया ? इसका कोई प्रामाणिक उत्तर मुझे नहीं मिला। उस समय मैं आधुनिक शिक्षाहेतु D.A.V VedaVyas, हेहल की कक्षा प्रथम में पढ़ता था। आर्य समाजियों का है। मैंने चर्चा के मध्य सुना कि गीता के दसवें और ग्यारहवें अध्याय, जिसमें भगवान् ने विभूतियों का वर्णन करने के बाद अर्जुन को विश्वरूप दिखाया है, वह प्रक्षिप्त है।

चूंकि मुझे पूरी गीता कंठस्थ थी तो मैंने पिताजी से पूछा कि क्या गीता में भी प्रक्षिप्त अंश है ? तो पिताजी ने कहा कि नहीं, गीता में कैसे प्रक्षिप्त हो सकता है, और ऐसा कहकर उन्होंने मुझे श्रीमद्भगवद्गीता का शाङ्करभाष्य पकड़ा दिया और कहा कि इसे ध्यान से पढ़ो। वैचारिक मतभेदों के कारण कुछ समय के बाद मेरा विद्यालय भी बदल दिया गया। वस्तुतः आर्य समाजी श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं, मात्र महापुरुष मानते हैं और सगुणावतार को भी नहीं मानते, सो उन्होंने अपने मन से श्रीमद्भगवद्गीता के उन अंशों को प्रक्षिप्त घोषित कर दिया जो भगवान् श्रीकृष्ण को ईश्वर एवं ईश्वर के सगुणावतार को सिद्ध कर सकें। फिर मुझे प्रक्षिप्तवादियों का षड्यन्त्र धीरे धीरे समझ में आने लगा। यही हाल श्रीरामभद्राचार्य का भी है। अपने मन से प्रक्षिप्त घोषित करते फिरते हैं।

जब मेरा शरीर २० वर्ष का हुआ तो प्रथम बार छत्तीसगढ़ आना हुआ। वहाँ मेरे व्याख्यान के मध्य मनोज शर्मा जी ने कहा कि श्रीरामभद्राचार्य तो उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहते हैं, इस क्षेत्र में उनके बहुत से शिष्य भी हैं। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ क्योंकि पहले तो मैंने

विश्वास ही नहीं किया। फिर शर्माजी ने मुझे बताया कि श्रीरामभद्राचार्य ने बहुत पहले सीतानिर्वासन नहीं, ऐसे नाम से एक पुस्तक लिखी थी जो उन्होंने पढ़ी है। इस बात से मुझे बहुत निराशा हुई कि अब मुख्यधारा के धर्माधिकारी भी इस षड्यंत्र में सम्मिलित हो गये ? मैंने तीन वर्ष तक अन्य वरिष्ठ धर्मगुरुओं के द्वारा श्रीरामभद्राचार्य के खण्डन की प्रतीक्षा की एवं जब किसी से कोई सन्तुष्टि नहीं मिली तो मैंने सोचा कि यथामति मैं ही यह करूँगा।

स्कन्दपुराण में भगवान् कार्तिकेय के निमित्त स्तुति है - निग्रहो निग्रहाणाञ्च नेता त्वं सुरनन्दन। अतः मुझ निग्रहाचार्य ने श्रीरामभद्राचार्य के प्रक्षिप्तवाद के निग्रह हेतु निग्रहेश्वर भगवान् कार्तिकेय की शरण ग्रहण की एवं रुद्रयामलतन्त्र की विधि से गुरुपुष्य से प्रारम्भ करके अगले गुरुपुष्य तक श्मशानकाली मन्दिर में उनकी 'प्रज्ञावर्धन साधना' को पूर्ण किया। किसी दुर्भावना से नहीं, अपितु शास्त्रों के ऊपर हो रहे आघात से उनके गौरव तथा प्रामाणिकता की रक्षा हेतु मैंने लेखनी उठायी जिसके फलस्वरूप प्रथम पुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' का लेखन हुआ। उस पुस्तक के कारण मुझे श्रीरामभद्राचार्य के शिष्यों की ओर से और कई बार विदेशों से भी धमकियां मिलीं, चित्रकूट प्रशासन की भी धमकियां मिलीं और अन्ततः श्रीरामभद्राचार्य ने मेरे प्रत्युत्तर में 'सीतानिर्वासन और शम्बूकवध नहीं' नाम की पुस्तक लिखी, जिसका उत्तर मैंने इस 'मूरख हृदय न चेत' में दिया है।

श्रीरामभद्राचार्य ने स्पष्ट शास्त्रवाक्य की उपेक्षा करके उन्हें अप्रामाणिक कहा अथवा उनके शब्दों के अर्थों की अनर्गल व्याख्या की एवं उनके मत में कोई शास्त्रीयता नहीं है। इनके व्यक्तित्व में असत्य का बाहुल्य है। इनके शिष्य प्रचारित करते रहते हैं कि इन्होंने कोर्ट में मुसलमान जज और वकील को ऋग्वेद की जैमिनीय संहिता के प्रमाण से नतमस्तक कर दिया, जबकि ऐसा कोई प्रसङ्ग किसी प्रामाणिक स्रोत से वर्णित नहीं है। इन्होंने हाईकोर्ट में लिख कर दिया है कि इन्हें सभी भाषाओं का ज्ञान है, यह भी असत्य है। इनके शिष्य, बागेश्वर धाम के श्रीधीरेन्द्रशास्त्री ने तो खुले मंच से कहा है कि इन्होंने छियासी पुस्तकें लिखी हैं, जबकि श्रीरामभद्राचार्य ने अपनी पुस्तक के दूसरे ही पृष्ठ में स्वयं को २१४

पुस्तकों का लेखक बताया है। दो चार पुस्तकों की संख्या में कुछ ऊपर नीचे बात हो सकती थी किन्तु कहाँ छियासी और कहाँ २१४ ? यदि श्रीरामभद्राचार्य सही लिख रहे हैं तो बागेश्वरधाम सरकार ने अपनी सिद्धि का प्रयोग क्यों नहीं किया ? और यदि सिद्ध होने से वे सही कह रहे हैं तो श्रीरामभद्राचार्य ने झूठ क्यों लिखा ? फिर शास्त्रीजी ने खुले मंच से कहा कि श्रीरामभद्राचार्य को सरकार कुलाधिपति होने से प्रत्येक महीने डेढ़ लाख रुपये देती है, यह बात भी त्रिदण्डी संन्यासी के लिए निषिद्ध है।

१) संन्यासोपनिषत्, नारदपरिव्राजकोपनिषत् की वैदिक मर्यादा के विरुद्ध जाकर शारीरिक अनर्हता के बाद भी बिना दृढ़ वैराग्य एवं आतुरकाल के दण्डसंन्यास लिया। फिर समुद्रोल्लंघनपूर्वक विदेशगमन करके म्लेच्छजन से संसर्ग किया।
२) त्रिदण्डी संन्यासी होकर भी सरकार से वेतन ले रहे हैं, जबकि इसी कारण श्रीशंकराचार्य स्वरूपानन्दजी सरस्वती के विपक्षी श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती को न्यायालय ने अयोग्य घोषित किया था।
३) लेखनी और वक्तव्यों में शास्त्रों की प्रामाणिकता और सदर्थ की धज्जियां उड़ाने के बाद, न आचरण में और न ही वक्तव्य में धर्म का अंशमात्र होने के बाद भी, उत्तरकाण्ड की प्रामाणिकता को स्वीकार करने वाले श्रीरामानन्दाचार्य जी के सम्प्रदाय में रहते हुए उत्तरकाण्ड को पूर्णतः प्रक्षिप्त घोषित करने के बाद भी स्वयं को धर्मचक्रवर्ती और जगद्गुरु घोषित किए घूम रहे हैं।

वाल्मीकीय रामायण एवं आनन्दरामायण में जो कुत्ते और संन्यासी का प्रसङ्ग है, उसमें धर्मद्रोही आत्ममुग्ध मठाधीश संन्यासी को अगले जन्म में कुत्ते की योनि प्राप्त होती है, ऐसा वर्णन है। श्रीरामभद्राचार्य यदि ऐसी पारलौकिक दुर्गति से बचना चाहते हैं तो अनधिकृत होकर दण्ड धारण करने, संन्यासी होकर सरकार से वेतन लेने आदि के पातक के निवारण हेतु मन्दाकिनी या सरयू में त्रिदण्ड का विसर्जन करें, व्यासपीठ का परित्याग करके प्रायश्चित्त करें और विधिवत् धर्मशास्त्रों का अध्ययन करें। 'बुद्धिपूर्वा वाक्प्रकृतिर्वेदे' (वैशेषिकदर्शन) अर्थात् वेदवाणी की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है. वेदमन्त्र का अपना किया हुआ अर्थ बुद्धि के विपरीत न हो - बुद्धि में बैठने योग्य हो, कोई भी आचार्य अच्छे हैं या नहीं अथवा उनका कोई विचार, कथन या कृत्य उचित है या नहीं, इसमें किसी की अन्धभक्ति

या अन्धविरोध प्रमाण नहीं है। तन्त्रवार्त्तिक में कहा गया है–

नैव तेषां सदाचारनिमित्ता शिष्टता मता। साक्षाद्विहितकारित्वाच्छिष्टत्वे सति तद्वचः॥
प्रत्यक्षवेदविहितधर्मक्रियया हि लब्धशिष्टत्वव्यपदेशा यत्परम्पराप्राप्तमन्यदपि
धर्मबुद्ध्या कुर्वन्ति तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव।

"सदाचारी" होने से लोग "शिष्ट" नहीं कहलाते, अपितु केवल इसलिए शिष्ट कहलाते हैं क्योंकि वे सदा ही शास्त्रों के आदेशानुसार कर्म करते पाये जाते हैं। प्रत्यक्ष श्रुतियों द्वारा विहित रीति से धर्म करने से ही व्यक्ति शिष्ट के रूप में जाना जाता है। ऐसे लोगों ने इस प्रकार "शिष्ट" की उपाधि प्राप्त कर ली हो, तो वे धर्मबुद्धि से जो भी परम्पराप्राप्त आचरण करते हैं, फिर भले ही उस विषय में प्रत्यक्ष वेदवाक्य उपलब्ध न हों, उन कर्मों को स्वर्गसाधन व धर्मरूप माना जाता है।

यो हि स्थापयितुं शक्तो न कुर्यान्मोहतो नरः।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः॥
यः स्वविद्याभिमानेन वेदमार्गप्रवर्तकम्।
छलजायादिभिर्जीयात् स महापातकी भवेत्॥
(स्कन्दपुराण, सूतसंहिता, ज्ञानयोगखण्ड, अध्याय २०, श्लोक – ५५-५६)

जो वैदिक धर्म की स्थापना में सक्षम होते हुए भी मोह के कारण स्थापना के लिए प्रयत्न नहीं करता, उसका वध करने वाले को पाप नहीं लगता, यह वेद का निर्णीत सिद्धान्त है, अर्थात् इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है। जो अपनी विद्या के अभिमान में चूर होकर वेदमार्ग के प्रवर्तक को (वैदिक धर्मानुयायी को) छल, जाति आदि द्वारा वाद विवाद में हराता है, वह महापातकी होता है। महाभारत में भी कहते हैं -

प्रमाणान्यतिवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः। कामलोभानुगो मूढो नरकं प्रतिपद्यते॥
(महाभारत, वनपर्व)

आजकल के तथाकथित विद्वानों को इसके अतिरिक्त कुछ नहीं आता है, वे शास्त्रार्थ के नाम पर छल आदि ही जानते हैं। अपने अशास्त्रीय, अन्यायपूर्ण अथवा दोषपूर्ण मत की सिद्धि के लिए भी वे छलपूर्वक शब्दों के अर्थ बदलते हैं, व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि का दुरुपयोग करते हैं, क्लिष्ट भाषा से डराने का प्रयास करते हैं। अपने तथाकथित पाण्डित्य से सत्य या न्यायपूर्ण बात को दबाने का प्रयास करते हैं। सरल लोगों का अपमान करते हैं। इस विषय में मैं इतना ही कहना चाहूँगा -

मर्यादास्थितिरक्षणाय धरणीपुत्री वनं प्रस्थिता
वर्णाचारविशोधनाय कदनं शम्बूकनाम्नः कृतम्।
पौराणे खलु नास्ति भक्तिरिति या वागुच्यते दुर्जनै -
स्तेषां किं गुरुतल्पगर्भहननैर्किं ब्रह्महत्यादिभिः ॥०१॥
शास्त्रे नास्ति दृढा मतिः करुणया नास्त्याप्लुतं चिन्तनं
दम्भेनाहमिति प्रसारविभवाकाङ्क्षी मदान्धः पुमान्।
स्वात्मानं जगतो गुरुस्तकिलधीर्यो मन्यते पांशुल -
स्तस्मै वापि पुराणनिन्दनमतेऽहं कामये सद्गतिम्॥०२॥
प्रतिष्ठाधनपाखण्डदम्भाहङ्कारसंयुतम्। जगदेव गुरुर्यस्य वन्देऽहं तं जगद्गुरुम्॥०३॥
अकोविदश्चानृतवागयं बालः स्तनन्धयः।
कुगिरामसतीमेतां न भवान् वक्तुमर्हति॥०४॥
विक्षिप्तचित्त आक्रान्तो यस्मात् प्रक्षिप्तवादवान्।
स्वयमेव प्रमाणं वै मत्वा मुह्यति भूरिशः॥०५॥
बुद्धिबुद्ध्या निग्रहोऽहं पूर्वेषामपि पूर्वजः।
स्तनन्धयो देहबुद्ध्या किं ममागस्तु कथ्यताम्॥०६॥
किन्तु वैचित्र्यवैचित्र्यं भवान् देहवरिष्ठवान्।
शास्त्रवाक्यं न जानाति बुद्धिबुद्ध्या स्तनन्धयः॥०७॥
गीतापयो यथाश्नाति पार्थो वत्सस्वरूपधृक्।
स्तनन्धयतनुर्भूत्वा भुञ्जे गीतामृतं महत्॥०८॥

खण्डनं यन्मयोक्तं तन्न द्वेषान्न च मत्सरात्।
केवलं लोकशिक्षार्थं विभ्रमाज्ञानसूदनम् ॥०९॥
शास्त्रप्रामाण्यरक्षार्थं निग्रहोऽहं भुवि स्थितः।
साधूनां मङ्गलं भूयाच्छन्तनोतु सदाशिवः ॥१०॥

मर्यादा की स्थिति की रक्षा के लिए पृथ्वी की पुत्री (सीता) वन में निर्गत की गयीं। वर्णाश्रम के आचार की शुद्धि हेतु ही शम्बूक नाम वाले का वध किया गया। पुराणों में मेरी आस्था नहीं है, ऐसी वाणी जिन दुर्जनों के द्वारा कही जाती है, उनके लिए गुरुपत्नीगमन, गर्भपात और ब्रह्महत्या आदि से भी क्या ? (अर्थात् बिना इन पापों को किये ही उन्हें ये पातक लग गये)। शास्त्र में जिसकी मति दृढ़ नहीं है, जिनका चित्त करुणा से भरा हुआ नहीं है, दम्भ के कारण "मैं-मैं" ऐसे प्रचार और धन का जो व्यक्ति आकांक्षी एवं मदान्ध हो गया है, जो गर्हितकर्मा स्वयं को जगद्गुरु मान रहा है, वह धूर्त बुद्धि वाला है, हे पुराणों की निन्दा करने वाली मति से युक्त ! मैं उस व्यक्ति के लिए भी सद्गति की कामना करता हूँ। प्रतिष्ठा, धन, पाखण्ड, दम्भ और अहंकार से युक्त संसार ही जिनका गुरु है, ऐसे जगद्गुरु की मैं वन्दना करता हूँ।

"यह दुधमुंहा बालक मूर्ख एवं असत्यवादी है", इस प्रकार की अनुचित वाणी को आप नहीं बोल सकते क्योंकि प्रक्षिप्तवाद के कारण आपका चित्त विक्षिप्त हो गया है जिसके कारण आप स्वयं की वाणी को ही प्रमाण मानकर मोहित हो रहे हैं। मैं निग्रहाचार्य बुद्धि की दृष्टि से पूर्वजों का भी पूर्वज हूँ किन्तु यदि शरीर की दृष्टि से दुधमुंहा रह गया तो इसमें मेरा क्या अपराध है, आप बताएं ? किन्तु विचित्र से भी विचित्र बात तो यह है कि शरीर से वरिष्ठ होकर भी शास्त्रवाक्य को न जानकर आप तो बुद्धि की दृष्टि से दुधमुंहे रह गये ! जैसे वत्सरूपी पृथापुत्र अर्जुन गीतारूपी दुग्ध का पान करते हैं, वैसे ही मैं भी दुधमुंहे शरीर वाला होकर महान् गीतामृत का उपभोग करता हूँ। मेरे द्वारा आपका यह जो भ्रम और अज्ञान का नाशक खण्डन किया गया है, यह किसी द्वेष या ईर्ष्या से नहीं, अपितु केवल संसार को शिक्षा प्रदान करने के निमित्त किया गया है। शास्त्रप्रामाण्य की रक्षा के लिए ही मैं निग्रहाचार्य पृथ्वी पर स्थित हूँ। साधुओं का मङ्गल हो एवं भगवान् सदाशिव कल्याण

का विस्तार करें। समयानुसार प्राप्त होने वाली अस्वस्थता के बाद भी, श्रीरामभद्राचार्य की अपेक्षा संसाधनों से हीन होकर भी मात्र शास्त्रों और पूर्वाचार्यों के प्रति अखण्डित निष्ठा के कारण मैंने शास्त्रप्रेम के वशीभूत होकर ही यह खण्डन लिखा है, इसमें कोई निजी द्वेष या ईर्ष्या का कथमपि स्थान नहीं है। यदि कोई इसके बाद भी उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त कहता है तो मैं आचार्य भर्तृहरि के शब्दों में ही कहूंगा कि मूर्ख की कोई औषधि नहीं है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं -

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गौर्गर्दभः।
व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥

अग्नि को जल से शान्त कर सकते हैं, धूप से बचने के लिए छाता लगा सकते हैं, बड़े हाथी को अंकुश से एवं उन्मत्त पशुओं को लाठी से सीधे मार्ग पर ला सकते हैं। विष एवं रोगों को विभिन्न औषधि तथा मन्त्रों से ठीक कर सकते हैं, इस प्रकार सभी का उपाय शास्त्र में बताया गया है किन्तु मूर्ख व्यक्ति को सुधारने की कोई औषधि नहीं है।
गोस्वामीजी ने भी लिखा - मूरख हृदय न चेत जों गुरु मिलई बिरंचि सम।

श्रीरामभद्राचार्य को ईश्वरकृपा से जो अद्भुत मेधाशक्ति प्राप्त है, वह निःसन्देह दुर्लभ एवं सराहनीय है। उनके द्वारा सञ्चालित शिक्षा, चिकित्सा आदि के प्रकल्पों से जनसामान्य को बहुत लाभ है। उनकी कवित्वशक्ति उच्चस्तरीय है और उन्होंने बहुत विषयों में समयानुसार धर्मसम्मत वक्तव्य दिए भी हैं, एतदर्थ वे सम्मान के पात्र हैं। किन्तु जितने अंशों में उनका सिद्धान्त धर्मशास्त्रों के स्पष्ट विरुद्ध जाकर सनातन की हानि करेगा, उतने अंशों में किसी न किसी को निमित्त बनाकर ईश्वर शास्त्रप्रमाण की रक्षा करेंगे ही। सूर्यगीता के मार्तण्डभाष्य की भूमिका में मैंने अपने स्वप्न का वर्णन करते हुए श्रीदेवी के प्रति कही हुए मेरी उक्ति को लिखा है कि कोई भी पूर्णतया निर्दोष या गुणहीन नहीं होता है, गुण एवं दोष कर्मप्रारब्ध के आधार पर सबों में समन्वित रहते हैं -

नास्ति लोके जनः कोऽपि निर्दोषो निर्गुणस्तथा।
कर्मप्रारब्धजन्यानां गुणदोषौ समन्वितौ॥

मैं उन सभी धर्मशास्त्रों का, ऋषि-महर्षियों का, देवशक्तियों का, पूर्वाचार्यों एवं गुरुजनों का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझे शास्त्ररक्षा हेतु चुनकर मेरे हृदय में अनधीत शास्त्रों का भी रहस्य स्वतः प्रकाशित कर दिया। मैं अपने सभी समर्थकों और सुहृदों का भी याचितायाचित सहयोग के निमित्त कृतज्ञ हूँ। पूर्वपक्षी बनकर श्रीरामभद्राचार्य ने प्रक्षिप्तवादियों का पक्ष रखते हुए मुझे शास्त्रवादियों की ओर से शास्त्रप्रामाण्य के संरक्षण का निमित्त बनने का अवसर दिया, एतदर्थ मैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हूँ। दुर्जनों के साथ मित्रता से अधिक उत्तम सज्जनों के साथ किया गया विरोध होता है - समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। मेरा निष्कर्ष यही है कि उत्तरकाण्डसमेत हमारे अन्य भी सब श्रुतिमूलक शास्त्र, जिनका उल्लेख और अनुसरण मान्य पूर्वाचार्यों ने किसी भी सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया है वे असन्दिग्ध रूप से प्रामाणिक हैं। अन्त में मैं बस इतना ही कहूँगा -

ये ध्यानेन हि दुष्कृतोऽम्बुनिघसैस्स्पर्शेन वा शुच्यतः
शास्त्राणाञ्च सदर्थबोधकरणेऽब्धौ नौरिव प्राजकौ।
विष्णोश्चित्तगतेऽमरार्चनगतेऽज्ञानान्धकान्निर्गते
ते नित्यं मम मूर्ध्नि सन्निवसतां श्रीवैष्णवानां पदे॥

जो अपने ध्यान से अथवा चरणोदक के पान से अथवा स्पर्शमात्र से पाप करने वालों को शुद्ध कर देते हैं, शास्त्रों के उचित अर्थ का बोध कराने में जो समुद्र में नौका के समान लक्ष्य तक पहुंचाने वाले हैं, श्रीहरि के चित्त में जो वास करते हैं, देवताओं के द्वारा जिनकी पूजा होती है, अज्ञान के अन्धकार से जो बाहर निकल चुके हैं, श्रीवैष्णवों के ऐसे चरणकमल मेरे मस्तक पर सदैव निवास करें।

। सीतापतिर्जयति भूपतिचक्रवर्ती।
। वन्दे निग्रहकारिणीम्।

मूरख हृदय न चेत – परिशिष्ट

जब मैं श्रीरामभद्राचार्य के अशास्त्रीय सिद्धान्तों का खण्डन करता हूँ तो कुछ लोग आकर कहते हैं कि सन्तों की निन्दा नहीं करनी चाहिए, समाज में एकता भङ्ग कर रहे हैं, आदि आदि। किन्तु जब श्रीरामभद्राचार्य अन्य मान्य धर्माधिकारियों एवं पूर्वाचार्यों को अपशब्द कहते हैं और सबों को मूर्ख समझते हुए शास्त्रों की मञ्च से अनर्गल व्याख्या करते हैं तो ये एकतावादी उन्हें कुछ कहने का साहस नहीं कर पाते। मैंने श्रीरामभद्राचार्य का एक वीडियो देखा, जिसमें उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के वस्त्रहरण की कुछ अलग ही अनर्गलप्रलापतुल्य कथित व्याख्या की है। उन्होंने हमारे श्रीधरस्वामी, वल्लभाचार्य जी आदि को "अशिक्षित गधा" कहा है, भागवत के टीकाकारों को मूर्ख सिद्ध करने का कुप्रयास स्वयम्भू जगद्गुरु ने किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों को "बहन" सम्बोधित किया, ऐसा भी इनकी धर्मविरुद्ध बुद्धि का कहना है।

श्रीरामानन्दाचार्य रामभद्राचार्य का कुतर्क

सामान्य व्यक्ति भी जानता है कि जब हम पवित्र नदी में स्नान करने जाते हैं, तब वस्त्र उतार कर नंगे नहीं नहाते। वस्त्र पहनकर ही नहाते हैं। स्नान के पश्चात पहनने वाले वस्त्र तट पर रख देते हैं। इसी प्रकार गोपियाँ जब स्नान करने आईं, तो वे रात वाले वस्त्र तो पहनी हुई थीं, बिना वस्त्र पहने यमुना जी में नहीं नहा रही थीं। स्नान के बाद पहनने वाले वस्त्रों को उन्होंने तट पर रख दिया था, उन्हीं सूखे वस्त्रों को भगवान् उठाकर ले गए थे।

भगवान् सूखे वस्त्रों को क्यों ले गए ? इसलिए क्योंकि उस समय कंस का आतंक था। पूरा भारतवर्ष आतंकवाद से लड़ रहा था। भगवान् कृष्ण भी भूमिगत थे। भगवान् ने सोचा ये छोटी छोटी बच्चियाँ आईं हैं नहाने, ये अपने किसी भाई या पिता को नहीं लाई हैं, तो इनको ये ज्ञान नहीं कि यहाँ खतरा होगा, ऐसी स्थिति में भले ही सूखे वस्त्र हों, परन्तु एक भी लड़की का सूखा वस्त्र यदि किसी आतंकवादी ने छू लिया, तो भारतीय संस्कृति का

बहुत बड़ा अपमान हो जायेगा। इसलिए भगवान् ने कहा, "बहनों ! भले तुम अपने भाइयों को नहीं लाई हो, मैं ब्रज के राजा नन्द का बेटा हूँ। मेरा कर्त्तव्य हो जाता है तुम्हारी रक्षा करना। जब तक मेरे शरीर में खून की एक भी बूँद रहेगी, तब तक तुम्हारे कपड़ों को आतंकवादी नहीं छू सकता।"

इस सन्दर्भ को भागवत के टीकाकारों ने या परवर्ती कवियों ने क्यों नहीं देखा, मुझे समझ नहीं आ रहा है। केवल सनातन धर्म को बदनाम करने की साजिश रची गई। किसी भी परिस्थिति में गोपियों का चीरहरण नहीं सिद्ध हो पाता। यह केवल हमारे सनातन धर्म के साथ खिलवाड़ किया गया। जिससे हिन्दू धर्म बिखर जाए। जब हिन्दू धर्म को चंगेज खान की कटार नहीं बिखरा पाई। अकबर की मीना बाजार जब नहीं बिखरा पाई। बाबर की तलवार औरंगजेब की तलवार जब हिन्दू धर्म को खण्डित नहीं कर पाई, तो इन अशिक्षित गधों के दुष्प्रचार से हिन्दू धर्म थोड़े ही बिखर जाएगा।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा खण्डन

"जब तक मेरे शरीर में खून की एक भी बूँद रहेगी, तब तक तुम्हारे कपड़ों को आतंकवादी नहीं छू सकता।", ऐसा भगवान् श्रीकृष्ण ने कब कहाँ कह दिया, इसका बोध तो स्वयं उन्हें भी नहीं होगा। श्रीरामभद्राचार्य की यह उक्ति एक तो किसी भी शास्त्र के प्रमाण से सिद्ध है नहीं, दूसरे इसे सुनकर ऐसा लगता है मानो यह किसी घिसी पिटी फ़िल्म का सम्वाद हो। श्रीरामभद्राचार्य अपनी कही हुई बातों का शब्दप्रमाण कभी देते नहीं और उल्टे सभी शास्त्रों को अप्रमाण मानकर काल्पनिक धारणाश्रित भ्रम का विस्तार करते रहते हैं। उन्होंने जो किया, उसे कहते हैं ,श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना। मतलब जो शास्त्र में लिखा है, उसे तो त्याग दो और जो कहीं है ही नहीं है, उसे कल्पित करके प्रलाप करो। चार्वाक भी अन्नमय कोष की प्रतिपादक श्रुतियों में अपने मत की कल्पना करते हैं, परन्तु इतना नीचे तो वे भी नहीं गिरते कि जिसका लेश भी न हो, उसे भी घुसा दें। श्रीरामभद्राचार्य का स्तर चार्वाकों से भी हीन है।

श्रीरामभद्राचार्य को पता है कि आजकल कई लोग शास्त्र तो देखते नहीं हैं। जैसा कह दो, वैसा मान लेंगे और एक बार जो मन में बैठ जाता है, उसके लिए लोग उसके विरुद्ध प्रमाणों को मिलावट बोलकर अपने अज्ञान को और अधिक पुष्ट करते रहते हैं। आप सोचिए, कि जो बात श्रीमद्भागवत के उस अध्याय में चमकते सूर्य के समान स्पष्ट ही शब्दों में लिखी है, उसे यह व्यक्ति नकारने का दुःसाहस कैसे कर पा रहा है।

पहले श्रीरामभद्राचार्य के बताए श्लोक पर ही बात करते हैं। इन्होंने "तासां वासांस्युपादाय" तक बोल दिया, ताकि लोग समझ लें कि बहुत बड़े विद्वान् ने संस्कृत में प्रमाण दिया है।

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥

"श्रीकृष्ण अकेले ही उन गोपियों के सारे वस्त्र उठाकर फुर्ती से एक कदम्ब के वृक्ष पर चढ़ गये। सभी बालक हँसने लगे और श्रीकृष्ण गोपियों से परिहासपूर्वक बोले।" अब ये बताइये, आतंकवादी से बचाने वाले लोग इस प्रकार हँसते और परिहास करते हैं क्या?

गोपियाँ बिना वस्त्र के ही नहा रही थीं, यह तो "रामः गच्छति" की भांति एकदम सीधे शब्दों में उसी अध्याय में कहा है। श्रद्धा होती तो वे अवश्य ही पढ़ते –

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत् तदु देवहेलनम्।
बद्धाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसःकृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्॥
इत्यच्युतेनाभिहितं व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग्यतः॥

श्रीकृष्ण बोले, तुमने जो व्रत लिया था, उसे अच्छी तरह निभाया है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु वस्त्रहीन होकर तुमने जल में स्नान किया है, इससे तो देवता का अपराध हुआ है। अतः अब इस दोष की निवृत्ति के लिये तुम अपने हाथ जोड़कर सिरसे लगाओ और उन्हें

झुककर प्रणाम करो, तदनन्तर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ। भगवान् श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर उन व्रजकुमारियों ने ऐसा ही समझा कि वास्तव में वस्त्रहीन होकर स्नान करने से हमारे व्रत में त्रुटि आ गयी।

"विवस्त्रा" का क्या अर्थ है? वस्त्रहीन ही ना? या अब आप इसमें भी दुर्व्याकरण लगाकर "विशिष्ट वस्त्र" अर्थ करेंगे? फिर आगे "देवहेलनम्" अर्थात् देवता का अपराध लिखा है। "व्रतच्युतिम्" अर्थात् दोष के कारण व्रत से च्युत होना।

आगे कहा है कि वे अपने दोनों हाथों से योनि को छिपाकर यमुना जी से बाहर निकलीं–

ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः॥

"पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य", गोपियों ने हाथों से योनि को ढंका। अब कह दो कि यह भी मिलावट है। उसी अध्याय में यह भी देखें–

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥

यहाँ लिखा है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों के वस्त्रों का अपरहण कर लिया, फिर भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं। श्रीरामभद्राचार्य ने कहा कि चीरहरण नहीं हुआ, तो फिर– "वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुम्" में अपहृतानि शब्द कहाँ से आ गया ? वहाँ तो रक्षा के अर्थ में कोई शब्द होना चाहिए। अपहरण अर्थात् चोरी का वाचक शब्द क्यों है?

हेऽज्ञानबुद्धे ! पहले आप उस अध्याय का नाम ही तो ठीक से पढ़ें। उसकी पुष्पिका में ही कहा है कि इस अध्याय का नाम गोपीवस्त्रापहार है, यानी गोपियों के वस्त्रों का अपहार। अपहार अर्थात् अपहरण, चोरी, अपचय –

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे
गोपीवस्त्रापहारो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥

पाठकों ! आप इनके मानसिक प्रक्षिप्तविक्षिप्तता का दर्शन करें। इनका कहना है कि श्रीकृष्ण ने गोपियों को "बहनों" सम्बोधित किया। लोकप्रसिद्ध है कि गोपियों और श्रीकृष्ण में बहन भाई का सम्बन्ध नहीं, अपितु पत्नी पति जैसा सम्बन्ध था। जिस उद्देश्य से गोपियाँ स्नान करने गई थीं, यही इस अज्ञ को पता नहीं है और चला है टीकाकारों की निन्दा करने। उस अध्याय के प्रारम्भ में ही लिखा है –

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥

हे कात्यायनी ! हे महामाया ! हे महायोगिनी ! हे स्वामिनी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को हमारा पति बना दीजिये। देवि ! हम आपके लिए नमस्कार करती हैं। इस मन्त्र का जप करती हुई वे कुमारियाँ देवी की आराधना करती थीं।

आगे कहते हैं कि योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कृष्ण को गोपियों की कामना का ज्ञान था और वे उन गोपियों के उस कर्म की सिद्धि के लिए वहाँ गए –

भगवान् तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः। वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥

भगवान् को गोपियाँ पति के रूप में चाहती हैं और भगवान् गोपियों को स्वयं को पति के रूप में देना चाहते हैं। परन्तु श्रीरामभद्राचार्य कहते हैं कि "बहनों" सम्बोधन करके भगवान् ने गोपियों की आतंकवादियों से रक्षा की, क्योंकि गोपियाँ बिना भाइयों के ही नहाने चली गईं। म्लेच्छदेश अमेरिका जाकर ये बहन और पत्नी में भेद ही भूल गये हैं क्या?

"भगवान् ने सोचा, एक भी लड़की का सूखा वस्त्र यदि किसी आतंकवादी ने छू लिया, तो भारतीय संस्कृति का बहुत बड़ा अपमान हो जायेगा।" ऐसा कहने वाले इन अज्ञाग्रगण्य को क्या यह पता नहीं कि भगवान् नवजात शिशु थे, तभी असुरों का संहार कर दिया, तो फिर वे ऐसा क्यों सोचेंगे ? यदि वहाँ कोई असुर होगा, तो क्या वे उसे नहीं मार देते ? और इस श्रीरामभद्राचार्य के कल्पित भगवान् को इतने वर्षों में केवल उस वाले मार्गशीर्ष मास में ही क्यों वस्त्रों की रक्षा की याद आयी, वह भी केवल उन गोपियों के लिए ? अन्य समय और अन्य लोगों के लिए क्या कंस का आतंक नहीं था ? फिर तो भगवान् तो सबके सूखे वस्त्र इसी प्रकार पेड़ पर रखने चाहिए थे। प्रतिदिन वस्त्रों की रक्षा करनी थी। उन गोपियों के वस्त्रों को भी प्रतिदिन रख लेना था रक्षा के लिए। एक ही दिन ऐसा क्यों किया ?

"इस सन्दर्भ को भागवत के टीकाकारों ने या परवर्ती कवियों ने क्यों नहीं देखा, मुझे समझ नहीं आ रहा है।" जो किसी भी शास्त्र में है ही नहीं, उसका भी सन्दर्भ देख लेने का सामर्थ्य तो आप जैसे दिव्यदृष्टि वाले में ही है। अभाव में भी भाव की कल्पना आप जैसे महामति ही कर सकते हैं। यदि आपको समझ ही आ जाता, तो आप पहले तो अपना त्रिदण्ड विसर्जित करके अपने इस छद्मतापस वेष का त्याग करके आरूढ़ पतित जैसे जीवन व्यतीत करते, जप, कीर्तन, पूजन आदि करते हुए। कुमारी सुरतं यथा (हेवज्रतन्त्र) के अनुसार आप भी धर्म का रहस्य उतना ही जानते हैं, जितना कुमारी रतिसुख को।

टीकाकारों का नाम भी बोल देते, ताकि लोग समझ लेते कि किनकी बात कर रहे हो। शंकराचार्य परम्परा से महान् संन्यासी श्रीधरस्वामी जी और भगवान् वैश्वानर के अवतार श्री वल्लभाचार्य जी ने भी टीका की है। श्रीरामभद्राचार्य के अनुसार तो ये दोनों अनपढ़ गधे थे, जो हिन्दू धर्म को बदनाम करना चाहते थे, इसीलिए इन्होंने अपनी टीका में वस्त्रहरण की बात लिखी है। इतना गिरा हुआ व्यवहार पूर्वाचार्यों के प्रति ! धिक्कार है !

श्रीवीरराघवाचार्य जी भागवतचन्द्रचन्द्रिका में भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति लिखते हैं -
धृतव्रताः सत्यो विवस्त्रा यूयमपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत्तदेतद्देवहेलनयुत

अपराध इत्यर्थः। फिर आगे कहा - अङ्गनाः एकेन वामेन पाणिना योनिमाच्छाद्य इतरेण पाणिना नेमुः। फिर आगे कहा - विवस्त्रस्नानप्रयुक्तां व्रतच्युतिं व्रतभ्रंशं मत्वा।

इसी वृत्तान्त और भाव को पूर्वकालिक श्रीजीवगोस्वामीजी वैष्णवतोषिणी में लिखते हैं, श्रीसनातनगोस्वामीजी बृहद्वैष्णवतोषिणी में लिखते हैं, श्रीनाथचक्रवर्ती की चैतन्यमतमञ्जूषा एवं श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती की सारार्थदर्शिनी आदि में भी यही भाव उल्लिखित है। पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य में पाणिका अर्थ कन्धे से हाथ तक और योनि का अर्थ हृदय करना भी अनर्थ ही है। जिस अवस्था में गोपबालिकाएँ व्रत कर रही थीं, उस अवस्था में स्तनों का पूर्ण विकास नहीं होता है। और कोई नग्न व्यक्ति गुप्तांग को न ढहकर हृदय ढके, यह अव्यावहारिक बात है। श्रीवंशीधरीभावार्थदीपिकाप्रकाश का मत है - योनिं स्मरमन्दिरम्। अतः यहाँ योनि का अर्थ गुह्यभाग ही होगा। विवस्त्रा का अर्थ विशिष्टवस्त्रा न होकर निर्वस्त्रा ही होगा क्योंकि विशिष्टवस्त्रा को व्रतभङ्ग का दोष लगेगा ही नहीं। देवापराध तो निर्वस्त्र स्नान करने वाले को ही लगता है, अतः श्रीमाधवसेवा में विवस्त्राप्लवनम् का अर्थ स्पष्ट - नग्नस्नानम्, ऐसा बताया है। यूयं विवस्त्राः का अर्थ स्पष्ट - निर्वसनाः बताया, न कि विशिष्टवसनाः। पाणि का अर्थ भी कन्धे से अंगुली तक नहीं, अपितु मणिबन्ध (जहाँ कलावा या रक्षासूत्र बांधते हैं) से अंगुली पर्यन्त होता है - स च मणिबन्धावध्यङ्गुलिपर्य्यन्तभागः (शब्दकल्पद्रुम)।

अब यदि सदा की भांति श्रीरामभद्राचार्य यह कहें कि यह सब मेरी प्रमाणकोटि में नहीं आते, मैं तो बस वेदों को ही प्रमाण मानता हूँ तो आप वेदों से ही प्रमाण ग्रहण करें -

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदीद्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुसी सहस्त्राक्षरा परमे व्योमन्॥
(ऋ. २.३.२२ / १.१६४.४१)

इस मन्त्र की व्याख्या में आचार्य नीलकण्ठ चतुर्धर मन्त्रभागवतम् के श्रीवृन्दावनकाण्ड में लिखते हैं -

सम्प्रति वयः सन्धिगतस्य भगवतो गोपीविनोदादिरनुग्रह उच्यते। गौरीरित्यादिना। पूर्वमन्त्रे ऋचो अक्षरे इत्यत्राक्षरत्वेनोक्तः सहस्राक्षरा वाक्देवता रूपाः परमे व्योमन् तीरतरोरुच्चप्रदेशे स्थित्या गौरीः पतिम्वराः कन्यामिमाय निनिन्देत्यर्थः। कथम्। सलिलानि तक्षती त्वं यदि बभूवुषी असि तर्हि एकपदीत्यादि नवपदी भवत्यन्तम्। जात्यभिप्रायेणैकवचनान्तम्। अयमर्थः। यतः नग्नीभूय तीर्थजलानि स्पृशन्ती स्त्री तीर्थशक्तिं क्षिणोतीति यूयं च सर्वास्तथाभूताः स्वापराधजेन दोषेणाभिभूतास्थः। यदि च तत्परिहारेण भवतीनामैश्वर्येच्छास्ति तर्हि नग्ना एव सत्यः एकपद्यो भवत एकं पदं बहिरागच्छतेत्यर्थः। तथा कृतेषु पुनर्द्विपदीभवेत्याह। एवं नवपदीत्यन्तमुक्ते तास्तंवचनमलङ्घ्यतन्तस्तथैव कृत्या वस्त्राणि परिदधुः उपबृंहणे तु व्योमस्थत्वं वस्त्राणि हरत एव उक्तम्। अतो तु नवपद्यनन्तरं वस्त्राणि ददावित्यपि योज्यम्॥

सरल शब्दों में इसका हिन्दी अनुवाद है - सम्प्रति वयः सन्धिगत भगवान् श्रीकृष्ण के गोपीविनोदादि अनुग्रह का विषय विवृत हो रहा है। पूर्व मन्त्र में "ऋचो अक्षरे" जो अभिहित हैं, वह अक्षर रूप में उक्त "सहस्राक्षरा" वाक्देवतारूप श्रीकृष्ण "परमे व्योमन्" यमुना तीरवर्त्ति कदम्ब तरु के उच्चप्रदेश में अवस्थित होकर "गौरी:" पतिकामनापरा गोपाङ्गनागण की "मिमाय" कहकर निन्दा करने लगे, तुम सब ने "सलिलानि तक्षती" नग्नावस्था में तीर्थजल स्पर्श करके अच्छा नहीं किया, कारण कि (विवस्त्रा) स्त्रीगण तीर्थ शक्ति को क्षीण करती हैं। सुतरां तुम सब यह गर्हित कर्म करके "बुभूवुसी" निज निज अपराध से दोषी बन गई हो। यदि उक्त दोष परिहार के निमित्त ईश्वर के निकट तुम सबकी इच्छा हो, तब उस नग्नावस्था में तुम सब "एकपदी द्विपदी चतुष्पदी अष्टपदी नवपदी भवतः" जल से बाहर किनारे की ओर एक एक कदम से आ जाओ। व्रजाङ्गनागणों के उस प्रकार करने पर उन्होंने पुनः कहा - , "द्विपदा" दो पद से आओ। इस प्रकार नौ कदम आने के लिए कहने पर उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के वाक्य को बिना नकारे उस भाव से वहाँ पर जाकर वृक्षस्थित निज निज वस्त्र को ग्रहण कर धारण किया।

यहाँ ध्यान देंगे कि कुमारिका का अर्थ जो तीन-चार वर्ष की बच्ची लगाया जा रहा है, वह

भी अनुचित है क्योंकि न तो तीन चार वर्ष की बच्चियां बिना वयस्क जनों के नदी में प्रातःकाल स्वतन्त्र स्नान करने जाती हैं, न पतिकामा होकर व्रत आदि करने लगती हैं। श्रीमद्भागवत में आये कुमारिका शब्द और मन्त्रभागवत में आये गौरी शब्द की संगति शाक्तमत से हो जायेगी - अष्टवर्षा भवेद्गौरी। कुमारियों में आठ वर्ष की कुमारी को गौरी कहते हैं। यदि यह कहें कि इस प्रकार तो श्रीकृष्ण की अपेक्षा उनकी आयु एक दो वर्ष अधिक हो जाती है तो पतिकामा कैसे हुईं ? इसका उत्तर कुमारिकाओं के नामकरण में अन्य शाक्तमत से दे सकते हैं - षड्वर्षा च उमा भवेत्। छः वर्ष की कुमारी को उमा कहते हैं, उमा तथा गौरी समानार्थी हैं। छः अथवा आठ वर्ष की कुमारियाँ स्वतन्त्र स्नानमात्र हेतु आज भी वन्य अथवा ग्रामीण क्षेत्रों में नदी जाती हैं, कुछ पीढी पूर्व तक पति सम्बन्धी व्रत भी करती थीं एवं उनका विवाह भी हो जाता था।

अतः श्रीरामभद्राचार्य का यह कथन कि गोपियाँ वस्त्रपूर्वक स्नान कर रही थीं, भगवान् ने उन्हें बहन कहा और आतंकवादियों से रक्षा की, सभी टीकाकार अशिक्षित गधे थे, यह सब विशुद्धतम स्तर का प्रलाप है, जो सर्वथा परम्परा के विरुद्ध है, सत्य के विरुद्ध है और मात्र कुछ अलग अर्थ बताकर प्रशंसा प्राप्त करने की लोकैषणा में श्रीरामभद्राचार्य के द्वारा कहा गया सर्वथा अप्रामाणिक एवं निन्दनीय है।

श्रीरामभद्राचार्य अब टीकाकारों के नाम पर सफेद झूठ बोलकर लोगों को छलने का काम भी करने लगे हैं। उनके ग्रन्थ में लिखे पूर्वपक्ष को सिद्धान्त के रूप में दर्शाकर अनभिज्ञ जनता को ठग रहे हैं।इन्होने अपनी पुस्तक में लिखा है –

"भगवान् राम कहते हैं – "अश्वमेध की दीक्षा में मेरी प्रतिनिधि रूप स्वर्णमयी पत्नी को लेकर भरत आगे चलें।" इस वाक्यपर स्वयं तिलककार को आपत्ति है। तिलकटीका में स्वयं तिलककार कहते हैं कि पत्नी स्वयं यजमान है तब वह पति की प्रतिनिधि कैसे बनेगी? कथञ्चित् बने भी तो वर्णमयी प्रतिमा तो बन ही नहीं सकती। वस्तुतस्तु नैषां स्वर्ण(म)यी प्रतिमा प्रतिनिधिः (वा० रा० ति० टी०) स्वर्णमयी प्रतिमा इन यजमान की प्रतिनिधि नहीं बन सकती।"

यहाँ ये ऐसा दिखाना चाहते हैं कि 'तिलक' टीकाकार को इस प्रसंग से आपत्ति है और इसलिए उत्तरकाण्ड की यह कथा पूर्व के आचार्यों के मत में भी गड़बड़ है, अतः उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। जबकि यह एकदम झूठ है। वहाँ तिलक टीकाकार ने पूर्वपक्ष उठाकर खण्डन किया है उस आपत्ति का, स्वयं आपत्ति नहीं की है। श्रीरामभद्राचार्य टीकाकारों के नाम से सफेद झूठ फैला रहे हैं। पूर्वपक्ष को सिद्धान्त के रूप में कहने वाले ये व्यक्ति कल को हमारे दर्शनशास्त्रों से नास्तिकों के पूर्वपक्ष उठाकर सनातन धर्म के विरुद्ध, वेदों के विरुद्ध, ईश्वर के विरुद्ध ही विषवमन करेंगे और कहेंगे कि यह तो शास्त्र में ही लिखा है।

रामभद्राचार्य को अपना नाम छलाचार्य रख लेना चाहिए। जनता को अतिमूर्ख मानकर वे कितनी धूल झोंक रहे हैं, यह एक बार फिर से आप देखिए। वे खण्डन में लिखते हैं–

"इस रामायण के नायक हैं भगवान् राम और नायक के जन्म का वृत्तान्त महर्षि वाल्मीकि ने बालकाण्ड के १८वें सर्ग में लगभग १०-१५ छन्दों में ही गाया। तो नायक के जन्म की कथा तो १० या १५ छन्दों में गायी जाए और खलनायक के जन्म की कथा ३६ सर्गों में कही जाए, यह कहाँ तक उचित है? ऐसा क्यों? इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है. महर्षि वाल्मीकि का नहीं है।" आप देखिए, कितनी चालाकी ये असत्य बोलकर इन्होंने यह स्थापित करने की कुचेष्टा की है कि श्रीराम के जन्म की कथा की तुलना में रावण के "जन्म" की कथा बहुत अधिक मात्रा में ३६ सर्गों में है। कुछ भी बक दो, लोग कौन सा देखने जा रहे हैं। वे तो आकाश-पुष्प को भी सच मान लें।

सत्य यह है कि उत्तरकाण्ड के जिन प्रारम्भिक ३६ सर्गों की बात हो रही है, उनमें रावण के केवल "जन्म" की कथा नहीं है और न ही केवल "रावण" की कथा है। रावण के जन्म की कथा तो उसमें भी एक सर्ग में ही है, ३६ सर्गों में नहीं। श्रीराम के ११००० वर्षों की तुलना में रावण आदि का जीवनकाल लाखों वर्षों का है। उस पूरे चरित्र का वर्णन ३६ सर्गों में होना न्यायसम्मत ही है। उन ३६ सर्गों में पुलस्त्य जी से लेकर इन्द्रजित् तक रावण के पितृपक्ष, मातृपक्ष आदि के सभी मुख्य लोगों का इतिहास है। रावण आदि का लाखों वर्षों का जीवनचरित है। हनुमान् जी, कुबेर जी आदि के जन्म, तपस्या और बाललीलाओं

आदि की कथा है। रावण आदि द्वारा लड़े गए अनेक युद्धों और उनके अत्याचारों की कथा है। इतने विविध विषयों से युक्त ३६ सर्गों को केवल "खलनायक के जन्म की कथा" कहकर उसे श्रीरामजन्म के १०-१५ श्लोकों की तुलना में बहुत अधिक बताना इनका छल ही है। उत्तरकाण्ड की अनुक्रमणिका देखकर स्वयं जान जाएँगे कि उन ३६ सर्गों में क्या क्या है। श्रीरामभद्राचार्य का कहना है कि विवस्त्रा का अर्थ विशिष्टवस्त्रा ही है, निर्वस्त्रा नहीं। अगर गोपियाँ नग्नस्नान कर रही थीं तो वेदव्यास जी ने निर्वस्त्रा क्यों नहीं लिखा ? इन्हें यह नहीं पता कि विवस्त्रा शब्द का अर्थ श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य आदि सभी मान्य प्रकाण्ड टीकाकारों ने निर्वस्त्रवाचक ही मानकर लिखा है। दूसरी बात, किसी भी मान्य शास्त्र में विवस्त्रा शब्द का प्रयोग मुझे तो विशिष्टवस्त्रा के रूप में नहीं मिला है, न किसी ने ऐसा उल्टा अर्थ किया है। हां, नग्नस्नान ही अर्थ है, इसका प्रमाण मैंने गर्गसंहिता और ब्रह्मवैवर्तपुराण से भी दे दिया है। तीसरी बात, यदि वेदव्यास जी निर्वस्त्रा ही लिख देते तो भी यहाँ वि के स्थान पर निर् गुरु हो जाता और छन्दोभंग होता, फिर यही कहते कि वेदव्यास जी ने छन्दोभंग कैसे कर दिया, इसीलिए निर्वस्त्रा भी प्रक्षिप्त है। चौथी बात, कल को विकृत शब्द को भी ये विशिष्टकृत बताएंगे, विधर्मी को भी विशिष्टधर्मी बताएंगे क्योंकि मानसिकता ही ऐसी है। पांचवीं बात, पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य में योनि का अर्थ हृदय करने वाला ये क्यों नहीं सोचते कि वेदव्यास जी को हृदय ही लिखना था तो पाणिभ्यां वक्ष आच्छाद्य लिख देते, योनिमाच्छाद्य क्यों लिखा। जिस सम्प्रदाय के जगद्गुरु बने घूमते हैं, उसका ही भाष्य ठीक से नहीं पढ़ा क्योंकि आनन्दभाष्य में ही उत्तरकाण्ड के श्लोक सन्दर्भित हैं। जिस अध्यात्म रामायण पर पीएचडी करते हैं, उसे भी ठीक से नहीं पढा क्योंकि उसी में स्पष्ट वृक्ष की ओट से वालि पर श्रीरामजी द्वारा बाणप्रहार का उल्लेख है और लक्ष्मण जी के शेषावतार होने की बात है। जिन तुलसीदास जी के नाम पर पीठ बनाकर बैठे हैं, उन्होंने ही रामचरितमानस में लक्ष्मण जी को अनेकों बार शेषावतार कहा है, यह भी नहीं जानते और धौंस ऐसी है कि ऋग्वेद से लेकर हनुमान चालीसा तक उसके कण्ठ में ही हैं। यदि ग्रन्थ में अमुक बात नहीं लिखी तो बोलेंगे कि अमुक बात है ही नहीं, होती तो अवश्य वर्णन मिलता, इसीलिए यह बात सत्य नहीं। यदि ग्रन्थ में वह बात लिखी दिखा दो तो भी उसे मानेंगे नहीं। तब कहेंगे कि यह बाद में किसी ने मिलावट कर दी, प्रक्षिप्त कर दिया, हम नहीं मानते। मतलब नहीं लिखा है तो क्यों नहीं लिखा, इसीलिए नहीं मानेंगे, और लिखा है तो बाद में किसी ने मिलावट कर दी, ऐसा कहकर नहीं मानेंगे।

कुल मिलाकर लिखा हो या नहीं, मानना इन्हें है ही नहीं। अमुक व्यक्ति बहुत ज्ञानी है, इतना पढा है, ये सब पर मत जाओ। वह धर्मशास्त्र और उनके सिद्धान्त पर कितना आस्थान्वित है, यह देखो। लङ्का के राक्षस भी सांगोपांग वेदपाठी थे। हनुमानजी ने स्वयं सुना।

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
(वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग - १८, श्लोक - ०२)

पिशाचाः प्रायशो राम ब्रह्मराक्षसनामिनः।
वेदमन्त्रस्य वेत्तारो दृश्यन्ते न पुराणवित्॥
(पद्मपुराण, पातालखण्ड, अध्याय - ११५, श्लोक - ४६)

भगवान् शिव कहते हैं - श्रीराम ! ब्रह्मराक्षससंज्ञक पिशाच भी वेदज्ञ होते हैं, ऐसा दिखता है किन्तु वे पुराण नहीं जानते। आजकल भी कुछ ऐसे ही ब्रह्मराक्षस हो गए हैं जो वेदमन्त्रों को बदलने और पुराणों को अप्रामाणिक होने की बात कहते हैं।

इस प्रकरण के एक स्वतन्त्र पाठक का प्रश्न

प्रश्नकर्ता - आदरणीय गुरुदेव जी ! सादर प्रणाम। मन में बहुत दिनों से एक शंका व्याप्त है। मेरी धर्मपत्नी श्रीरामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड का पाठ करते समय "ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥" इस चौपाई को छोड़ देती है। उसका मानना है कि यह चौपाई स्त्रियों के ऊपर अत्याचार करने कहती है। मैंने जब इस चौपाई के अर्थ को जानने हेतु विद्वानों की शरण ग्रहण की, साथ ही गूगल, यूट्यूब में भी जो अनेकों लेख और वीडियो मिले, उससे मेरे मन में बहुत संशय हो गया है। मैंने विद्वानों की संगति एवं इंटरनेट आदि के माध्यम से जो जाना है, उसके अनुसार कुछ निम्न दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुए हैं।

१) मुझे गूगल के कई लेखों के माध्यम से यह ज्ञात हुआ कि कुछ महानुभावों का मानना

है कि यह चौपाई ही अशुद्ध है। तुलसीदास जी ने ऐसा कुछ लिखा ही नहीं। मूल चौपाई में "सूद्र पसु नारी" नहीं है, अपितु "क्षुब्ध पसु रारी' है।

२) दूसरा मत उन लोगों का है, जिसमें वे कहते हैं कि चौपाई तो सही है, "सूद्र पसु नारी" ही मूलतः शुद्ध है, किन्तु यहां 'नारी' शब्द का अर्थ नर-नारी वाला स्त्रीपरक न होकर 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' आदि के आधार पर नार का जलपरक अर्थ लेते हुए, नारी(न्) का अर्थ समुद्र है। प्रकरण में समुद्र का ही ताडन हुआ है, इसीलिए जिसमें नार अर्थात् जल हो, वह नारी(न्), अर्थात् समुद्र है, स्त्री नहीं। स्त्रीपरक अर्थ करने वाले लोग मूर्ख हैं।

३) तीसरा मत कुछ अन्य विद्वानों का है, जो यह मानते हैं कि चौपाई शुद्ध है, "सूद्र पसु नारी" ही सही है, और नारी का अर्थ समुद्र न होकर स्त्री ही है। किन्तु यह वाक्य स्वयं समुद्र ने भयातुर होकर श्रीरामजी से कहा है, अतएव यह उसका निजी मत है। जैसे रावण ने भी बहुत सी बातें कही हैं, तो उसकी बातों को शास्त्रवाक्य नहीं मान सकते। ऐसे ही समुद्र की कही यह बात भयाक्रान्त होकर उसके मुख से निकला निजी मत है, कोई शास्त्रवाक्य नहीं।

४) चौथा मत उन लोगों का है, जो यह मानते हैं कि चौपाई शुद्ध है, "सूद्र पसु नारी" ही सही है, नारी का अर्थ समुद्र न होकर स्त्री ही है, साथ ही समुद्र के द्वारा कथित यह उक्ति उसका निजी मत न होकर शास्त्रवाक्य के रूप में ग्राह्य भी है किन्तु यहाँ 'ताड़ना' शब्द का अर्थ 'मारना' नहीं है, अपितु 'देखना/निरीक्षण करना' है। जैसे बहुत सी क्षेत्रीय भाषाओं में 'ताड़ना' - 'देखना' समानार्थक है, तो गोस्वामीजी ने ग्राम्य शैली का प्रयोग किया है।

इस प्रकार से सभी श्रेष्ठ जनों के द्वारा एक ही विषय पर इतने विरोधाभासी दृष्टिकोण समाज में भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं, इस सन्दर्भ में आप अपने विचारों से मेरा मार्गदर्शन करें ताकि मैं अपने परिवार और समाज में बढ़ती हुई कुबुद्धि के विरुद्ध कुछ कर सकूँ। कृपया मेरा नाम सार्वजनिक न करें, जैसा कि मैं बता चुका हूँ कि मेरे घर में ही लोग इस विषय में द्वेषपूर्ण बुद्धि रखते हैं। पुनः सादर प्रणाम।

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु के द्वारा समाधान

सनातन धर्म के अनुयायियों के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि अब वे प्रसङ्ग और शास्त्र के अनुसार नहीं, अपितु परिस्थितियों के अनुसार अर्थ करने लगे हैं। अब देखिए न, यदि इस देश में आधुनिक नारीवादी और वामपंथी नहीं होते तो इतने अर्थ भी नहीं होते। भला किसी ढोल ने कभी कहा कि मुझे मत पीटो ? किसी पशु ने भी आकर कोई शिकायत नहीं की कि मुझे मर मारो अन्यथा मैं अभियोग कर दूंगा। साथ ही कोई व्यक्ति स्वयं यह भी आकर नहीं कहेगा कि देखो, मैं हूँ गंवार। और गंवारों को मारने की जो बात तुलसीदास जी ने लिखी है, वो सर्वथा गलत है। हम गंवार लोग इसका विरोध करते हैं।

यदि कल को कोई ढोल, पशु या स्वयं को गंवार महासभा का नेता बताने वाला व्यक्ति आ जाये या ऐसा कोई कानून बन जाये तो इस चौपाई में ढोल, गंवार और पशु शब्द के भी अनेकानेक अर्थ विद्वज्जन केवल इसी भय से निकाल देंगे कि कहीं वे प्रशासन के हत्थे न चढ़ जायें। जब तक इस देश में वामपंथी और नारीवादियों के समर्थक कानून नहीं थे, तब तक जो सामान्य अर्थ है, वही सब करते थे। कानून और संस्थाओं के सामने आते ही सभी लोग "सेफ ज़ोन" वाले अर्थों की मध्यममार्गी व्याख्या करने लगे।

सबसे पहले हम बात करेंगे आपके द्वारा प्रस्तुत चौथे मत की, जिसमें कहा गया कि सब सही है किन्तु ताड़ना का अर्थ 'देखना' है। यह व्याख्या प्रथम 'ढोल' से खण्डित हो जाती है, क्योंकि ढोल को देखते रहने मात्र से उसकी कोई उपयोगिता नहीं होगी। ढोल की सार्थकता 'विधिपूर्वक' ताड़न (पीटने) में ही है, न कि देखते रहने में। उसके बाद जो लोग यह कहते हैं कि चौपाई अशुद्ध है, वहाँ 'सूद्र पसु नारी' नहीं, अपितु 'क्षुब्ध पसु रारी' है, उन्हें और उनकी विद्वत्ता को मैं दूर से ही प्रणाम करता हूँ। ऐसे लोग समयानुसार अपनी सुविधा के अनुसार और विद्वदजीर्ण के प्रभाव में शास्त्रीय वाक्यों को प्रामाणिक-प्रक्षिप्त, शुद्ध-अशुद्ध कहते रहते हैं। यह तो वही बात हुई कि पिता के ऊपर चोरी का झूठा आरोप लगने पर उसका भयाक्रान्त पुत्र, उस आरोप का सप्रमाण खण्डन करने के स्थान पर यह कहने लगे कि 'मैं इस व्यक्ति को नहीं जानता, यह मेरा पिता है ही नहीं, मैं तो टोरंट से

डाउनलोड हुआ था।'

जो लोग यह कहते हैं कि सभी बातें ठीक हैं किन्तु यह समुद्र का निजी मत है, उसे शास्त्रवाक्य नहीं मान सकते, इनकी महानता को भी मैं प्रणाम करता हूँ। देखिए, समुद्रदेव एवं भगवान् श्रीरामजी के मध्य हुए इस संवाद को हमने और आपने तो प्रत्यक्ष देखा नहीं। सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्। शास्त्र ही सबके नेत्र हैं, उन्हीं शास्त्रों में वर्णित कथानक के माध्यम से देखा। भला हो ऐसे लोगों का, जो यह कह सकते थे कि समुद्र ने ऐसा कुछ कहा ही नहीं था, वो तो तुलसीदास जी ने अपने मन से अपना 'निजी मत' जोड़ दिया। किन्तु इनकी उदारता तो देखिए कि तुलसीदास जी की वकालत करने के फेर में इन्होंने तुलसीदास जी को मात्र कथा लेखक की भूमिका में रखते हुए समुद्रदेव को ही भ्रान्तचित्त बताकर उनके वचन को अप्रामाणिक कह दिया। वैसे भी समुद्र तो इनसे आकर लड़ेंगे नहीं।

अब हम बात करते हैं उस मत की, जो यह मानता है कि सब सही है किन्तु नारी शब्द का अर्थ स्त्री नहीं है, अपितु स्वयं 'नार' अर्थात् जल को धारण करने वाला समुद्र है। हम एक साथ इस मत और समुद्र के कथन को अप्रामाणिक मानने वाले मत की समीक्षा करेंगे। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया कि उन्होंने अपने मन से कुछ जोड़ कर नहीं लिखा है, जो लिखा है वह विभिन्न पुराण, वेद, आगम, अन्य रामायण तथा ग्रन्थों से समर्थित विषयवस्तु के आधार पर ही लिखा है। तो यह प्रस्तुत चौपाई, जो समुद्रदेव ने कही और गोस्वामीजी ने वर्णित की, इसका आधार क्या है ?

सनातन धर्म में आचार की बड़ी प्रधानता है। महाभारत में कहते हैं - आचारप्रभवो धर्मः। धर्म का उद्भव आचार से है। यह भी कहते हैं - आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः। आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं करते। शुभाशुभ कर्म तथा उनके परलोक में भोगोपभोग के विषय में जानने हेतु सनातन धर्म में गरुडपुराण की बड़ी महत्ता है। प्रस्तुत चौपाई का आधार गरुडपुराण के आचारकाण्ड में प्राप्त होता है -

दुर्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताडिता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारभाजनम्॥
(गरुडपुराण, आचारकाण्ड, अध्याय - १०९, श्लोक - ३१)

उपर्युक्त श्लोक में स्पष्ट कहते हैं - जो दुर्जन शिल्पी (कारीगर), दास हैं, ढोल आदि वाद्ययन्त्र हैं और दुष्टा स्त्रियाँ हैं, ये ताड़ना से मृदुता को प्राप्त करते हैं, अतः ये सत्कार के अधिकारी नहीं हैं। (यह सामान्य शब्दार्थ है, विवक्षया आगे बतायेंगे) अब इसी श्लोक का भाव समुद्रदेव ने भी कहा है, जिसे गोस्वामीजी ने लिपिबद्ध किया है। यहाँ तो नारी शब्द का अर्थ समुद्र भी नहीं लगा सकते क्योंकि विशेषतः स्त्री शब्द आ चुका है, तो सिद्ध होता है कि उस प्रसङ्ग में नारी का अर्थ समुद्र न लगाकर, स्त्री लगाने वाले लोग "मूर्ख नहीं हैं।" अब स्त्रियों को ताडित करने की बात क्यों है, इसके लिए इसी अध्याय में श्लोक ३८-३९ में सिद्धान्त बताया है। वहाँ नदी और नारी की तुलना की गयी है। जल तो नदी में भी होता ही है, किन्तु वहाँ अलग से नदी और नारी कहा, नारी का अर्थ वहाँ भी स्त्री ही है। कहते हैं -

नद्यश्च नार्यश्च समस्वभावाः स्वतन्त्रभावे गमनादिके च।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः॥
नदी पातयते कूलं नारी पातयते कुलम्।
नारीणाञ्च नदीनाञ्च स्वच्छन्दा ललिता गतिः॥

यदि बिल्कुल स्वतन्त्र (बिना नियन्त्रण के) छोड़ दिया जाये तो गमन के सन्दर्भ में नदी और नारी का स्वभाव एक ही होता है। अनियन्त्रित स्वभाव वाली नदी अपने जल से किनारों को डुबा देती है तो अनियन्त्रित स्त्री अपने दोषों से कुल को डुबा देती है। ध्यातव्य है कि स्त्री का नियन्त्रण करने का अर्थ उसे बांधकर रखना नहीं है। माता, पिता, गुरुजन अपने आचरणों से आदर्श प्रस्तुत करते हुए अपनी कन्या को श्रेष्ठ संस्कार दें, वही उसके लिये मर्यादा और नियन्त्रण का कार्य करता है। अब यहाँ जो ताडन शब्द आया है, उसे भोजपुरी, अवधी आदि ग्राम्यभाषा में 'देखने' के अर्थ में भी नहीं ले सकते क्योंकि एक तो

श्लोक संस्कृत का है, दूसरे पटह (ढोल) को मात्र आंखों से देखने में उसकी क्या उपयोगिता ? बृहद्विष्णुस्मृति में ताडन का उद्देश्य और विधि स्पष्ट की गयी है।

शास्यं शासनार्थं ताडयेत्। तं वेणुदलेन रज्ज्वा वा पृष्ठे।
(बृहद्विष्णुस्मृति, अध्याय - ७१, सूत्र - ८१-८२)

अर्थात्, जो शासन करने योग्य हैं (आपके अधीनस्थ लोग), उनपर शासन करने हेतु उनकी ताडना करे। (कैसे करे ?) पीठ पर बांस की छड़ी अथवा रस्सी से ताडित करे। तो ताडना शब्द का जो अर्थ 'देखना' लगा रहे हैं, वह निरस्त हो गया। ये तो हुई नारी की बात। अब शूद्र की भी बात करते हैं। शिल्पी और दास शब्द से उस श्लोक में शूद्र का परिलक्षण होता है क्योंकि शिल्पकर्म (कारीगरी) और दासकर्म (नौकरी) शूद्रधर्म के अन्तर्गत व्यवस्थित है। ध्यान रहे, दास और दासकर्म का अर्थ वो Slavery नहीं है, जो अमेरिका, अरब और अफ्रीका में होती थी। भारतीय समाज के सन्दर्भ में दासप्रथा और दास शब्द का जो अर्थ और इतिहास है, उसका विस्तृत वर्णन मैंने अपनी पुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' के प्रथम भाग में किया है। उस विषय के लेख को मेरी पुस्तक 'अमृत वचन' में भी पढ़ा जा सकता है। महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं -

कारुकर्म च नाट्यं च प्रायशो नीचयोनिषु। तयोरपि यथायोगं न्यायतः कर्मवेतनम्॥

कारीगरी और अभिनय, यह प्रायः निम्न योनि वाले (शूद्रवर्ण) लोग करते हैं। उनको भी यथायोग्य (परिश्रम के अनुसार) न्यायोचित वेतन दिया जाना चाहिए।

व्याख्यातः शूद्रधर्मोऽपि जीविका कारुकर्म च।
तद्वद्द्विजातिशुश्रूषा पोषणं क्रयविक्रयौ॥
(मार्कण्डेय पुराण, अध्याय - २८)

शूद्रधर्म भी बताया जाता है। उनकी आजीविका कारीगरी, द्विजातियों की नौकरी एवं खरीद-बिक्री (व्यापार) से बतायी गयी है।

शुश्रूषैव द्विजातीनां शूद्राणां धर्मसाधनम्। कारुकर्म तथाजीवः पाकयज्ञादि धर्मतः॥
(कूर्मपुराण, पूर्वभाग, अध्याय - ०२)

शूद्रों के धर्म की सिद्धि एवं आजीविका द्विजातियों की सेवा, कारीगरी एवं धर्मपूर्वक पाकयज्ञ आदि के माध्यम से होती है।

सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति दिवानिशम्।
एवं ते विहिता देवि लोकयात्रा स्वयम्भुवा॥
तथैव शूद्रा विहिताः सर्वधर्मप्रसाधकाः। शूद्राश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते॥
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः।
ब्राह्मणादिषु शुश्रूषा दासधर्म इति स्मृतः॥
वार्ता च कारुकर्माणि शिल्पं नाट्यं तथैव च।
अहिंसकः शुभाचारो देवताद्विजवन्दकः॥
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः स्वधर्मेणोपपद्यते। एवमादि तथान्यच्च शूद्रधर्म इति स्मृतः॥
(महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय - २०८, श्लोक - ३२-३६)

भगवान् शिव कहते हैं - हे देवि ! तीनों वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) का 'अपनी शक्ति के अनुसार' दिन-रात सेवा करना ही, शूद्रवर्ण के लिए ब्रह्मदेव ने आजीविका निश्चित की है। (मैंने दासप्रथा से सम्बन्धित अपने लेख में सिद्ध किया है कि यह सेवा कोई गुलामी नहीं, अपितु वैतनिक नौकरी थी, जैसा कि आजकल सभी नौकरी के पीछे भाग रहे हैं) अतएव शूद्रों को सबों के धर्मों का साधक बताया गया है, क्योंकि यदि शूद्र न होते तो कोई कर्मचारी भी नहीं होता। पूर्व के तीनों (द्विजाति) शूद्र के आश्रय से ही कर्म करने वाले कहे गये हैं, ब्राह्मण आदि की शुश्रूषा को ही दासधर्म कहा गया है।

खेती, कारीगरी, शिल्प, अभिनय आदि, हिंसावृत्ति का त्याग, शुभ आचरण, देवता तथा ब्राह्मणों की वन्दना, यही सब कर्म शूद्रों का धर्म है, इसीलिए उसका धर्म उसके अपने कर्म से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रारम्भ (ब्राह्मण) और अन्य (क्षत्रिय और वैश्य के साथ) शूद्रों का धर्म बताया गया है। अब प्रश्न उठता है कि क्या जब ताडन का अर्थ मारना है, और गरुडपुराण के श्लोक एवं श्रीरामचरितमानस की चौपाई में शूद्र तथा स्त्री का वर्णन भी है तो क्या उन्हें मारते पीटते रहना चाहिए ? तो उत्तर है, बिल्कुल नहीं। यह विधि केवल दुर्जन शूद्र एवं दुष्टा स्त्री हेतु है, निर्दोष हेतु नहीं।

निर्दोषं ताडयेत्पश्चान्मोहात्पापेन केनचित्।
स पापी पापमाप्नोति निर्दोषस्य शरीरजम्॥
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय - ३३, श्लोक - १२)

जो व्यक्ति किसी मोह या पापबुद्धि के कारण किसी निर्दोष को ताडित करता (मारता पीटता) है, वह पापी उस निर्दोष के शरीर में जितने पाप हैं, उन्हें ग्रहण कर लेता है। किसी को पीड़ा न पहुंचाये। हां, अपने पुत्र और शिष्य को मार सकते हैं।

न कुर्यात्कस्यचित्पीडां सुतं शिष्यं तु ताडयेत्।
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय - ५५)

लेकिन पुत्र और शिष्य को भी अकारण ही नहीं मारना चाहिए, अपितु उनका अपराध होने पर उचित मार्ग की शिक्षा देने हेतु ही ऐसा करना चाहिए। महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं - अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम्। भविष्यपुराण के उत्तरपर्व में कहते हैं कि शिक्षा देने के अतिरिक्त प्रसङ्ग में शिष्य और पुत्र को नहीं मारना चाहिए - नान्यत्र पुत्रशिष्याभ्यां शिक्षया ताडनं स्मृतम्।

यदि शिल्पी, दास (शूद्र) निर्दोष हो तो उसे कदापि नहीं मारना चाहिए, किन्तु यदि दोषी हो तो ? उस समय कहा -

कर्मारम्भं तु यः कृत्वा सिद्धं नैव तु कारयेत् ।
बलात्कारयितव्योऽसौ अकुर्वन्दण्डमर्हति ॥
(बृहत्कात्यायनस्मृति, श्लोक - ६५७)

जो कारीगर एक बार कार्य प्रारम्भ करके उसे बिना पूरा किए छोड़ देता है, उससे वह कार्य बलपूर्वक पूरा करवाना चाहिए, न करने पर उसे दण्डित करना चाहिए। आज भी आप देखते होंगे, बहुत से कारीगर, ठेकेदार आदि निजी या सरकारी कार्यों में खूब आलस्य एवं प्रमाद करके अपने नियोक्ता का काम बिगाड़ देते हैं। ऐसी स्थिति हेतु ही दण्ड की बात आयी है। वह दण्ड कैसा हो ? वहीं श्लोक - ९६३ में कहते हैं -

ताडनं बन्धनञ्चैव तथैव च विडम्बनम्। एष दण्डो हि दासस्य नार्थदण्डो विधीयते॥

उसे ताडित करे (मारे), कैद में डाल दे, उसे व्याकुल कर दे। दासों का यही सब दण्ड बताया गया है, उसके लिए आर्थिक दण्ड नहीं है (क्योंकि वे धन से अधिक समृद्ध नहीं होते) शूद्र के अतिरिक्त अन्य जन वही पाप करें तो शूद्र से दुगुना वैश्य, उससे दुगुना क्षत्रिय और उससे दुगुना ब्राह्मण को दण्ड मिलता है। हां, शूद्र के लिये संन्यास लेकर जप, होम आदि करना निषिद्ध है, अन्यथा उसे मृत्युदण्ड मिलता है, अथवा दुगुना जुर्माना लगता है। वह अपने वर्णोचित कर्म को करना हुआ पुराणागमोक्त विधि से त्यागात्मक भाव वाले पाकयज्ञ आदि का आश्रय ले सकता है, उसी से उसके धर्म की वृद्धि होती है।

येन दोषेण शूद्रस्य दण्डो भवति धर्मतः।
तेन चेत्क्षत्रविप्राणां द्विगुणो द्विगुणो भवेत्॥
प्रव्रज्यावसितं शूद्रं जपहोमपरायणम्।
वधेन शासयेत्पापं दण्ड्यो वा द्विगुणं दमम्॥
(बृहत्कात्यायनस्मृति, श्लोक - ४८५-४८६)

इसीलिए शम्बूक का वध श्रीरामजी ने किया था। शम्बूक के वध का पूरा विस्तृत प्रसङ्ग और शास्त्रीय रहस्य समझने के लिए मेरी पुस्तक "उत्तरकाण्ड प्रसङ्ग एवं संन्यासाधिकार विमर्श" का अध्ययन कर सकते हैं। निर्दोष के प्रति द्वेषपूर्वक ताडन करना, उसे बन्धन में डालना, उसके प्रति अपशब्दों का प्रयोग करना, दुराचार कहलाता है। वह सज्जनों का मार्ग नहीं है। श्री भरतमुनि ने उपदिष्ट किया है -

ताडनं बन्धनं चापि यो विमृश्य समाचरेत्॥ तथा परुषवाक्यश्च दुराचारः स तन्यते॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय - २२)

दुराचार करने से आयु की हानि होती है, व्यक्ति नरक जाता है। स्त्रियों के अनियन्त्रित होने से दुराचार बढ़ता है, वर्णसङ्करता फैलती है। महाभारत के अनुशासनपर्व में कहते हैं -

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलङ्घिनः।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः॥
विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं सङ्कीर्णमैथुनाः। अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः॥

जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते, स्वकर्म का परित्याग करते हैं, अपने गुरु एवं शास्त्रों की अवहेलना करते हैं, अधर्म का समर्थन करने वाले दुराचारी हैं, उनकी आयु नष्ट होती है। जो शीलरहित हैं, मर्यादा को खण्डित करने वाले हैं, नित्य (अविधिपूर्वक) सम्भोग करने वाले हैं, वे लोग आयुहीन होकर नरक में जाते हैं। आगे यह भी कहते हैं -

यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्। तादृशं विद्यते किञ्चिदनायुष्यं नृणामिह॥
यावन्तो रोमकूपाः स्युः स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः। तावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते॥

परायी स्त्री से सम्भोग करने के समान, पुरुष के लिये कोई दूसरा आयुनाशक पाप नहीं है। उस स्त्री के शरीर में जितने रोम हैं, उतने सहस्र वर्षों पर व्यभिचारी को नरक में रहना होता है।

तो भाव यह है कि व्यभिचार का दण्ड केवल पुरुष को ही नहीं, स्त्री को भी भोगना पड़ता है। स्त्री यदि अपने संस्कार और मर्यादा में दृढ़ रहे, तो कोई परपुरुष व्यभिचार नहीं कर पायेगा। यदि कदाचित् बलात्कार कर दे तो स्त्री को कोई पाप या दोष नहीं लगेगा, अपितु वह पुरुष ही घोर दण्ड का भागी होगा। किन्तु स्त्री ही दुष्टा हो जाये तो ?

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन यही चिन्ता तो व्यक्त करते हैं - स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः। हे कृष्ण ! स्त्रियों के दुष्ट हो जाने पर वर्णसङ्कर उत्पन्न होने लगते हैं। और दुष्टा स्त्रियों के लिए ताडन का विधान है, सत्कार का नहीं, यह गरुड़पुराण के आचारकाण्ड ने बताया, जो बात गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखी है। जो सज्जन हैं, निर्दोष हैं, वह शूद्र और स्त्री तो सदैव उत्तम व्यवहार के योग्य हैं, उन्हें मारने से घोर नरक जाना पड़ता है। महाराज ययाति को देवराज इन्द्र के सारथी मातलि ने बताया है कि कौन कौन से कर्म मनुष्य को नरक ले जाते हैं। विषय बहुत लंबा है, बहुत पाप हैं, प्रासङ्गिक पापों की चर्चा करते हैं -

परदाराभिगमनं साध्वीकन्याभिदूषणम्।

×××××××××

गवां क्षत्रियवैश्यानां स्त्रीशूद्राणाञ्च घातनम्।
शिवायतनवृक्षाणां पुण्यारामविनाशनम्॥

×××××××××

निर्दयोऽतीव भृत्येषु पशूनां दमकश्च यः।

×××××××××

यो भार्यापुत्रमित्राणि बालवृद्धकृशातुरान्।
भृत्यानतिथिबन्धूंश्च त्यक्त्वाश्नाति बुभुक्षितान्॥

×××××××××

साधून्विप्रान्गुरूंश्चैव यश्च गां हि प्रताडयेत्।

ये ताडयन्त्यदोषाञ्च नारीं साधुपदे स्थिताम् ॥

××××××××××

यः करोति स्वयं कर्म कारयेद्वानुमोदयेत् ।
कायेन मनसा वाचा तस्य चाधोगतिः फलम् ॥
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय- ६७)

देव मातलि कहते हैं - महाराज ययाति ! दूसरे की स्त्री से रमण करना, शुभ आचरण वाली कन्या को (बलात्कार आदि से) दूषित करना, गौ की हत्या करना, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र आदि को मारना, मन्दिर, वृक्ष, बगीचे आदि को नष्ट करना, अपने नौकरों से निर्दयतापूर्वक व्यवहार करने वाला, पशुओं को बर्बरता से मारने वाला, जो अपनी भूख से छटपटाती हुई पत्नी, पुत्र, मित्र, बालक, वृद्ध, दुर्बल, नौकर, अतिथि और अन्य बन्धुओं को बिना भोजन दिए खाता है, साधु, ब्राह्मण, गुरुजनों और गौ को प्रताड़ित करना, अच्छे आचरण वाली निर्दोष नारी (स्त्री) को ताडित करना, जो स्वयं ऐसा करता है अथवा किसी से करवाता है अथवा शरीर, मन या वाणी से समर्थन करता है, उसे नरक में अधोगति मिलती है।

इस प्रकार से निष्पक्षता एवं निर्भयता से पूरे प्रकरण का अध्ययन करने पर मैं इस निष्कर्ष पर आता हूँ कि चाहे कोई वामपंथी, नारीवादी, मध्यममार्गी धर्माधिकारी कुछ भी कहे, 'ढोल गंवार सूद्र पसु नारी। सकल ताडना के अधिकारी॥' यह चौपाई शुद्ध है, प्रामाणिक है, यहाँ नारी का अर्थ स्त्री एवं ताडना का अर्थ मारना ही है, किन्तु यह मर्यादा की रक्षा हेतु केवल दुष्ट आचरण करने वालों के सन्दर्भ में है, जो कि 'कानून-व्यवस्था' के लिए नितान्त आवश्यक है। इस चौपाई में सामान्य और सरल शासनधर्म का उपदेश है, इसकी अनावश्यक रूप से अनर्थकारिणी व्याख्या मूल शास्त्रीय आलोक को नष्ट करती है।

*_*_*

*_*_*

निवेदन

इस प्रकरण की पूर्वपुस्तक 'उत्तरकाण्ड प्रसंग एवं संन्यासाधिकार विमर्श' में प्रक्षिप्तवादियों के पक्ष से श्रीरामभद्राचार्य के कृपापात्र श्रीरामाधार शर्मा (उपाध्याय) एवं श्रीनित्यानन्द मिश्र ने लिखित शास्त्रार्थ किया था। श्रीरामभद्राचार्य के पक्ष से भी उन्होंने ही उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त घोषित करने हेतु अपना मत रखा था। उनमें मेरे पूर्वपक्षी श्रीरामाधार शर्मा (उपाध्याय) जी का परलोकगमन इस 'मूरख हृदय न चेत' पुस्तक के पूर्ण होने से पूर्व ही हो गया। अतः यह अन्तिम पृष्ठ उनके सम्मान में निवेदित किया जाता है तथा स्व० रामाधार शर्मा (उपाध्याय) जी के प्रति उत्तमोत्तम पारलौकिक गति की कामना की जाती है।

। ब्रह्मलोके महीयते।

*_*_*